…चन्द्र-दिगम्बर-जैनग्रन्थमालायां द्वाविंशतितमो ग्रन्थः।

नमः श्रीवीतरागाय।

श्रीमत्सोमदेवसूरिविरचितम्

नीतिवाक्यामृतम्

कयिदज्ञातपण्डितप्रणीतटीकोपेतम्।

संशोधकः—

श्रीमत्पण्डित पन्नालाल सोनी।

प्रकाशिका—

मा० दि० जैनग्रन्थमालासमितिः।

माघ, वीर नि० सं० २४४९।

विक्रमाब्दः १९७९।

मूल्य पादोनरूप्यकद्वयम्।

१॥)

प्रकाशक—
नाथूराम प्रेमी, मंत्री
माणिकचन्द्र-जैन ग्रन्थमाला,
हीराबाग, बम्बई।

भूमिका।

ग्रन्थ-परिचय।

श्रीमत्सोमदेवसूरिका यह 'नीतिवाक्यामृत' संस्कृत साहित्य-सागरका एक अमूल्य और अनुपम रत्न है। इसका प्रधान विषय राजनीति है। राजा और उसके राज्यशासनसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रायः सभी आवश्यक बातोंका इसमें विवेचन किया गया है। यह सारा ग्रन्थ गद्यमें है और सूत्रपद्धतिसे लिखा गया है। इसकी प्रतिपादनशैली बहुत ही सुन्दर, प्रभावशालिनी और गंभीरतापूर्ण है। बहुत बड़ी बातको एक छोटेसे वाक्यमें कह देनेकी कलामें इसके कर्ता सिद्धहस्त हैं। जैसा कि ग्रन्थके नामसे ही प्रकट होता है, इसमें विशाल नीतिसमुद्रका मन्थन करके सारभूत अमृत संग्रह किया गया है और इसका प्रत्येक वाक्य इस बातकी साक्षी देता है। नीतिशास्त्रके विद्यार्थी इस अमृतका पान करके अवश्य ही सन्तृप्त होंगे।

यह ग्रन्थ ३२ समुद्देशोंमें * विभक्त है और प्रत्येक समुद्देशमें उसके नामके अनुसार विषय प्रतिपादित है।

प्राचीन राजनीतिक साहित्य।

राजनीति, चार पुरुषार्थोंमेंसे दूसरे अर्थपुरुषार्थके अन्तर्गत है। जो लोग यह समझते हैं कि प्राचीन भारतवासियोंने 'धर्म' और 'मोक्ष' को छोड़कर अन्य पुरुषार्थोंकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया, वे इस देशके प्राचीन साहित्यसे अपरिचित हैं। यह सच है कि पिछले समयमें इन विषयोंकी ओरसे लोग उदासीन होते गये, इनका पठन पाठन बन्द होता गया और इस कारण इनके सम्बन्धका जो साहित्य था वह धीरे धीरे नष्टप्राय होता गया। फिर भी इस बातके प्रमाण मिलते हैं कि राजनीति और विद्याओंकी भी यहाँ खूब उन्नति हुई थी और इनपर अनेकानेक ग्रन्थ लिखे गये थे।

---

* 'समुद्देशश्च संक्षेपाभिधानम्' —कामसूत्रटीका अ० १।

अर्थशास्त्रको संक्षिप्त करके लिखा है÷। अर्थशास्त्र प्रायः गद्यमें है; परन्तु यह श्लोक-बद्ध है। यह भी अपने ढंगका अपूर्व और प्रामाणिक ग्रन्थ है और अर्थशास्त्रको समझनेमें इससे बहुत सहायता मिलती है। इसमें भी विशालाक्ष, पुलोमा, यम आदि प्राचीन नीतिग्रन्थकर्त्ताओंके मतोंका उल्लेख है।

कामन्दकके नीतिसारके बाद जहाँ तक हम जानते हैं, यह नीतिवाक्यामृत ग्रन्थ ही ऐसा बना है, जो उक्त दोनों ग्रन्थोंकी श्रेणीमें रक्खा जा सकता है और जिसमें शुद्ध राजनीतिकी चर्चा की गई है। इसका अध्ययन भी कौटिलीय अर्थशास्त्रके समझनेमें बड़ी भारी सहायता देता है।

नीतिवाक्यामृतके कर्त्ताने भी अपने द्वितीय ग्रन्थमें गुरु, शुक्र, विशालाक्ष, भारद्वाजके नीतिशास्त्रोंका उल्लेख किया है *। मनुके भी बीसों श्लोकोंको उद्धृत किया है +। नीतिवाक्यामृतमें विष्णुगुप्त या चाणक्यका और उनके अर्थशास्त्रका उल्लेख है ×। बृहस्पति, शुक्र, भारद्वाज, आदिके अभिप्रायोंको भी उन्होंने नीतिवाक्यामृतमें संग्रह किया है जिसका स्पष्टीकरण नीतिवाक्यामृतकी इस संस्कृत

÷ देखो गुजराती प्रेस बम्बईके 'कामन्दकीय नीतिसार' की भूमिका।

* "न्यायादवसरमलभमानस्य चिरसेवकसमाजस्य विरसय इव नर्मसचिवोचयः प्रतिपन्नकामचारव्यवहारेषु स्वैरविहारेषु मम गुरुशुक्रविशालाक्षपरीक्षितपराशरभीमभीष्मभारद्वाजादिप्रणीतनीतिशास्त्रश्रवणसनाथ श्रुतपथमभजन्त।"—
यशस्तिलकचम्पू आश्वास ३, पृ० २३६

+ "दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः।
समं सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम्॥

इति कथमिदमाह वैवस्वतो मनुः।"—यशस्तिलक आ० ४, पृष्ठ १००। यह श्लोक मनुस्मृति अ० ६ का ६६ वाँ श्लोक है। इसके सिवाय यशस्तिलक आश्वास ४, पृ० ९०—९१—११६ (प्रोक्षितं भक्षयेत्), ११ (क्रीत्वा स्वयं), १२७ (सभी श्लोक), १४५ (सभी श्लोक २८७ (अधीत्य) के पद्य भी मनुस्मृतिमें ज्योंके त्यों मिलते हैं। यद्यपि वहाँ यह नहीं लिखा है कि ये मनुके हैं। 'उक्तं च' रूपमें ही दिये हैं।

× नीतिवाक्यामृत पृष्ठ० ३६ सूत्र ९, पृ० १०७ सूत्र ४, पृ० १७१ १ १८ आदि।

टीकासे होता है। स्मृतिकारोंसे भी वे अच्छी तरह परिचित मालूम होते हैं †। इससे हम कह सकते हैं कि नीतिवाक्यामृतके कर्ता पूर्वोक्त राजनीतिक साहित्यसे यथेष्ट परिचित थे। बहुत संभव है कि उनके समयमें उक्त सबका सब साहित्य नहीं तो उसका अधिकांश उपलब्ध होगा। कमसे कम पूर्वोक्त आचार्योंके ग्रन्थोंके सार या संग्रह आदि अवश्य मिलते होंगे।

इन सब बातोंसे और नीतिवाक्यामृतको अच्छी तरह पढ़नेसे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि नीतिवाक्यामृत प्राचीन नीतिसाहित्यका सारभूत अमृत है। दूसरे शब्दोंमें यह उन सबके आधारसे और कविकी विलक्षण प्रतिभासे प्रसूत हुआ संग्रह ग्रन्थ है। जिस तरह कामन्दकने चाणक्यके अर्थशास्त्रके आधारसे संक्षेपमें अपने नीतिसारका निर्माण किया है, उसी प्रकार सोमदेवसूरिने उनके समयमें जितना नीतिसाहित्य प्राप्त था उसके आधारसे यह नीतिवाक्यामृत निर्माण किया है — दोनोंमें अन्तर यह है कि नीतिसार श्लोकबद्ध है और केवल अर्थशास्त्रके आधारसे लिखा गया है, परन्तु नीतिवाक्यामृत गद्यमें है और अनेकानेक ग्रन्थोंके आधारसे निर्माण हुआ है, यद्यपि अर्थशास्त्रकी भी इसमें यथेष्ट सहायता ली गई है।

कौटिलीय अर्थशास्त्रकी भूमिकामें श्रीयुत शामशास्त्रीने लिखा है कि "अथ यशोधरमहाराजसमकालेन सोमदेवसूरिणा नीतिवाक्यामृतं नाम नीतिशास्त्रं विरचितं तदपि कामन्दकीयमिव कौटिलीयार्थशास्त्रादेव संक्षिप्य संगृहीतमिति तद्ग्रन्थपद-वाक्यशैलीपरीक्षायां निस्संशयं ज्ञायते।" अर्थात् यशोधर महाराजके समकालिक सोमदेवसूरिने जो 'नीतिवाक्यामृत' नामका ग्रन्थ लिखा है उसके पद और वाक्योंकी शैलीकी परीक्षासे यह निस्सन्देह कहा सकता है कि वह भी कामन्दकके नीति-

---

† "विप्रक्षत्रियविट्शूद्राः.."—नी० पृ० २७७ सू० २७, "श्रुते स्मृतेर्वाप्यपरे," यशस्तिलक आ० ४, पृ० १०५—"श्रुति-स्मृतीभ्यामतीव बाह्ये"—यशस्तिलक आ० ४, पृ० १११, "तथा च स्मृतिः" पृ० ११६ और "इति स्मृतिकारकीर्तितप्रमाणीकृत्य" पृ० २८७।

— यशस्तिलक आ० ४ पृ० १०० में नीतिकार भारद्वाजके षाड्गुण्य प्रस्तावके दो श्लोक और विशालाक्षके कुछ वाक्य दिये हैं। ये विशालाक्ष संभवतः वे ही नीतिकार हैं जिनका उल्लेख अर्थशास्त्र और नीतिसारमें किया गया है।

३—पुरोहितमुदितोदितकुलशीलं षडङ्गे वेदे दैवे निमित्ते दण्डनीत्यां च अभिविनीतमापदां दैवमानुषीणां अथर्वभिरुपायैश्च प्रतिकर्तारं कुर्वीत। —अर्थ० पृ० १५–१६।

पुरोहितमुदितकुलशीलं षडंगवेदे दैवे निमित्ते दण्डनीत्यामभिविनीतमापदां दैवीनां मानुषीणां च प्रतिकर्तारं कुर्वीत। —नीति० पृ० १५९।

४—परमर्मज्ञः प्रगल्भः छात्रः कापटिकः।—अर्थ पृ० १८।

परमर्मज्ञः प्रगल्भः छात्रः कापटिकः।—नी० पृ० १७३।

५—श्रूयते हि शुकसारिकाभिः मन्त्रो भिन्नः श्वभिरन्यैश्च तिर्यग्योनिभिः। तस्मान्मन्त्रो द्देशमनायुक्तो नोपगच्छेत्।

—अर्थ० पृ० २६।

अनायुक्तो न मन्त्रकाले तिष्ठेत्। श्रूयते हि शुकसारिकाभ्यामन्यैश्च तिर्यग्भिर्मन्त्रभेदः कृतः। —नीति० पृ० ११८।

६—द्वादशवर्षा स्त्री प्राप्तव्यवहारा भवति। षोडशवर्षः पुमान्।

—अर्थ० १५४।

द्वादशवर्षा स्त्री षोडशवर्षः पुमान् प्राप्तव्यवहारौ भवतः॥

—नीति० १७३।

इस तरहके और भी अनेक अवतरण दिये जा सकते हैं।

यहाँपर पाठकोंको यह भी ध्यानमें रखना चाहिए कि चाणक्यने भी तो अपने पूर्ववर्ती विशालाक्ष, भारद्वाज, बृहस्पति आदिके ग्रन्थोंका संग्रह करके अपना ग्रन्थ लिखा है*। ऐसी दशामें यदि सोमदेवकी रचना अर्थशास्त्रसे मिलती जुलती हो, तो क्या आश्चर्य है। क्योंकि उन्होंने भी उन्हीं ग्रन्थोंका मन्थन करके अपना नीतिवाक्यामृत लिखा है। यह दूसरी बात है कि नीतिवाक्यामृतकी रचनाके समय ग्रन्थकर्त्ताके सामने अर्थशास्त्र भी उपस्थित था।

परन्तु पाठक इससे नीतिवाक्यामृतके महत्त्वको कम न समझ लें। ऐसे विषयोंके ग्रन्थोंका अधिकांश भाग संग्रहरूप ही होता है। क्योंकि उसमें उन सब तत्त्वोंका समावेश तो नितान्त आवश्यक ही होता है जो ग्रन्थकर्त्ताके पूर्व लेखकों द्वारा उस शास्त्रके सम्बन्धमें निश्चित हो चुकते हैं। उनके सिवाय जो नये अनुभव और नये तत्त्व उपलब्ध होते हैं उन्हें ही वह विशेषरूपसे अपने

* देखो पृष्ठ ३ की टिप्पणी 'पृथिव्या लाभे' आदि।

ग्रन्थमें लिपिबद्ध करता है। और हमारी समझमें नीतिवाक्यामृत ऐसी बातोंसे खाली नहीं है। ग्रन्थकर्त्ताकी स्वतंत्र प्रतिभा और मौलिकता उसमें जगह जगह प्रस्फुटित हो रही है।

ग्रन्थकर्त्ताका परिचय।

गुरुपरम्परा।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है नीतिवाक्यामृतके कर्त्ता श्रीसोमदेवसूरि हैं। ये देवसंघके आचार्य थे। दिगम्बरसम्प्रदायके सुप्रसिद्ध चार संघोंमेंसे यह एक है। नयराज कविके कथनानुसार यह संघ सुप्रसिद्ध तार्किक भट्टाकलंकदेवके बाद स्थापित हुआ था। अकलंकदेवका समय विक्रमकी ९वीं शताब्दिका प्रथम पाद है। *

सोमदेवके गुरुका नाम नेमिदेव और दादागुरुका नाम यशोदेव था। यथाः—

> श्रीमानस्ति स देवसंघतिलको देवो यशःपूर्वकः,
> शिष्यस्तस्य बभूव सद्गुणनिधिः श्रीनेमिदेवाह्वयः।
> तस्याश्चर्यतपः स्थितेस्त्रिनवतेर्जेतुर्महावादिनां,
> शिष्योऽभूदिह सोमदेव इति यस्तस्यैष काव्यक्रमः॥
>
> —यशस्तिलकचम्पू।

नीतिवाक्यामृतकी गद्यप्रशस्तिसे भी यह मालूम होता है कि ये नेमिदेवके शिष्य थे। साथ ही उसमें यह भी लिखा है कि ये महेन्द्रदेव भट्टारकके अनुज थे। इन तीनों महात्माओं—यशोदेव, नेमिदेव और महेन्द्रदेवके सम्बन्धमें हमें और कोई भी बात मालूम नहीं है। न तो इनकी कोई रचना ही उपलब्ध है और न अन्य किसी ग्रन्थादिमें इनका कोई उल्लेख ही मिला है। इनके पूर्वके आचार्योंके विषयमें भी कुछ ज्ञात नहीं है। सोमदेवसूरिकी शिष्यपरम्परा भी अज्ञात है। यशस्तिलकके टीकाकार श्रुतसागरसूरिने एक जगह लिखा है कि वादिराज और वादीभसिंह, दोनों ही सोमदेवके शिष्य थे ×, परन्तु इसके

* देखो जैनहितैषी भाग ११ अंक ७—८।

× “उक्तं च वादिराजेन महाकविना— ....स वादिराजोऽपि श्रीसोमदेवाचार्यस्य शिष्यः—‘वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्यः श्रीवादिराजोऽपि मदीयशिष्यः’ इत्युक्तत्वात्।”

—यशस्तिलकटीका आ० २, पृ० २६५।

लिए उन्होंने जो प्रमाण दिया है वह किस ग्रन्थका है, इसके जाननेका कोई साधन नहीं है। यशस्तिलककी रचना शकसंवत् ८८१ (विक्रम १०१६) में समाप्त हुई है और वादिराजने अपना पार्श्वनाथचरित शकसंवत् ९४७ (वि० १०८२) में पूर्ण किया है, अर्थात् दोनोंके बीचमें ६६ वर्षका अन्तर है। ऐसी दशामें उनका गुरु शिष्यका नाता होना दुर्घट है। इसके सिवाय वादिराजके गुरुका नाम मतिसागर था और वे द्रविड संघके आचार्य थे। अब रहे वादीभसिंह, सो उनके गुरुका नाम पुष्पसेन था और पुष्पसेन अकलङ्कदेवके गुरुभाई थे, इसलिए उनका समय सोमदेवसे बहुत पहले आपड़ता है। ऐसी अवस्थामें वादिराज और वादीभसिंहको सोमदेवका शिष्य नहीं माना जा सकता। ग्रन्थकर्ताके गुरु बड़े भारी तार्किक थे। उन्होंने ९३ वादियोंको पराजित करके विजयकीर्ति प्राप्त की थी +। इसी तरह महेन्द्रदेव भट्टारक भी दिग्विजयी विद्वान् थे। उनका 'वादीन्द्रकालानल' उपपद ही इस बातकी घोषणा करता है।

तार्किक सोमदेव।

श्रीसोमदेवसूरि भी अपने गुरु और अनुजके सदृश बड़े भारी तार्किक विद्वान् थे। वे इस ग्रन्थकी प्रशस्तिमें कहते हैं—

> अल्पेऽनुग्रहधीः समे सुजनता मान्ये महानादरः,
> सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्रचरिते श्रीसोमदेवे मयि।
> यः स्पर्धेत तथापि दर्पदृढताप्रौढिप्रगाढाग्रह-
> स्तस्याखर्वितगर्वपर्वतपविर्मद्वाक्कृतान्तायते॥

साराश यह कि मैं छोटोंके साथ अनुग्रह, बराबरीवालोंके साथ सुजनता और बड़ोंके साथ महान् आदरका बर्ताव करता हूँ। इस विषयमें मेरा चरित्र बहुत ही उदार है। परन्तु जो मुझे ऐंठ दिखाता है, उसके लिए, गर्वरूपी पर्वतको विध्वंस करनेवाले मेरे वज्र-वचन कालस्वरूप हो जाते हैं।

> दर्पान्धबोधबुधसिन्धुरसिंहनादे,
> वादिद्विपोद्दलनदुर्धरवाग्विवादे।

+ यशस्तिलकके ऊपर उद्धृत हुए श्लोकमें उन महावादियोंकी संख्या—जिन[illegible] ... पराजित किया था—[illegible] बतलाई है परन्तु नीतिवाक्यामृ[illegible] ... इसका क्या कारण है।

समुद्रसे निकले हुए असहाय, अनादर्श और सज्जनोंके हृदयकी शोभा बढ़ानेवाले रत्नकी तरह मुझसे भी यह असहाय (मौलिक), अनादर्श (बेजोड़) और हृदयमण्डन काव्यरत्न उत्पन्न हुआ।

कर्णाञ्जलिपुटैः पातुं चेतः सूक्तामृते यदि।
श्रूयतां सोमदेवस्य नव्याः काव्योक्तियुक्तयः ॥ २४६ ॥
—द्वितीय आ०।

यदि आपका चित्त कानोंकी अँजुलीसे सूक्तामृतका पान करना चाहता है, तो सोमदेवकी नई नई काव्योक्तियाँ सुनिए।

लोकवित्त्वे कवित्वे वा यदि चातुर्यचञ्चवः।
सोमदेवकवेः सूक्तिं समभ्यस्यन्तु साधवः ॥ ५१३ ॥
—तृतीय आ०।

यदि सज्जनोंकी यह इच्छा हो कि वे लोकव्यवहार और कवित्वमें चातुर्य प्राप्त करें तो उन्हें सोमदेव कविकी सूक्तियोंका अभ्यास करना चाहिए।

मया वागर्थसंभारे भुक्ते सारस्वते रसे।
कवयोऽन्ये भविष्यन्ति नूनमुच्छिष्टभोजनाः ॥
—चतुर्थ आ०, पृ० १६५।

मैं शब्द और अर्थपूर्ण सारे सारस्वत रस (साहित्य रस) का स्वाद ले चुका हूँ, अतएव अब जितने दूसरे कवि होंगे, वे निश्चयसे उच्छिष्टभोजी या जूठा खानेवाले होंगे—वे कोई नई बात न कह सकेंगे।

असारकालव्यालेन ये लीढा साम्प्रतं तु ते।
शब्दाः श्रीसोमदेवेन प्रोत्थाप्यन्ते किमद्भुतम् ॥
—पंचम आ०, पृ० २६६।

समयरूपी विकट सर्पने जिन शब्दोंको निगल लिया था, अतएव जो मृत हो गये थे, यदि उन्हें श्रीसोमदेवने उठा दिया—जिला दिया, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। (इसमें 'सोमदेव' शब्द श्लिष्ट है। सोम चन्द्रवाची है और चन्द्रकी अमृत-किरणोंसे विषमूर्च्छित जीव सचेत हो जाते हैं।)

उद्धृत्य शास्त्रजलधेर्नितले निमग्नैः
पर्यागतैरिव चिरादभिधानरत्नैः।

या सोमदेवविदुषा विहिता विभूषा
वाग्देवता वहतु सम्प्रति तामनर्घ्याम् ॥
—प० आ०, पृ० २६६ ।

चिरकालसे शास्त्रसमुद्रके बिल्कुल नीचे डूबे हुए शब्द-रत्नोंका उद्धार करके सोमदेव पण्डितने जो यह बहुमूल्य आभूषण (काव्य)बनाया है, उसे श्रीसरस्वती देवी धारण करें ।

इन उक्तियोंसे इस बातका आभास मिलता है कि आचार्य सोमदेव किस श्रेणीके कवि थे और उनका उक्त महाकाव्य कितना महत्त्वपूर्ण है । पूर्वोक्त उक्तियोंमें अभिमानकी मात्रा रहने पर भी वे अनेक अंशोंमें सत्य जान पड़ती हैं । सचमुच ही यशस्तिलक शब्दरत्नोंका बड़ा भारी खजाना है और यदि माघकाव्यके समान कहा जाय कि इस काव्यको पढ़ लेने पर फिर कोई नया शब्द नहीं रह जाता, तो कुछ अत्युक्ति न होगी । इसी तरह इसके द्वारा सभी विषयोंकी व्युत्पत्ति हो सकती है । व्यवहारदक्षता बढ़ानेकी तो इसमें ढेर सामग्री है ।

महाकवि सोमदेवके वाक्कल्लोलपयोनिधि, कविराजकुंजर और गद्यपद्यविद्याधरचक्रवर्ती विशेषण, उनके श्रेष्ठकवित्वके ही परिचायक हैं।

धर्माचार्य सोमदेव ।

यद्यपि अभीतक सोमदेवसूरिका कोई स्वतंत्र धार्मिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है; परन्तु यशस्तिलकके अन्तिम दो आश्वास—जिनमें उपासकाध्ययन या श्रावकोंके आचारका निरूपण किया गया है—इस बातके साक्षी हैं कि वे धर्मके कैसे मर्मज्ञ विद्वान् थे । स्वामी समन्तभद्रके रत्नकरण्डके बाद श्रावकोंका आचारशास्त्र ऐसी उत्तमता, स्वाधीनता और मार्मिकताके साथ इतने विस्तृतरूपमें आजतक किसी भी विद्वान्की कलमसे नहीं लिखा गया है । जो लोग यह समझते हैं कि धर्मग्रन्थ तो परम्परासे चले आये हुए ग्रन्थोंके अनुवादमात्र होते हैं—उनमें ग्रन्थकर्ता विशेष क्या कहेगा, उन्हें यह उपासकाध्ययन अवश्य पढ़ना चाहिए और देखना चाहिए कि धर्मशास्त्रोंमें भी मौलिकता और प्रतिभाके लिए कितना विस्तृत क्षेत्र है । खेद है कि जैनसमाजमें इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थके पठन पाठनका प्रचार बहुत ही कम है और अब तक इसका कोई हिन्दी अनुवाद भी नहीं हुआ है ।

नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिमें लिखा है:—

सकलसमयतर्के नाकलंकोऽसि वादी
न भवसि समयोक्तौ हंससिद्धान्तदेवः ।

न च वचनविलासे पूज्यपादोऽसि तत्त्वं
वदसि कथमिदानीं सोमदेवेन सार्धम् ॥

अर्थात् हे वादी, न तो तू समस्तदर्शन शास्त्रों पर तर्क करनेके लिए अकलंकदेवके तुल्य है, न जैनसिद्धान्तके कहनेके लिए हंससिद्धान्तदेव है और न व्याकरणमें पूज्यपाद है, फिर इस समय सोमदेवके साथ किस बिरते पर बात करने चला है ?

इस उक्तिसे स्पष्ट है कि सोमदेवसूरि तर्क और जैनसिद्धान्तके समान व्याकरणशास्त्रके भी पण्डित थे।

राजनीतिज्ञ सोमदेव।

सोमदेवके राजनीतिज्ञ होनेका प्रमाण यह नीतिवाक्यामृत तो है ही, इसके सिवाय उनके यशस्तिलकमें भी यशोधर महाराजका चरित्रचित्रण करते समय राजनीतिकी बहुत ही विशद और विस्तृत चर्चा की गई है। पाठकोंको चाहिए कि वे इसके लिए यशस्तिलकका तृतीय आश्वास अवश्य पढ़ें।

यह आश्वास राजनीतिके तत्त्वोंसे भरा हुआ है। इस विषयमें यह अद्वितीय है। वर्णन करनेकी शैली बड़ी ही सुन्दर है। कविकी कमनीयता और सरसताने राजनीतिकी नीरसता मालूम नहीं कहाँ चली गई है। नीतिवाक्यामृतके अनेक वाक्योंका अभिप्राय इसमें किसी न किसी रूपमें अन्तर्निहित जान पड़ता है +।

---

* अकलंकदेव—अष्टशती, राजवार्तिक आदि ग्रन्थोंके रचयिता। हंससिद्धान्तदेव—ये कोई सैद्धान्तिक आचार्य जान पड़ते हैं। इनका अब तक और कहीं कोई उल्लेख देखनेमें नहीं आया। पूज्यपाद—देवनन्दि, जैनेन्द्र-व्याकरणके कर्त्ता।

+ नीतिवाक्यामृत और यशस्तिलकके कुछ समानार्थक वचनोंका मिलान कीजिए —

१—बुभुक्षाकालो भोजनकालः — नी० वा० पृ० २५३।

चारायणो निशि तिमिः पुनरस्तकाले,
मध्ये दिनस्य धिषणश्चरकः प्रभाते।
भुक्तिं जगाद नृपते मम चैष सर्गः
तस्याः स एव समयः क्षुधितो यदैव ॥ ३२८ ॥
—यशस्तिलक आ० ३।

जहाँ तक हम जानते हैं जैनविद्वानों और आचार्योंमें—दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनोंमें—एक सोमदेवने ही 'राजनीतिशास्त्र' पर कलम उठाई है। अतएव जैनसाहित्यमें उनका नीतीवाक्यामृत अद्वितीय है। कमसे कम अब तक तो इस विषयका कोई दूसरा जैनग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है।

ग्रन्थ-रचना।

इस समय सोमदेवसूरिके केवल दो ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं—**नीतिवाक्यामृत** और **यशस्तिलकचम्पू**। इनके सिवाय—जैसा कि नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिसे मालूम होता है-तीन ग्रन्थ और भी हैं-१ **युक्तिचिन्तामणि**, २ **त्रिवर्गमहेन्द्रमातलिसंजल्प** और ३ **षण्णवतिप्रकरण**। परन्तु अभीतक ये कहीं प्राप्त नहीं हुए हैं। उक्त ग्रन्थोंमेंसे **युक्तिचिन्तामणि** तो अपने नामसे ही तर्कग्रन्थ मालूम होता है और दूसरा शायद नीतिविषयक होगा। महेन्द्र और उसके सारथी मातलिके संवादरूपमें उसमें त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और कामकी चर्चा की गई होगी। तीसरेके नामसे सिवाय इसके कि उसमें ९६ प्रकरण या अध्याय हैं, विषयका कुछ भी अनुमान नहीं हो सकता है।

इन सब ग्रन्थोंमें नीतिवाक्यामृत ही सबसे पिछला ग्रन्थ है। यशोधरमहाराजचरित या यशस्तिलक इसके पहलेका है। क्योंकि नीतिवाक्यामृतमें उसका उल्लेख है। बहुत संभव है कि नीतिवाक्यामृतके बाद भी उन्होंने ग्रन्थरचना की हो और उक्त तीन ग्रन्थोंके समान वे भी किसी जगह दीमक या चूहोंके खाद्य बन रहे हों,या सर्वथा नष्ट ही हो चुके हों।

विशाल अध्ययन।

यशस्तिलक और नीतिवाक्यामृतके पढ़नेसे मालूम होता है कि सोमदेवसूरिका अध्ययन बहुत ही विशाल था। ऐसा जान पड़ता है कि उनके समयमें जितना

(पूर्वोक्त पद्यमें चारायण, निमि, धिषण और चरक इन चार आचार्योंके मतोंका उल्लेख किया गया है।)

२—कोकवद्दिवाकामः निशि भुञ्जीत। चकोरवन्नक्तंकामः दिवानक्तम्।—नी० वा० पृ० २०३।

अन्ये त्विदमाहु --

यः कोकवद्दिवाकामः स नक्तं भोक्तुमर्हति।
स भोक्ता वासरे यश्च रात्रौ रन्ता चकोरवत्॥ २३०॥
—यशस्तिलक आ० ३।

साहित्य—छन्द, व्याकरण, काव्य, नीति, दर्शन आदि सम्बन्धी—उपलब्ध था, इन सबसे उनका परिचय था। केवल जैन ही नहीं, जैनेतर साहित्यसे भी वे अच्छी तरह परिचित थे। यशस्तिलकके चौथे आश्वासमें (पृ० ११३)में उन्होंने लिखा है कि इन महाकवियोंके काव्योंमें मग्न रहकर या लिखकर साधुओंका उल्लेख क्यों आता है? उनकी इतनी अधिक प्रसिद्धि क्यों है!—उर्व, भारवि, भवभूति, भर्तृहरि, भर्तृमेण्ठ, कण्ठ, गुणाढ्य, व्यास, भास*, बोस, कालिदास ×, बाण +, मयूर, नारायण, कुमार, माघ और राजशेखर।

इससे मालूम होता है कि वे पूर्वोक्त कवियोंके काव्योंसे अवश्य परिचित होंगे। प्रथम आश्वासके ९० वें पृष्ठमें उन्होंने इन्द्र, चन्द्र, जैनेन्द्र, आपिशल और पाणिनिके व्याकरणोंका जिकर किया है। पूज्यपाद (जैनेन्द्रके कर्ता) और पाणिनिका उल्लेख और भी एक दो जगह हुआ है। गुरु, शुक्र, विशालाक्ष, परीक्षित, पराशर, भीम, भीष्म, भारद्वाज आदि नीतिशास्त्रप्रणेताओंका भी वे कई जगह स्मरण करते हैं। कौटिलीय अर्थशास्त्रसे तो वे अच्छी तरह परिचित हैं ही। हमारे एक पण्डित मित्रके कथनानुसार नीतिवाक्यामृतमें भी सैकड़ों के लगभग ऐसे शब्द हैं जिनका अर्थ वर्तमान कोशोंमें नहीं मिलता। अर्थशास्त्रकी अपेक्षा ही उन्हें समझा सकता है। अश्वविद्या, गजविद्या, रत्नपरीक्षा, कामशास्त्र, वैद्यक आदि

---

* भास महाकविका 'पेया सुरा प्रियतमामुखमीक्षणीयं' आदि पद्य भी पाँचवें आश्वासमें (पृ० २५०)में उद्धृत है। × रघुवंशका भी एक जगह (आश्वास ४, पृ० १९८) उल्लेख है। + बाण महाकविका एक जगह और भी (आ० ४, पृ० १०१) उल्लेख है और लिखा है कि उन्होंने शिकारकी निन्दा की है।

१—" पूज्यपाद इव शब्देतिह्येषु [illegible] पाराशर इव पदप्रयोगेषु —यश० आ० [illegible], पृ० [illegible] [illegible], ३, ४, ५, ६—" [illegible]पाद इव गजविद्यासु रैवत इव हयनयेषु, शुकनाश इव रत्नपरीक्षासु, दत्तक इव कन्तुसिद्धान्तेषु —आ० ४, पृ० [illegible]। दत्तक कामशास्त्रके प्राचीन आचार्य हैं। वात्स्यायनने इनका उल्लेख किया है। चारायण भी कामशास्त्रके आचार्य हैं। इनका मत यशस्तिलकके तीसरे आश्वासमें ५०० पृष्ठमें चरकके साथ प्रकट किया गया है।

विद्याओंके आचार्योंका भी उन्होंने कई प्रसंगोंमें जिकर किया है। प्रजापतिप्रोक्त चित्रकर्म, वराहमिहिरकृत प्रतिष्ठाकाण्ड, आदित्यमत, निमित्ताध्याय, महाभारत, रत्नपरीक्षा, पतंजलिका योगशास्त्र और वररुचि, व्यास, हरप्रबोध, कुमारिलकी उक्तियोंके उद्धरण दिये हैं। सैद्धान्तवैशेषिक, तार्किक वैशेषिक, पाशुपत, कुलाचार्य, सांख्य, दशबलशासन, जैमिनीय, बार्हस्पत्य, वेदान्तवादि, काणाद, ताथागत, कापिल, ब्रह्माद्वैतवादि, अवधूत आदि दर्शनोंके सिद्धान्तोंपर विचार किया है। इनके सिवाय मतङ्ग, भृगु, भर्ग, भरत, गौतम, गर्ग, पिंगल, पुलह, पुलोम, पुलस्ति, पराशर, मरीचि, विरोचन, धूमध्वज, नीलपट, ग्रहिल, आदि अनेक प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध आचार्योंका नामोल्लेख किया है। बहुतसे ऐतिहासिक दृष्टान्तोंका भी उल्लेख किया गया है। जैसे यवनदेश (यूनान?)में मणिकुण्डला रानीने अपने पुत्रके राज्यके लिए विषदूषित शराबके कुल्लेसे अजराजाको, सूरसेन (मथुरा) में वसन्तमतिने विषके आलक्तसे रंगे हुए अधरोंसे सुरतविलास नामक राजाको, दशार्ण (भिलसा)में वृकोदरीने विषलिप्त करधनीसे मदनार्णव राजाको, मगध देशमें मदिराक्षीने तीखे दर्पणसे मन्मथविनोदको, पाण्ड्य देशमें चण्डरसा रानीने कबरीमें छुपी हुई छुरीसे मुण्डीर नामक राजाको मार

१,२,३,४,५—उक्त पाँचों ग्रन्थोंके उद्धरण यश० के चौथे आश्वासके पृ० ११२-१३ और ११९में उद्धृत हैं। महाभारतका नाम नहीं है, परन्तु–'पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्' आदि श्लोक महाभारतसे ही उद्धृत किया गया है।

६—मदुक्तं रत्नपरीक्षायाम्—' न केवलं ' आदि, आश्वास ५, पृ० २५६।

७—यशस्तिलक आ० ६, पृ० २७६-७७।

८,९-आ० ४ पृ० ९९।

१०,११-आ० ५, पृ० २५१-५४।

१२-इन सब दर्शनोंका विचार पाँचवें आश्वासके पृ० २६९ से २७७ तक किया गया है।

१३—देखो आश्वास ५, पृ०२५२-५५ और २६६।

काण्ड ० । इत्यादि । पौराणिक आख्यान भी बहुतसे दिये हैं। जैसे प्रजापति ब्रह्मा-का निज कन्यापर कामासक्त हो गया, वररुचि या कात्यायनने एक [illegible] उसके बदले [illegible] आदि × । इन सब बातोंसे [illegible] जान पड़ेगा कि आचार्य सोमदेवका ज्ञान कितना विस्तृत और व्यापक था।

उदार विचारशीलता।

यशस्तिलकके प्रारंभमें १० वें श्लोकमें ग्रन्थकर्ता कहते हैं —

> लोको युक्तिः कलाश्छन्दोऽलंकाराः समयागमाः।
> सर्वसाधारणाः सद्भिस्तीर्थमार्ग इव स्मृताः॥

अर्थात् सज्जनोंका कथन है कि व्याकरण, प्रमाणशास्त्र (न्याय), कलायें, छन्दःशास्त्र, अलंकारशास्त्र और (आर्हत, जैमिनि, कपिल, चार्वाक, कणाद, बौद्धादिके) दर्शनशास्त्र तीर्थमार्गके समान सर्वसाधारण हैं, अर्थात् जिस तरह तीर्थादिके मार्ग पर ब्राह्मण भी चल सकते हैं और चाण्डाल भी, उसी तरह इनपर भी सबका अधिकार है। +

इस उक्तिसे पाठक जान सकते हैं कि उनके विचार इसके सम्बन्धमें कितने उदार थे। वे इसे सर्वसाधारणकी चीज समझते थे और यही कारण है जो उन्होंने धर्माचार्य होकर भी अपने धर्मसे इतर धर्मके माननेवालोंके साहित्यका भी अच्छी तरहसे अध्ययन किया था, यही कारण है जो वे पूज्यपाद और भट्ट अकलंकदेवके साथ पाणिनि आदिका भी आदरके साथ उल्लेख करते हैं और यही कारण है जो उन्होंने अपना यह राजनीतिशास्त्र लोगों जैनेतर आचार्योंके विचारोंका सार खींचकर बनाया है। यह सच है कि उनका जैन सिद्धान्तों पर अचल विश्वास है और इसीलिए यशस्तिलकमें उन्होंने अन्य सिद्धा-

---

* यशस्तिलक आ० ४, पृ० १५३। इन्हीं आख्यानोंका उल्लेख नीतिवाक्यामृत (पृ० ४४२) में भी किया गया है। आश्वास ३, पृ० ४३१ और ५५० में भी ऐसे ही कई ऐतिहासिक दृष्टान्त दिये गये हैं।

× यश० आ० ४ पृ० ११८—३९।

+ 'लोको व्याकरणशास्त्रम्, युक्तिः प्रमाणशास्त्रम्, समयागमाः जिनजैमिनिकपिलकणचरचार्वाकशाक्यानां सिद्धान्ताः। सर्वसाधारणाः सद्भिः कथिताः प्रतिपादिताः। क इव तीर्थमार्ग इव। यथा तीर्थमार्गे ब्राह्मणाश्चाण्डाल-
[illegible]

न्तोंका खण्डन करके जैनसिद्धान्तकी उपादेयता प्रतिपादन की है; परन्तु इसके साथ ही वे इस सिद्धान्तके पक्के अनुयायी हैं कि 'युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः।' उनकी यह नीति नहीं थी कि ज्ञानका मार्ग भी संकीर्ण कर दिया जाय और संसारके विशाल ज्ञान-भाण्डारका उपयोग करना छोड़ दिया जाय।

समय और स्थान।

नीतिवाक्यामृतके अन्तकी प्रशस्तिमें इस बातका कोई जिकर नहीं है कि यह कब और किस स्थानमें रचा गया था, परन्तु यशस्तिलक चम्पूके अन्तमें इन दोनों बातोंका उल्लेख है.—

" शकनृपकालातीतसंवत्सरशतेष्वष्टस्वेकाशीत्यधिकेषु गतेषु अङ्कतः (८८१) सिद्धार्थसंवत्सरान्तर्गतचैत्रमासमदनत्रयोदश्यां पाण्ड्य-सिंहल-चोल-चेरमप्रभृतीन्महीपतीन्प्रसाध्य मेलपाटीप्रवर्धमानराज्यप्रभावे श्रीकृष्णराजदेवे सति तत्पादपद्मोपजीविनः समधिगतपञ्चमहाशब्दमहासामन्ताधिपतेश्चालुक्यकुलजन्मन सामन्तचूडामणेः श्रीमदरिकेसरिणः प्रथमपुत्रस्य श्रीमद्वद्यगराजस्य लक्ष्मीप्रवर्धमानवसुधारायां गङ्गाधारायां विनिर्मापितमिदं काव्यमिति। "

अर्थात् चैत्र सुदी १३ शकसंवत् ८८१ (विक्रम संवत् १०१६) को जिस समय श्रीकृष्णराजदेव पाण्ड्य, सिंहल, चोल, चेर आदि राजाओं पर विजय प्राप्त करके मेलपाटी नामक राजधानीमें राज्य करते थे और उनके चरणकमलोपजीवी सामन्त वद्दिग—जो चालुक्यवंशीय अरिकेसरीके प्रथम पुत्र थे—गङ्गाधारामें शासन करते थे, उस समय यह काव्य समाप्त हुआ।

[illegible] कृष्णराजदेव [illegible] अकालवर्ष [illegible] है [illegible]

---

१ पाण्ड्य [illegible] सिंहल [illegible]

थे। अमोघवर्षके पुत्र अकालवर्ष (द्वितीय कृष्ण) और अकालवर्षके जगत्तुंग हुए*। इन जगत्तुंगके दो पुत्रों—इन्द्र या नित्यवर्ष और बद्दिग या अमोघवर्ष (तृतीय)मेंसे—अमोघवर्ष तृतीयके पुत्र कृष्णराजदेव या तृतीय कृष्ण थे। इनके समयके शक संवत् ८६७, ८७१, ८७८, और ८८१ के चार शिलालेख मिले हैं, इससे इनका राज्यकाल कमसे कम ८६७ से ८८१ तक सुनिश्चित है। ये दक्षिणके सार्वभौमराजा थे और बड़े प्रतापी थे। इनके अधीन अनेक माण्डलिक या करद राज्य थे। कृष्णराजने–जैसा कि सोमदेवसूरिने लिखा है—सिंहल, चोल, पाण्ड्य और चेर राजाओंको युद्धमें पराजित किया था। इनके समयमें कनडी भाषाका सुप्रसिद्ध कवि पोन्न हुआ है जो जैन था और जिसने शान्तिपुराण नामक श्रेष्ठ ग्रन्थकी रचना की है। महाराज कृष्णराज देवके दरबारसे इसे 'उभयभाषाकविचक्रवर्ती' की उपाधि मिली थी।

निजामके राज्यमें मलखेड नामका एक ग्राम है जिसका प्राचीन नाम 'मान्यखेट' है। यह मान्यखेट ही अमोघवर्ष आदि राष्ट्रकूट राजाओंकी राजधानी थी× और उस समय बहुत ही समृद्ध थी। संभव है कि सोमदेवने इसीको मेलपाटी या मेल्पाटी लिखा हो। 'हिस्टरी आफ कनारी लिटरेचर' के लेखकने लिखा है कि पोन्न कविको उभयभाषाकविचक्रवर्तीकी उपाधि देनेवाले राष्ट्रकूट राजा कृष्णराजने मान्यखेटमें सन् ९३९ से९६८ तक राज्य किया है। इससे भी मालूम होता है कि मान्यखेटका ही नाम मेलपाटी होगा; परन्तु यदि यह मेलपाटी कोई दूसरा स्थान है तो समझना होगा कि कृष्णराज देवके समयमें मान्यखेटसे राजधानी

---

* जगत्तुंग गद्दीपर नहीं बैठे। अकालवर्षके बाद जगत्तुंगके पुत्र तृतीय इन्द्रको गद्दी मिली। इन्द्रके दो पुत्र थे—अमोघवर्ष (द्वितीय) और गोविन्द (चतुर्थ)। इनमेंसे द्वितीय अमोघवर्ष पहले सिंहासनारूढ़ हुए, परन्तु कुछ ही समयके बाद गोविन्द चतुर्थने उन्हें गद्दीसे उतार दिया और आप राजा बन बैठे। गोविन्दके बाद उनके काका अर्थात् जगत्तुंगके दूसरे पुत्र अमोघवर्ष (तृतीय) गद्दीपर बैठे। अमोघवर्षके बाद ही कृष्णराज देव सिंहासनासीन हुए। इन सबके विषयमें विस्तारसे जाननेके लिए डा॰ भाण्डारकरकृत 'हिस्ट्री आफ डेक्कन' या उसका मराठी अनुवाद पढ़िए।

× महाराजा अमोघवर्ष (प्रथम) के पहले राष्ट्रकूटोंकी राजधानी मयूरखण्डी थी जो इस समय नासिक जिलेमें मोरखण्ड किलेके नामसे प्रसिद्ध है।

उठकर उक्त दूसरे स्थानमें चली गई थी। इस बातका पता नहीं लगता, कि मान्यखेटमें राष्ट्रकूटोंकी राजधानी कब तक रही।

राष्ट्रकूटोंके समयमें दक्षिणका चालुक्यवंश (सोलंकी) हतप्रभ हो गया था। क्योंकि इस वंशका सार्वभौमत्व राष्ट्रकूटोंने ही छीन लिया था। अतएव जब तक राष्ट्रकूट सार्वभौम रहे तब तक चालुक्य उनके आज्ञाकारी सामन्त या माण्डलिक राजा बनकर ही रहे। जान पड़ता है कि अरिकेसरीका पुत्र वद्दिग ऐसा ही एक सामन्तराजा था जिसकी गंगाधारा नामक राजधानीमें यशस्तिलककी रचना समाप्त हुई है।

चालुक्योंकी एक शाखा ' जोल ' नामक प्रान्त पर राज्य करती थी जिसका एक भाग इस समयके धारवाड़ जिलेमें आता है और श्रीयुक्त आर. नरसिंहाचार्यके मतसे चालुक्य अरिकेसरीकी राजधानी ' पुलगेरी'में थी जो कि इस समय 'लक्ष्मेश्वर'के नामसे प्रसिद्ध है।

इस अरिकेसरीके ही समयमें कनडी भाषाका सर्वश्रेष्ठ कवि पम्प हो गया है जिसकी रचना पर मुग्ध होकर अरिकेसरीने धर्मपुर नामका एक ग्राम पारितोषिकमें दिया था। पम्प जैन था। उसके बनाये हुए दो ग्रन्थ ही इस समय उपलब्ध हैं— एक आदिपुराण चम्पू और दूसरा भारत या विक्रमार्जुनविजय। पिछले ग्रन्थमें उसने अरिकेसरीकी वंशावली इस प्रकार दी है— युद्धमल्ल—अरिकेसरी—नारसिंह—युद्धमल्ल— वद्दिग—युद्धमल्ल—नारसिंह और अरिकेसरी। उक्त ग्रन्थ शक संवत् ८६३ (वि० ९९८ में) समाप्त हुआ है, अर्थात् वह यशस्तिलकसे कोई १८ वर्ष पहले बन चुका था। इसकी रचनाके समय अरिकेसरी राज्य करता था, तब उसके १८ वर्ष बाद— यशस्तिलककी रचनाके समय— उसका पुत्र राज्य करता होगा, यह सर्वथा ठीक जँचता है।

काव्यमालामें प्रकाशित यशस्तिलकमें अरिकेसरीके पुत्रका नाम 'श्रीमद्वागराज' मुद्रित हुआ है, परन्तु हमारी समझमें वह अशुद्ध है। उसकी जगह 'श्रीमद्वद्दिगराज' पाठ होना चाहिए। दानवीर सेठ माणिकचन्द्रजीके सरस्वतीभण्डारमें वि० सं० १५८८ की लिखी हुई प्रतिमें 'श्रीमद्वद्दिगराजस्य' पाठ है और इससे इस बातका [illegible] पुष्टि होती है और भी अधिक निश्चय होता है [illegible] अरिकेसरीकी वंशावली [illegible] है इस पर [illegible] विचार करना चाहिए। उसमें युद्धमल्ल

नामके तीन, अरिकेसरी नामके दो और नारसिंह नामके दो राजा हैं। अनेक राजवंशोंमें प्रायः यही परिपाटी देखी जाती है कि पितामह और पौत्र या प्रपितामह और प्रपौत्रके नाम एकसे रक्खे जाते थे, जैसा कि उक्त वंशावलीसे प्रकट होता है*। अतएव हमारा अनुमान है कि इस वंशावलीके अन्तिम राजा अरिकेसरी (सोमदेवके आश्रयदाता) के पुत्रका नाम वद्दिग × ही होगा जो कि लेखकोंके प्रमादसे 'वद्यग' या 'वाग' बन गया है।

'गंगधारा' स्थान के विषयमें हम कुछ पता न लगा सके जो कि वद्दिगकी राजधानी थी और जहाँ यशस्तिलककी रचना समाप्त हुई है। संभवतः यह स्थान धारवाड़के ही आसपास कहीं होगा।

श्रीसोमदेवसूरिने नीतिवाक्यामृतकी रचना कब और कहाँ पर की थी, इस बातका विचार करते हुए हमारी दृष्टि उसकी संस्कृत टीकाके निम्न-लिखित वाक्यों पर जाती है:—

" अत्र तावदखिलभूपालमौलिलालितचरणयुगलेन रघुवंशावसर्पितपराक्रम-पालितकान्य(कुब्ज)कर्णकुब्जेन महाराजश्रीमहेन्द्रदेवेन पूर्वाचार्यकृतार्थशास्त्र-दुरवबोधग्रन्थगौरवखिन्नमानसेन सुबोधललितलघुनीतिवाक्यामृतरचनासु प्रवर्तित. सकल[illegible] नानादर्शन[illegible]-प्युत्तरोत्तरेष्वर्हंतो वार्त्तानिजनमन्त्रकृतिसूचने तथा स्वगुरोः सोमदेवस्य च प्रणामपूर्वकं वाक्यस्य तत्कृतं व्याख्यातुं सकलगणधरनामप्रदाने मुनिचन्द्राभिधानः श्रमण-धर्मधर्त्ता नीतिवाक्यामृतवर्त्ती निर्विघ्नसिद्धिकरं....श्लोकमेकं जगाद—"-पृष्ठ २।

इसका अभिप्राय यह है कि कान्यकुब्जनरेश्वर महाराजा महेन्द्रदेवने पूर्वाचार्यकृत अर्थशास्त्र (कौटिलीय अर्थशास्त्र ?) की दुर्बोधता और गुरुतासे खिन्न होकर ग्रन्थकर्त्ताको इस सुबोध, सुन्दर और लघु नीतिवाक्यामृतकी रचना करनेमें प्रवृत्त किया।

कन्नौजके राजा महेन्द्रपालदेवका समय वि० संवत् ९६० से ९६४ तक निश्चित हुआ है। कर्पूरमंजरी और काव्यमीमांसा आदिके कर्त्ता सुप्रसिद्ध कवि राज-

* दक्षिणके राष्ट्रकूटोंकी वंशावलीमें भी देखिए कि अमोघवर्ष नामके चार, कृष्ण या अकालवर्ष नामके तीन, गोविन्द नामके चार, इन्द्र नामके तीन और कर्क नामके तीन राजा लगभग २०० वर्षके बीचमें ही हुए हैं।

× स्वर्गीय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझाने अपने 'सोलंकियोंके इतिहास' (प्रथम भाग)में लिखा है कि सोमदेवसूरिने अरिकेसरीके प्रथम पुत्रका नाम नहीं दिया है परन्तु ऐसा उन्होंने यशस्तिलककी प्रशस्तिके अशुद्ध पाठके कारण समझ लिया है, वास्तवमें नाम दिया है और वह 'वाद्दग' ही है।

होकर इन्हीं महेन्द्रपालदेवके समकालीन थे। परन्तु हम देखते हैं कि यशस्तिलक वि० संवत् १०१६ में समाप्त हुआ है और नीतिवाक्यामृत उसके भी पीछे बना है; क्योंकि नीतिवाक्यामृतकी उत्थानिकामें ग्रन्थकर्ताको यशोधरमहाराजचरित या यशस्तिलक महाकाव्यका कर्ता प्रकट किया है और इससे प्रकट होता है कि उक्त प्रशस्ति लिखते समय वे यशस्तिलकको समाप्त कर चुके थे। ऐसी अवस्थामें महेन्द्रपालदेवसे कमसे कम [illegible] वर्ष बाद नीतिवाक्यामृतका निर्माणकाल ठहरता है। तब समझमें नहीं आता कि टीकाकारने सोमदेवको महेन्द्रपालदेवका समसामयिक कैसे लिखा है। आश्चर्य नहीं जो उन्होंने किसी सुनी सुनाई किंवदन्तीके आधारसे पूर्वोक्त बात लिख दी हो।

नीतिवाक्यामृतके टीकाकारका समय अज्ञात है, परन्तु यह निश्चित है कि वे मूल ग्रन्थकर्तासे बहुत पीछे हुए हैं, क्योंकि और तो क्या वे उनके नामसे भी अच्छी तरह परिचित नहीं हैं। यदि ऐसा न होता तो मंगलाचरणके श्लोककी टीकामें जो ऊपर उद्धृत हो चुकी है, वे ग्रन्थकर्त्ताका नाम 'मुनिचन्द्र' और उनके गुरुका नाम 'सोमदेव' न लिखते। इससे भी मालूम होता है कि उन्होंने ग्रन्थकर्त्ता और महेन्द्रदेवका समकालित्व किंवदन्तीके आधारसे ही लिखा है।

सोमदेवसूरिने यशस्तिलकमें एक जगह जो प्राचीन महाकवियोंकी नामावली दी है, उसमें सबसे अन्तिम नाम राजशेखरका है ×। इससे मालूम होता है कि राजशेखरका नाम सोमदेवके समयमें प्रसिद्ध हो चुका था, अत एव राजशेखर उनसे अधिक नहीं तो ५० वर्ष पहले अवश्य हुए होंगे और महेन्द्रदेवके वे उपाध्याय थे। इससे भी नीतिवाक्यामृतका उनके समयमें या उनके कहनेसे बनना कम संभव जान पड़ता है।

और यदि कान्यकुब्जनरेशके कहनेसे सचमुच ही नीतिवाक्यामृत बनाया गया होता, तो इस बातका उल्लेख ग्रन्थकर्त्ता अवश्य करते; बल्कि महाराजा महेन्द्रपालदेव इसका उल्लेख करनेके लिए स्वयं उनसे आग्रह करते।

---

* देखो नागरीप्रचारिणी पत्रिका (नवीन संस्करण), भाग २, अंक १ में स्वर्गीय पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरीका 'अवन्तिसुन्दरी' शीर्षक नोट।

× "तथा—उर्व-भारवि-भवभूति-भर्तृहरि-भर्तृमेण्ठ-गुणाढ्य-व्यास-भास-वोस-कालिदास-बाण-मयूर-नारायण-कुमार-माघ-राजशेखरादिमहाकविकाव्येषु तत्र तत्रावसरे भरतप्रणीते काव्याध्याये सर्वजनप्रसिद्धेषु तेषु तेषूपाख्यानेषु च कथं तद्विषया महती प्रसिद्धिः।" —यशस्तिलक आ० ४, पृ० ११३।

पहले बतलाया जा चुका है कि सोमदेवसूरि देवसंघके आचार्य थे और जहाँ तक हम जानते हैं यह संघ दक्षिणमें ही रहा है। अब भी उत्तरमें जो भट्टारकोंकी गद्दियाँ हैं, उनमेंसे कोई भी देवसंघकी नहीं है। यशस्तिलक भी दक्षिणमें ही बना है और उसकी रचनासे भी अनुमान होता है कि उसके कर्ता दाक्षिणात्य हैं। ऐसी अवस्थामें उनका निर्ग्रन्थ होकर भी कान्यकुब्जके राजाकी सभामें रहना और उसके कहनेसे नीतिवाक्यामृतकी रचना करना असंभव नहीं तो विलक्षण अवश्य जान पड़ता है।

मूलग्रन्थ और उसके कर्ताके विषयमें जितनी बातें मालूम हो सकीं उन्हें लिखकर अब हम टीका और टीकाकारका परिचय देनेकी ओर प्रवृत्त होते हैं :—

टीकाकार।

जिस एक प्रतिके आधारसे यह टीका मुद्रित हुई है, उसमें कहीं भी टीकाकारका नाम नहीं दिया है। संभव है कि टीकाकारकी भी कोई प्रशस्ति रही हो और वह लेखकोंके प्रमादसे छूट गई हो। परन्तु टीकाकारने ग्रन्थके आरंभमें जो मंगलाचरणका श्लोक लिखा है, उससे अनुमान होता है कि उनका नाम बहुत करके 'हरिबल' होगा।

> हरिं हरिबलं नत्वा हरिवर्णं हरिप्रभम्।
> हरीज्यं च ब्रुवे टीकां नीतिवाक्यामृतोपरि॥

यह श्लोक मूल नीतिवाक्यामृतके निम्नलिखित मंगलाचरणका बिल्कुल अनुकरण है —

> सोमं सोमसमाकारं सोमाभं सोमसंभवम्।
> सोमदेवं मुनिं नत्वा नीतिवाक्यामृतं ब्रुवे॥

जब टीकाकारका मंगलाचरण मूलका अनुकरण है और मूलकारने अपने मंगलाचरणमें अपना नाम भी पर्यायान्तरसे व्यक्त किया है, तब बहुत संभव है कि टीकाकारने भी अपने मंगलाचरणमें अपना नाम व्यक्त करनेका प्रयत्न किया हो और ऐसा नाम उसमें हरिबल ही हो सकता है जिसके आगे मूलके सोमदेवके समान 'नत्वा' पद पड़ा हुआ है। यह भी संभव है कि हरिबल टीकाकारके गुरुका नाम हो और यह इसलिए कि सोमदेवने उन्होंने मूलग्रन्थकर्ताके गुरुका नाम

समझा है। यद्यपि यह केवल अनुमान ही है, परन्तु यदि उनका या उनके गुरुका नाम हरिबल हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

टीकाकारने मंगलाचरणमें हरि या वासुदेवको नमस्कार किया है। इससे मालूम होता है कि वे वैष्णव धर्मके उपासक होंगे।

वे कहाँके रहनेवाले थे और किस समयमें उन्होंने यह टीका लिखी है, इसके जाननेका कोई साधन नहीं है। परन्तु यह बात निःसंशय होकर कही जा सकती है कि वे बहुश्रुत विद्वान् थे और एक राजनीतिके ग्रन्थपर टीका लिखनेकी उनमें यथेष्ट योग्यता थी। इस विषयके उपलब्ध साहित्यका उनके पास काफी संग्रह था और टीकामें उसका पूरा पूरा उपयोग किया गया है। नीतिवाक्यामृतके अधिकांश वाक्योंकी टीकामें उस वाक्यसे मिलते जुलते अभिप्रायवाले उद्धरण देकर उन्होंने मूल अभिप्रायको स्पष्ट करनेका भरसक प्रयत्न किया है। विद्वान् पाठक समझ सकते हैं कि यह काम कितना कठिन है और इसके लिए उन्हें कितने ग्रन्थोंका अध्ययन करना पड़ा होगा, स्मरणशक्ति भी उनकी कितनी प्रखर होगी।

यह टीका पचासों ग्रन्थकारोंके उद्धरणोंसे भरी हुई है। इसमें जिन जिन कवियों, आचार्यों या ऋषियोंके श्लोक उद्धृत किये गये हैं, यह जाननेके लिए ग्रन्थके अन्तमें उनके नामोंकी और उनके पद्योंकी एक सूची वर्णानुक्रमसे लगा दी गई है, इसलिए यहाँ पर उन नामोंका पृथक् उल्लेख करनेकी आवश्यकता नहीं है। पाठक देखेंगे कि उनमें अनेक नाम बिल्कुल अपरिचित हैं और अनेक ऐसे हैं जिनके नाम तो प्रसिद्ध हैं; परन्तु रचनायें इस समय अनुपलब्ध हैं। इस दृष्टिसे यह टीका और भी बड़े महत्त्वकी है कि इससे राजनीति या सामान्यनीतिसम्बन्धी प्राचीन ग्रन्थकारोंकी रचनाके सम्बन्धमें अनेक नई नई बातें मालूम होंगी।

संशोधकके आक्षेप।

इस ग्रन्थका प्रेसकापी और प्रूफ संशोधनका काम श्रीयुत पं० पन्नालालजी सोनीने किया है। आपने केवल अपने उत्तरदायित्व पर, मेरी अनुपस्थितिमें, कई टिप्पणियाँ नष्ट करा दी हैं जिनसे टीकाकारके और उसकी टीकाके विषयमें एक बड़ा भारी भ्रम फैल सकता है, अतएव यहाँ पर यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इन टिप्पणियों पर भी एक नजर डाल ली जाय। नष्ट की हुई टिप्पणियोंके आक्षेप इस प्रकार हैं —

१—टीकाकारने जो मनु, गुरु और याज्ञवल्क्यके श्लोक उद्धृत किये हैं, वे मनुस्मृति, गुरुनीति और याज्ञवल्क्यस्मृतिमें नहीं हैं। यथा पृष्ठ ११५ की टिप्पणी—"श्लोकोऽयं मनुस्मृतौ तु नास्ति। टीकाकर्त्रा स्वदीयपक्षेण ग्रन्थकर्तृपरामर्शाभिप्रायेण यद्यपि श्लोकाः स्वयं विरचय्य तत्र तत्र स्थलेषु विनिवेशिताः।" अर्थात् यह श्लोक मनुस्मृतिमें तो नहीं है, टीकाकारने अपनी दुष्टतावश मूलकर्ताको नीचा दिखानेके अभिप्रायसे स्वयं ही बहुतसे श्लोक बनाकर जगह जगह घुसेड़ दिये हैं।

२—इस टीकाकारने—जो कि निश्चयपूर्वक अजैन है—बहुतसे सूत्र अपने मतके अनुसार स्वयं बनाकर जोड़ दिये हैं। यथा पृष्ठ ४९ की टिप्पणी—"अस्य ग्रन्थस्य कर्त्ता कश्चिद्दुर्जनविद्वान् स्तीति निश्चितं। अतस्तेन स्वमतानुसारेण बहूनि सूत्राणि विरचय्य संयोजितानि। तानि च तत्र तत्र निर्देक्ष्यामः।"

पहले आक्षेपके सम्बन्धमें हमारा निवेदन है कि शास्त्रीजी वैदिक धर्मके साहित्य और उसके इतिहाससे सर्वथा अनभिज्ञ हैं, फिर भी उनके साहसकी प्रशंसा करनी चाहिए कि उन्होंने मनु या गुरुके नामके किसी एक ग्रन्थके किसी एक संस्करणको देखकर ही अपनी अद्भुत राय दे डाली है। खेद है कि उन्हें एक प्राचीन विद्वानके विषयमें—केवल इसीसे ही कारणसे कि वह जैन नहीं है—इतनी बड़ी एकतरफा डिक्री जारी कर देनेमें जरा भी झिझक नहीं हुई!

सोनीजीने सारी टीकामें मनुके नामसे पाँच श्लोकोंपर, याज्ञवल्क्यके एक श्लोक-पर और गुरुके दो श्लोकोंपर ऐसे नोट दिये हैं कि ये श्लोक उक्त आचार्योंके ग्रन्थोंमें नहीं हैं। सचमुच ही उपलब्ध मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति और गुरुस्मृतिमें उद्धृत श्लोकोंका पता नहीं चलता। परन्तु जैसा कि सोनीजी समझते हैं, इसका कारण टीकाकारकी दुष्टता या मूलकर्ताको नीचा दिखानेकी प्रवृत्ति नहीं है।

सोनीजीको जानना चाहिए कि हिन्दुओंके धर्मशास्त्रोंमें समय समय पर बहुत कुछ परिवर्तन होते रहे हैं। अनेक धर्मशास्त्र पहले जिस रूपमें थे, इस समय उस रूपमें नहीं मिलते हैं। उनके संक्षिप्त संस्करण भी हुए हैं और प्राचीन ग्रन्थोंके नष्ट हो जानेसे उनके नामसे दूसरोंने भी नये नये ग्रन्थ बना दिये हैं। इसके सिवाय एक स्थानकी प्रतिके पाठ दूसरे स्थानोंकी प्रतियोंके पाठ नहीं मिलते। इस विषयमें प्राचीन साहित्यके शोधकोंने बहुत कुछ छानबीन की है और

विषय पर बहुत कुछ प्रकाश डाला है। कौटिलीय अर्थशास्त्रकी भूमिकामें उस सुप्रसिद्ध सम्पादक पं॰ आर. शामशास्त्री लिखते हैं:—

"अतश्च [illegible] धर्मशास्त्रमधुना[illegible] [illegible]दिति प्रतिभाति। एवमेव ये पुनर्मानव-बार्हस्पत्यौशनसा अभिप्रायाः तत्र कौटिल्येन परामृष्टाः न तेऽद्यधुनोपलभ्यमानेषु तत्तद्धर्मशास्त्रेषु दृश्यन्त इति कौटिल्यपरामृष्टानि तानि शास्त्राण्यन्यान्येवेति वाढं युक्तम्।"

अर्थात् इससे मालूम होता है कि चाणक्यके समयका याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र वर्तमान याज्ञवल्क्य शास्त्र (स्मृति) से कोई जुदा ही था। इसी तरह कौटिल्य अपने अर्थशास्त्रमें जगह जगह बार्हस्पत्य, औशनस आदिसे जो अपने अभिप्राय प्रकट किये हैं वे अभिप्राय इस समय मिलनेवाले उन धर्मशास्त्रोंमें नहीं दिखलाई देते। अतएव यह अच्छी तरह सिद्ध होता है कि कौटिल्यने जिन शास्त्रोंका उल्लेख किया है, वे इनके सिवाय दूसरे ही थे।

स्वर्गीय बाबू रमेशचन्द्र दत्तने अपने 'प्राचीन सभ्यताके इतिहास'में लिखा है कि प्राचीन धर्मसूत्रोंको सुधार कर उत्तरकालमें स्मृतियाँ बनाई गई हैं—जैसे कि मनु और याज्ञवल्क्यकी स्मृतियाँ। जो धर्मसूत्र खोये गये हैं उनमें एक मनुका सूत्र भी है जिससे कि पीछेके समयमें मनुस्मृति बनाई गई है। *

याज्ञवल्क्य स्मृतिके सुप्रसिद्ध टीकाकार विज्ञानेश्वर लिखते हैं:—"**याज्ञवल्क्यशिष्य: कश्चन प्रश्नोत्तररूपं याज्ञवल्क्यप्रणीतं धर्मशास्त्रं संक्षिप्य कथयामास, यथा मनुप्रोक्तं भृगुः।**" अर्थात् याज्ञवल्क्यके किसी शिष्यने याज्ञवल्क्यप्रणीत धर्मशास्त्रको संक्षिप्त करके कहा–जिस तरह कि भृगुने मनुप्रणीत धर्मशास्त्रको संक्षिप्त करके मनुस्मृति लिखी है। इससे मालूम होता है कि उक्त दोनों स्मृतियाँ, मनु और याज्ञवल्क्यके प्राचीन शास्त्रोंके उनके शिष्यों या परम्पराशिष्यों द्वारा निर्मित किये हुए सार हैं और इस बातको तो सभी जानते हैं कि उपलब्ध मनुस्मृति भृगुप्रणीत है—स्वयं मनुप्रणीत नहीं।

बम्बईके गुजरातीप्रेसके मालिकोंने कुल्लूकभट्टकी टीकाके सहित मनुस्मृतिका एक सुन्दर सस्करण प्रकाशित किया है। उसके परिशिष्टमें ३५५ श्लोक

---

* रमेशबाबूने अपने इतिहासके चौथे भागमें इस समय मिलनेवाली पृथक् [illegible] पर अपने विचार प्रकट किये हैं और उसमें बतलाया है कि [illegible] [illegible]ोंमें—जो प्राचीन भी [illegible] है।

श्लोक ऐसे दिये हैं जो वर्तमान मनुस्मृतिमें तो नहीं मिलते हैं; परन्तु हेमाद्रि, मिताक्षरा, पराशरमाधवीय, स्मृतिरत्नाकर, निर्णयसिन्धु आदि ग्रन्थोंमें मनु, वृद्धमनु और बृहन्मनुके नामसे 'उक्तं च' रूपमें उद्धृत किये हैं। इनके सिवाय शंकरो श्लोक शेरवग्रन्थमें भी दिये हैं, जिनकी कुल्लूक भट्टने भी टीका नहीं की है।

हमारे जैनग्रन्थोंमें भी मनुके नामसे अनेक श्लोक उद्धृत किये गये हैं जो इस मनुस्मृतिमें नहीं हैं। उदाहरणार्थ स्वनामधन्य पं० टोडरमल्लजीने अपने मोक्षमार्गप्रकाशके पाँचवें अधिकारमें मनुस्मृतिके नाम श्लोक दिये हैं, जो वर्तमान मनुस्मृतिमें नहीं हैं ×। इसी तरह 'द्विजवदनचपेट' नामक दिगम्बर जैनग्रन्थमें भी मनुके नामसे ७ श्लोक उद्धृत हैं जिनमेंसे वर्तमान मनुस्मृतिमें केवल २ मिलते हैं, शेष ५ नहीं हैं।*

शुक्रनीति जो इस समय मिलती है उसके विषयमें तो विद्वानोंकी यह राय है कि वह बहुत पीछेकी बनी हुई है—पाँच छ सौ वर्षसे पहलेकी तो वह किसी तरह हो ही नहीं सकती। शुक्रका प्राचीन ग्रन्थ इससे कोई पृथक् ही था +। कौटिलीय अर्थशास्त्रमें लिखा है कि शुक्रके मतसे दण्डनीति एक ही राजविद्या है, इसीमें सब विद्यायें गर्भित हैं, परन्तु वर्तमान शुक्रनीतिकर्ता चारों विद्याओंको राजविद्या मानता है—'विद्याश्चतस्र एवैताः' आदि (अ० १, श्लो० ५१)। अतएव इस शुक्रनीतिको शुक्रका मानना भ्रम है।

इन सब बातों पर विचार करनेसे हम टीकाकार पर यह दोष नहीं लगा सकते कि उसने स्वयं ही श्लोक गढ़कर मनु आदिके नाम पर मढ़ दिये हैं। हम यह नहीं कहते कि वर्तमान मनुस्मृति उक्त टीकाकारके बादकी है, इस लिए उस समय यह न उपलब्ध होगी। क्योंकि टीकाकारसे भी पहले मूलकर्ता श्रीसोमदेवसूरिने भी मनुके बीसों श्लोक उद्धृत किये हैं और वे वर्तमान मनुस्मृतिमें मिलते हैं, अतएव टीकाकारके समयमें भी यह मनुस्मृति अवश्य होगी, परन्तु इसकी जो प्रति उनके उपलब्ध होगी, उसमें टीकोद्धृत श्लोकोंका रहना असंभव नहीं माना जा सकता।

× देखो मोक्षमार्गप्रकाशका बम्बईका संस्करण पृष्ठ २०१।

* 'द्विजवदनचपेट' संस्कृत ग्रन्थ है, बा० द्यानचन्द्र श्रावक पं० कल्लाप्पा भरमाप्पा निटवेने 'जैनबोधक' में और स्वतन्त्र पुस्तकाकार भी, लगभग ई० १२-१४ वर्ष हुए, मराठी टीकासहित प्रकाशित किया था।

+ देखो गुजराती प्रेसकी शुक्रनीतिकी भूमिका।

यह भी संभव है कि किसी दूसरे ग्रन्थकर्त्ताने इन श्लोकोंको मनुके नामसे उद्धृत किया हो और उस ग्रन्थके आधारसे टीकाकारने भी उद्धृत कर लिया हो। जैसे कि अभी मोक्षमार्गप्रकाशके या द्विजवदनचपेटके आधारसे उनमें उद्धृत किये हुए मनुस्मृतिके श्लोकोंको, कोई नया लेखक अपने ग्रन्थमें भी लिख दे।

याज्ञवल्क्यस्मृतिके श्लोकके विषयमें भी यही बात कही जा सकती है। अब रही शुक्रनीति, सो उसकी प्राचीनतामें तो बहुत ही सन्देह है। वह तो इस टीकाकारसे भी पीछेकी रचना जान पड़ती है। इसके सिवाय शुक्रके नामसे तो टीकाकारने दो चार नहीं १७० के लगभग श्लोक उद्धृत किये हैं। तो क्या टीकाकारने ये सबके सब ही सूत्रकर्त्ताको नीचा दिखानेकी गरजसे गढ़ लिये होंगे? और सूत्रकर्त्ता तो इसमें अपनी कोई तौहीन ही नहीं समझते हैं। उन्होंने तो अपने यशस्तिलकमें न जाने कितने विद्वानोंके वाक्य और पद्य जगह जगह उद्धृत करके अपने विषयका प्रतिपादन किया है।

सोनीजीका दूसरा आक्षेप यह है कि टीकाकारने स्वयं ही बहुतसे सूत्र (वाक्य) गढ़कर मूलमें शामिल कर दिये हैं। विद्यावृद्धसमुद्देशके, नीचे लिखे २१ वें, ६३ वें और ६५ वें सूत्रोंको आप टीकाकारोंका बतलाते हैं:—

१—"पैशाचिकः शास्त्रीणां आगमारोऽघोरो गृहकथाः ॥" २१

२—"वालखिल्य औदुम्बरी वैश्वानराः सद्यःप्रक्षाल्यकश्चेति वानप्रस्थाः" ॥ ६३

३—"कुटीचरबहूदक-हंस-परमहंसा यतयः" ॥ ६५

इसका कारण आपने यह बतलाया है कि मुद्रित पुस्तकमें और हस्तलिखित मूल-पुस्तकमें ये सूत्र नहीं हैं। परन्तु इस कारणमें कोई बल नहीं दिखलाई देता क्योंकि-

१—जब तक इस ग्रन्थकी हस्तलिखित प्रतियाँ प्रमाणमें पेश न की जावें, तब तक यह नहीं माना जा सकता कि मुद्रित और मूलपुस्तकमें जो सूत्र नहीं हैं वे मूलग्रन्थके नहीं हैं—टीकाकारने जोड़ दिये हैं। इस तरहके हीन अधिक पाठ अक्सर जुदा जुदा प्रतियोंमें मिलते हैं।

२—मूलग्रन्थमें पहले वर्णोंके भेद बतलाकर फिर आश्रमोंके भेद बतलाये हैं- ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति। फिर ब्रह्मचारियोंके उपकुर्वाण, [illegible], और नैष्ठिक ये तीन भेद बतलाकर उनके लक्षण दिये हैं। इसके आगे गृहस्थ, वानप्रस्थ और यतियोंके लक्षण बतलाये हैं। अब यह स्वाभाविक और आवश्यक है कि ब्रह्मचारियोंके समान गृहस्थों, वानप्रस्थों और यतियोंके भी

भेद बतलाये गये हैं और वे ही उक्त तीन सूत्रोंमें बतलाये गये हैं। तब यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि प्रकरणके अनुसार उक्त तीनों सूत्र अवश्य रहने चाहिए और मूलकर्त्ताने ही उन्हें रचा होगा। जिन प्रतियोंमें उक्त सूत्र नहीं हैं, उनमें इन्हें भूलसे ही छूटे हुए समझने चाहिए।

३—यदि इस कारणसे ये मूलकर्त्ताके नहीं हैं कि इनमें बतलाये हुए भेद जैनसम्मत नहीं हैं, तो हमारा प्रश्न है कि उलूकांश, कणभुक् आदि मतवादियोंके भेद भी तो किसी जैनग्रन्थमें नहीं लिखे हैं, तब उनके सम्बन्धके जितने सूत्र हैं, उन्हें भी मूलकर्त्ताके नहीं मानने चाहिए। यदि सूत्रोंके मूलकर्त्ताकृत होनेकी यही कसौटी सोनीजी ठहरा देवें, तब तो इस ग्रन्थका आधेसे भी अधिक भाग टीकाकारकृत ठहर जायगा। क्योंकि इसमें सैकड़ों ही सूत्र ऐसे हैं जिनका जैनधर्मके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है और कोई भी विद्वान् उन्हें जैनसम्मत सिद्ध नहीं कर सकता।

४—जिसतरह टीकापुस्तकमें अनेक सूत्र अधिक हैं और जिन्हें सोनीजी टीकाकारोंकी गलत समझते हैं, उसी प्रकार मुद्रित और मूलपुस्तकमें भी कुछ सूत्र अधिक हैं (जो टीकापुस्तकमें नहीं हैं), तब उन्हें किसकी गलती समझनी चाहिए ? विद्यावृद्धसमुद्देशके ५९ वें सूत्रके आगे निम्नलिखित पाठ छूटा हुआ है जो मुद्रित और मूलपुस्तकमें मौजूद है:—

“सांख्यं योगो लोकायतं चान्वीक्षिकी। बौद्धार्हतोः श्रुतेः प्रतिपक्षत्वात् (नान्वीक्षिकीत्वं)। प्रकृतिपुरुषज्ञो हि राजा सत्त्वमवलम्बते। रजः फलं चापलं च परिहरति, तमसाभिर्नाभिभूयते।”

भला इन सूत्रोंको टीकाकारने क्यों छोड़ दिया? इनमें कही हुई बातें तो उसके प्रतिकूल नहीं थीं? और मुद्रित तथा मूलपुस्तक दोनों ही यदि जैनोंके लिए विशेष प्रामाणिक माना जावे तो उनमें यह अधिक पाठ नहीं होना चाहिए था। क्योंकि इसमें वेदविरोधी होनेके कारण जैन और बौद्धदर्शनको आन्वीक्षिकीमेंसे बाहर कर दिया है। और मुद्रितपुस्तकमें तो मूलकर्त्ताके मंगलाचरण तकका अभाव है। वास्तविक बात यह है कि न इसमें टीकाकारका दोष है और न मुद्रित करानेवालेका। जिसे जैसी प्रति मिली है उसने उसीके अनुसार टीका लिखी है और पाठ छपाया है। एक प्रतिसे दूसरी और दूसरीसे तीसरी इस तरह प्रतियाँ होते होते लेखकोंके प्रमादसे अकसर पाठ छूट जाते हैं और टिप्पण आदि मूलमें शामिल हो जाते हैं।

हम समझते हैं कि इन बातोंसे पाठकोंका यह भ्रम दूर हो जायगा कि टीकाकारने कुछ सूत्र गढ़कर रचकर मूलमें जोड़ दिये हैं। यह केवल पंडितजीकी कल्पनाकी उपज है और निस्सार है। खेद है कि हमें उनकी भ्रममूलक टिप्पणियोंके कारण भूमिकाका इतना अधिक स्थान रोकना पड़ा।

एक विचारणीय प्रश्न।

इस आशासे अधिक बढ़ी हुई भूमिकाको समाप्त करनेके पहले हम अपने पाठकोंका ध्यान इस ओर विशेषरूपसे आकर्षित करना चाहते हैं कि वे इस ग्रन्थका जरा गहराईके साथ अध्ययन करें और देखें कि इसका जैनधर्मसे क्या सम्बन्ध है। हमारी समझमें तो इसका जैनधर्मसे बहुत ही कम मेल खाता है। राजनीति यदि धर्मनिरपेक्ष है, अर्थात् वह किसी विशेष धर्मका पक्ष नहीं करती, तो फिर इसका जिस प्रकार जैनधर्मसे कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है उसी प्रकार और धर्मोंसे भी नहीं रहना चाहिए था। परंतु हम देखते हैं कि इसका वर्णाचार और आश्रमाचारकी व्यवस्थाके लिए वैदिक साहित्यकी ओर बहुत अधिक झुकाव है। इस ग्रन्थके विद्यावृद्ध, आन्वीक्षिकी और त्रयी समुद्देशोंको अच्छी तरह पढ़नेसे पाठक हमारे अभिप्रायको अच्छी तरह समझ जावेंगे। जैनधर्मके मर्मज्ञ विद्वानोंको चाहिए कि वे इस प्रश्नका विचारपूर्वक समाधान करें कि एक जैनाचार्यकी कृतिमें आन्वीक्षिकी और त्रयीको इतनी अधिक प्रधानता क्यों दी गई है।

यशस्तिलकके नीचे लिखे पद्योंको भी इस प्रश्नका उत्तर सोचते समय सामने रख लेना चाहिए:—

द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः।
लोकाश्रयो भवेदाद्यः परस्स्यादागमाश्रयः॥
जातयोऽनादयः सर्वास्तत्क्रियापि तथाविधा।
श्रुतिः शास्त्रान्तरं वास्तु प्रमाणं कात्र न क्षतिः॥
स्वजात्यैव विशुद्धानां वर्णानामिह रत्नवत्।
तत्क्रियाविनियोगाय जैनागमविधिः परम्॥
यद्भवभ्रान्तिनिर्मुक्तिहेतुधीस्तत्र दुर्लभा।
संसारव्यवहारे तु स्वतःसिद्धे वृथागमः॥

तथा च—

र्ये एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः ।
त्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥

सोमदेवसूरि वर्णाश्रमव्यवस्था और तत्सम्बन्धी वैदिक साहित्यको तो नहीं मानते हैं । और इसी लिए तो यह नहीं कहते हैं कि रयमें श्रुति (वेद) और शास्त्रान्तर (स्मृतियाँ) प्रमाण माने जायँ क्या हानि है ? राजनीति भी तो लौकिक शास्त्र ही है । आशा है कि विद्वज्जन इस प्रश्नको ऐसा ही न पड़ा रहने देंगे ।

मुद्रण-परिचय ।

कोई २५ वर्ष पहले बम्बईकी मेसर्स गोपाल नारायण कम्पनीने इस ग्रन्थको न व्याख्याके साथ प्रकाशित किया था और लगभग उसी समय बड़ोदानरेशने इसके मराठी और गुजराती अनुवाद प्रकाशित कराये तीनों संस्करणोंको देखकर—जिन दिनों मैं स्वर्गीय स्याद्वादवारिधि ालदासजीकी अधीनतामें जैनमित्रका सम्पादन करता था—मेरी इच्छा न्दी अनुवाद करनेकी हुई और तदनुसार मैंने इसके कई समुद्देशोंका जैनमित्रमें प्रकाशित भी किया, परन्तु इसके आन्वीक्षिकी और त्रयी देशोंका जैनधर्मके साथ कोई सामञ्जस्य न कर सकनेके कारण मैं र्यको अधूरा ही छोड़ कर इसकी संस्कृत टीकाकी खोज करने लगा । इतने दिनोंके बाद, यह टीका प्राप्त हुई और अब यह माणिकचन्द्र-नालाके द्वारा प्रकाशित की जा रही है । खेद है कि इसके मध्यके २५-२६ गायब हैं और वे तलाश करनेपर भी नहीं मिले । इसके सिवाय इसकी कोई री प्रति भी न मिल सकी और इस कारण इसका संशोधन जैसा चाहिए वैसा कराया जा सका । मूल ग्रन्थ और टीकामें भी बहुतसी अशुद्धियाँ रह हैं । फिर भी हमें आशा है कि मूलग्रन्थके समझनेमें इस टीकासे काफी यता मिलेगी और इसे शुद्ध करनेमें भी इससे सहायता मिलेगी। इसके अनुवादमें भी इसका उपयोग करना लाभदायक होगा ।

हस्तलिखित प्रतिका इतिहास ।

ल जैनसमाजमें शास्त्रदान करना एक विस्मृतसा प्रकरण है। ानी दुष्कर ग्रन्थ लिखा है और जैनसाधुओं और विद्वान

...ना करते थे और इस उपक्रमसे अपने ज्ञानावरणीय कर्मका निवारण करते थे। ...न्होंने तो इस कार्यके लिए लेखनशालायें ही खोल रक्खी थीं जिनमें निरन्तर ...चीन अर्वाचीन ग्रन्थोंकी प्रतियाँ होती रहती थीं। यही कारण है जो उस ...मय मुद्रणकला न रहने पर भी ग्रन्थोंका यथेष्ट प्रचार रहता था और इनका ...कास मन्द नहीं होने पाता था। स्त्रियोंका इस ओर और भी अधिक लक्ष ...। हमने ऐसे पचासों हस्तलिखित ग्रन्थ देखे हैं जो धर्मात्मा स्त्रियोंके ...रा ही दान किये गये हैं।

इस शास्त्रदान प्रथाको उत्तेजित करनेके लिए उस समयके विद्वान् प्रायः ...रेक दान किये हुए ग्रन्थके अन्तमें दाताकी प्रशस्ति लिख दिया करते थे ...समें दाताका और उसके कुटुम्बका गुणकीर्तन रहा करता था। हमारे प्राचीन ...स्तक भंडारोंके ग्रन्थोंमेंसे इस तरहकी हजारों प्रशस्तियाँ संग्रह की जा सकती हैं ...नसे ऐतिहासिक कार्योंमें बहुत कुछ सहायता मिल सकती है।

...नीतिवाक्यामृतटीकाकी वह प्रति भी जिसके आधारसे यह ग्रन्थ मुद्रित ...या है इसी प्रकार एक धनी गृहस्थकी धर्मात्मा भार्याके द्वारा दान की गई थी। ...सके अन्तमें जो प्रशस्ति दी हुई है, उससे मालूम होता है कि कार्तिक ... [illegible] १०७१ को, हिसार नगरके [illegible], गुजरात ... ([illegible]) के [illegible], यह प्रति दान की गई थी।

[illegible]

[illegible]

पण्डित मेहा या मीहाका दूसरा नाम पं॰ मेधावी था। ये वही मेधावी हैं जिन्होंने धर्मसंग्रहश्रावकाचार नामका ग्रन्थ बनाया है और जो मुद्रित हो चुका है। पं॰ मीहा अपनी गुरुपरम्पराके विषयमें कहते हैं कि नन्दिसंघ, बलात्कारगण और सरस्वतीगच्छके भट्टारक पद्मनन्दिके शिष्य भ॰ शुभचन्द्र और उनके शिष्य भ॰ जिनचन्द्र मेरे गुरु थे। जिनचन्द्रके दो शिष्य और थे—एक रत्ननन्दि और दूसरे विमलकीर्ति।

यह पुस्तकदाताकी प्रशस्ति पं॰ मेधावीकी ही लिखी हुई मालूम होती है। उन्होंने त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति, मूलाचारकी वसुनन्दिवृत्ति आदि ग्रन्थोंमें और भी कई बड़ी बड़ी प्रशस्तियाँ लिखी हैं। वसुनन्दि वृत्तिकी प्रशस्ति वि॰ सं॰ १५१६ की और त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति की १५१९ की लिखी हुई है *। धर्मसंग्रहश्रावकाचार उन्होंने कार्तिक वदी १३ सं॰ १५४१ को समाप्त किया है। नीतिवाक्यामृतटीकाकी यह प्रशस्ति धर्मसंग्रहके समाप्त होनेके कोई आठ दिन बाद ही लिखी गई है।

धर्मसंग्रहमें पं॰ मेधावीने अपने पिताका नाम उद्धरण, माताका भीषुही और गुरुका जिनदास लिखा है। वे अग्रवाल जातिके थे और अपने समयके एक प्रसिद्ध विद्वान् थे। उन्होंने दक्षिणके पुस्तकगच्छके आचार्य श्रुतमुनिसे अन्य कई विद्वानोंके साथ अष्टसहस्री (विद्यानन्दस्वामीकृत) पढ़ी थी। जान पड़ता है कि उस समय हिसारमें जैन विद्वानोंका अच्छा समूह था। भट्टारकोंकी गद्दी भी शायद वहीं पर थी।

यह टीकापुस्तक हिसारसे आमेरके पुस्तक भंडारमें कब और कैसी पहुँची, इसका कोई पता नहीं है। आमेरके भंडारमेंसे सं॰ १९६४ में भट्टारक महेन्द्रकीर्ति द्वारा यह बाहर निकाली गई और उसके बाद जयपुर निवासी प॰ इन्द्रलालजी शास्त्रीके प्रयत्नसे हमको इसकी प्राप्ति हुई। इसके लिए हम भट्टारकजी और शास्त्रीजी दोनोंके कृतज्ञ हैं।

इस प्रतिमें ११३ पत्र हैं और प्रत्येक पृष्ठमें प्राय २० पंक्तियाँ हैं। प्रत्येक पत्रकी लम्बाई ११॥ इंच और चौड़ाई ५॥ इससे कुछ कम है। ७१ से ७५ तक पत्र मौजूद नहीं है।

बम्बई।
वैशाखशुक्ला तृतीया
१९८० वि॰।

निवेदक—
नाथूराम प्रेमी।

* देखो जैनहितैषी भाग १०, अंक ३-४।

विषय-सूची ।

ॐ

श्रीवीतरागाय नमो नमः।

श्रीमत्सोमदेवसूरिविरचितं

नीतिवाक्यामृतम्।

सटीकम्।

१ धर्मसमुद्देशः।

हरिं हरिबलं नत्वा हरिवर्णं हरिप्रभम्।
हरीज्यं च ब्रुवे टीकां नीतिवाक्यामृतोपरि ॥ १ ॥

टीका—अहं ब्रुवे वच्मि। काम्? कर्मतापन्नां टीकाम्। क्व? नीतिवाक्य
तोपरि—नीतिवाक्यान्येवामृतं नीतिवाक्यामृतं तस्योपरि तदर्थमित्यर्थः
कृत्वा? नत्वा। कं? हरिं—वासुदेवं। किंविशिष्टं हरिं? हरिब
र्यायुस्तस्येव बलं यस्यासौ हरिबलस्तं हरिबलं। पुनरपि कथंभूत
र्ण—हरिशब्देन मरकतमणिर्वर्ण्यते तद्वद्वर्णो यस्यासौ हरिवर्णस्त
र्णं। पुनरपि कथंभूतं? हरिप्रभं—हरिरादित्यस्तद्वत् प्रभा तेजो
या यस्यासौ हरिप्रभस्तं हरिप्रभं। पुनरपि कथंभूतं? हरीज्य
न्द्रस्तस्येज्यः पूज्यो हरीज्यस्तं हरीज्यमिति ॥

सहोमया गौर्या वर्त्तत इति सोमस्तं । उमाशब्दस्य बहुष्वर्थेषु वर्त्तमानत्वेऽप्यत्र गौर्येवोच्यते प्रस्तावादौचित्याद्वा, यतः प्रस्तावादौचित्यादुपमानदेशकालयुक्तिवशाच्छब्दार्थावगतिः, न तु शब्दात्केवलादेव । सोमसमाकारमिति—सहोमया कीर्त्या वर्त्तत इति सोमः । तथा हि—

> गौरीश्रीभारतीकांतिकीर्तिदुर्गापुलोमजाः ।
> उमाशब्देन कथ्यंते कार्यस्तुंगोपमाचिवः ॥ १ ॥

सह मया लक्ष्म्याऽणिमादिगुणैश्वर्यरूपया वर्त्तते इति समः ।

> चन्द्रे शब्दमि लक्ष्म्यां च तथा शंकानिषेधयोः ।
> माने माशब्दसंबंधः कथ्यते शब्दचिन्तकैः ॥ १ ॥

सोमश्चासौ समश्च सोमसमः सोमसम आकारो यस्य तं कीर्तिलक्ष्मीसमाविशितशरीरावयवसंहतिं । सोमाभमिति—सोमस्येवाभा यस्यासौ सोमाभः चन्द्रकान्तिः । तथा हि—

> ध्यायेद्दशभुजं शांतं कुन्देन्दुधवलं शिवं ॥ १ ॥

इत्यागमः । तथा भस्मावगुंठनात्पांडुरगात्रस्तं । सोमममिति—सोमसंबंधात्सोमामणिप्रभृतिकोऽपि यज्ञात: सोमशब्देनोपचारादभिधीयते । "षोऽन्तकर्मणि" धातोः सोमं स्यतीति वाक्ये आतोऽनुपसर्गेकप्रत्यये कृते सति सोमसमिति सिद्धे नाति तं सोमसं । श्रूयते हि दक्षाध्वरे दाक्षायिणीकोपितेन भगवता भवानीपतिना तच्छिरश्छेदः कृत इति । तथा च शिवपुराणे,—

> "छिन्नं शिरो भगवताऽस्य महेश्वरेण
> दक्षाध्वरस्य कुपितेन कृते भवान्या" इत्यादि ।

यथा च मार्कण्डेये, –

> चिच्छेद भगवान् मुख्यं शिरो यज्ञस्य शंकरः ॥ १ ॥

सोमेन दीव्यति द्युतिमान् भवति सोमेनोपलक्षितो देवः सोमदेवश्चन्द्रमौलिस्तं। मुनिमिति "मीञ् हिंसायां" मीनाति हिनस्ति काले कालाग्निरुद्ररूपेण चराचराणि भूतानीति मुनिस्तं । इत्यादिसंज्ञाशब्दानां निपातकालसिद्धिः। तमित्थंभूतं देवं नत्वा नीतिवाक्यामृतं ब्रवे। इत्येकः पक्षे महेश्वरः ॥

अथाच्युतं प्रति व्याख्या—तत्र विशेष्यं पदं सोमदेवमिति—सोमसंबंधात् सोमशब्देन यज्ञोऽप्युपचर्यते, सोमे यज्ञे दीव्यते देववाक्यैः स्तूयते यथा सोमदेवस्य यज्ञस्य देवप्रभुः क्रतुपुरुष इति यावत् तं नत्वा नीतिवाक्यामृतं ब्रुव इति संबंधः । कथंभूतं ? सोमं—सलक्ष्मीकं । सोमसमाकारं—उकारो ब्रह्मा मकारो महेश्वरस्तथा चागमः;—

अकारेण भवेद्विष्णुर्मकारेण महेश्वरः ।
उकारश्च स्वयं ब्रह्मा प्रणवे त्रितयं स्थितम् ॥ १ ॥

एवं उश्च मश्च उं सह उंम्यां वर्तत इति सों त्रयीमूर्तिः। यथा चागमः;—

यो ब्रह्मा स स्वयं विष्णुर्यो विष्णुः स महेश्वरः ।
एका मूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥ १ ॥

कालिदासोऽप्येवमाह—" नमस्त्रिमूर्त्तये तुभ्य " मित्यादि । असमसाकारमिति—असमा महाप्रमाणा आकाराः प्रादुर्भावा मत्स्यकूर्म-वाराहनिग्रहणानि यस्य स तथा। सों चासौ असमाकारश्च सोमसमाकारस्तं सोमसमाकारं । सोमाभमिति—उमा अतसी तत्पुष्पेऽपि उमाशब्द उपचर्यते तथा गुणनिधिकविनाथ इति, उमापदाभोगाभा सदोमाभया वर्तत इति सोमाभः कृष्णवर्णस्तं । सोमगर्भं—सोमाः सश्रीका. संभवा वामनरामनृसिंहादयो जन्मावतारा यस्य स तथा तं।

१ विष्णुपक्षे सोमसमाकारमित्यत्र सों, असमाकारं इति पदद्वयम् ।
२ कृष्णशब्दोऽत्र द्वितीय. पुस्तके ।

गुप्तिर्यस्यासवकारः सोमसमथासावकारश्च सोमसमाकारस्तं । सोमसंभवमिति—सोमे सोमवंशे संभवति स तथा तं। तथा हि—

सोमवंशोद्भवं शुभ्रं जिनं चन्द्रप्रभं स्तुवे ॥ ? ॥

सोमेन दीव्यतेऽवगम्यते " सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः " स तथा तं। मुनिमिति—मनुते जानाति सकल कल्पनाकलितचतुर्दशभुवनोदरवर्तित्रिकालविषयवस्तुविशेषानिति मुनिस्तं । इति चतुर्थ आर्हतः पक्षः ॥

अथ तदाराध्यक्षपणकपक्षे व्याख्या—तत्र सोमदेवाख्यं मुनिं नत्वा नीतिवाक्यं ब्रुवे इति सम्बन्धः । किंभूतं ? सोमं—सोम इव सोमस्तं सोमं शं (शां) तं । सोमसमाकारमिति–सह उमया तपःप्रभावजनितया कीर्त्या वर्तते सोमः कान्तः, समो विषमोन्नतह्रस्वदीर्घादिदोषरहित आकार. शरीरसमुदायो यस्य स कान्तलक्षणकायस्तं । तथा सोमाभमिति—सा मा हा (!) लाभलक्षणा श्रेयसी। तथा च—

मा तासां सम्पदं संज्ञा इति,।

आ कीर्ति कारण्यता यथा—

" स्वधर्माविंपादकाकण्यमेदमंत्रणकर्मसु " उमित्योंकार....सु सम्बन्धदन्या इति धनिनश्च । सा च आ च उमा च, सोमाभिर्भातीति सोमाभस्तं । सोमसंभवमिति—सोमो रौद्रः संभवो जन्म यस्य । तथा च श्रुति शास्त्र —

सौम्ये मुहूर्ते सत्कलत्रे शान्तेऽपि शुभोदिते लग्ने
उत्पद्यन्ते धनधर्मवीर्यसौभाग्येन पुरुषाः ।

मुनिमिति—मानयति पूजयति अर्हदाचार्योपाध्यायश्रमणानिति मुनिस्तं । इति पंचमोऽर्थः ॥

ग्रन्थारम्भे मुनिनमस्कृतिमाह—

सोमं सोमसमाकारं सोमाभं सोमसंभवम् ।
सोमदेवं मुनिं नत्वा नीतिवाक्यामृतं ब्रुवे ॥ १ ॥

अहं ब्रुवे—वच्मि । किं तत् ? नीतिवाक्यामृते—नयवचनपीयूषे । किं कृत्वा ? नत्वा । कं ? मुनिं । किमभिधानं ? सोमदेवं । किं विशिष्टं ? सोमसंभवं—सोमः कश्चित्पुरुषविशेषस्तस्मात्संभवो यस्यासौ सोमसम्भवस्तं सोमसंभवं । पुनरपि किंभूतं ? सोमं—उमाशब्देन कीर्तिरभिधीयते तया सह वर्तते इति सोमस्तं सोमं । पुनरपि किंभूतं ? सोमसमाकारं—सोमः कुबेरस्तद्वदाकारो मूर्तिलक्षणो यस्यासौ सोमसमाकारः, यत: सोमेन कुबेरेण साश्रिता सौम्यादिक् उत्तरोच्यते । तथा सोमाभं—सोमश्चन्द्रमास्तद्वदाभा कान्तिर्यस्यासौ सोमाभस्तं सोमाभम् ।

अथ राज्यनमस्कृतिमाह—

अथ धर्मार्थकामफलाय राज्याय नमः ।

टीका—अथ सोमदेवमुनिनमस्कृतेरनन्तरं, नमो नमस्कारोऽस्तु । कस्मै ? राज्याय । किंविशिष्टाय ? धर्मार्थकामफलाय । तथा च वल्लभदेवः—

> गजाश्वपूर्वकं दानं कोशश्चापि निरर्गलः ।
> अन्तःपुरं मनोहारि न स्याद्राज्यं विना नृणां ॥ १ ॥

ननु कस्मादाचार्येण क्षपणकव्रतधारिणा सता तीर्थकरान् परित्यज्य मुनेर्मनुष्यमात्रस्य राज्यस्य च नमस्कृतिः कृता ? तदत्र विषये आचार्यस्याभिप्रायः कथ्यते—एतेनाचार्येण बार्हस्पत्यं औशनस्यं च नीतिशास्त्रद्वयं विलोक्यैतन्नीतिवाक्यामृतं कृतं । यतो बृहस्पतिना मुनेर्नमस्कारः कृतः शुक्रेण तु राज्याय । तत्र तावद्बृहस्पतिकृता नमस्कृतिर्लिख्यते—

> वाचा कायेन मनसा प्रणम्याङ्गिरसं मुनिम् ।
> नीतिशास्त्रं प्रवक्ष्यामि भूपतीनां सुखावहम् ॥ १ ॥

अथ शुक्रः—

> नमोऽस्तु राज्यवृक्षाय षाड्गुण्याय प्रशाखिने ।
> सामादिचारुपुष्पाय त्रिवर्गफलदायिने ॥ १ ॥

१ नेदं शुक्रनीतौ ।

एतस्मात्कारणादाचार्येणापि तीर्थकराननुसृज्य "महाजनो येन गतः स पन्थाः" इति वचनमाश्रित्य मुने राज्यस्य च नमस्कृतिः कृता। तथा च भगवता व्यासेनोक्तं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ १ ॥ इति।

अथ धर्मलक्षणमाह—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥ १ ॥

टीका—अभ्युदयशब्देनात्र स्वर्गः प्रोच्यते, यतो यस्मात् स्वर्गप्राप्तिर्भवति तथा निःश्रेयसस्य मोक्षस्य सिद्धिर्भवति स धर्मः। न पुनर्यः कौलनास्तिकैरुक्तः स्त्रीसेवामद्यपानादिलक्षणः। उक्तं च यतो नारदेन—

नास्तिकोक्तस्तु यो धर्मस्तं विद्यात्केवलं मलं।
सुरापानाद्यतः स्वर्गस्तत्रोक्तश्चाङ्गनिषेवणात् ॥ १ ॥

अथाधर्मस्य लक्षणमाह—

अधर्मः पुनरेतद्विपरीतफलः ॥ २ ॥

टीका—अधर्मस्तु पुनरेतस्य पूर्वोक्तस्य विपरीतफलः। यत्र न स्वर्गसिद्धिर्न मोक्षसिद्धिश्च। तथापि स धर्मः कौलैर्नास्तिकैश्च कथ्यते परं न भवति यतः स मद्यमांसस्त्रीनिषेवणद्वारेण। तथा च नारदः—

मद्यमांसाङ्गनासंसर्गेयो धर्मः कौलसम्मतः।
केवलं नरकायैव न स कार्यो विवेकिभिः ॥ १ ॥

अथ धर्माधिगमोपायानाह—

आत्मवत्परत्र कुशलवृत्तिचिन्तनं शक्तितस्त्यागतपसी च धर्माधिगमोपायाः ॥ ३ ॥

टीका—त्यागः कार्यः शक्तितः। उक्तं च यतः शुक्रेण—

---

१ नैतद्युक्तं समीचीनं। २—'नारद.' इति पुस्तके पाठः।

आत्मवित्तानुसारेण त्यागः कार्यो विवेकिना ।
अर्थेन येन नो पीडा कुटुम्बस्य प्रजायते ॥ १ ॥
कुटुम्बं पीडयित्वा तु यो धर्मं कुरुते कुधीः ।
न स धर्मो हि पापं तद्देहान्तपाताय केवलम् ॥ २ ॥

तथा शक्तितः शरीरस्य तपः कार्यं । तथा च गुरुः—

शरीरं पीडयित्वा तु यो व्रतानि समाचरेत् ।
न तस्य प्रीयते ह्यात्मा तत्पुण्यस्तस्य चाचरेत् ॥ १ ॥

इत्येवं धर्माधिगमोपाया सर्वेऽपि दर्शिताः शक्तितः कर्तव्या इति ।

अथ सर्वाचरणानां च प्रधानमाचरणं तदाह—

सर्वसत्त्वेषु हि समता सर्वाचरणानां परमाचरणम् ॥ ४ ॥

टीका—समतारूपेण निर्वैरता कथ्यते सा यस्य पुरुषस्य भवति सर्वप्राणिसमूहोपरि तत्तस्य परमाचरणं कृतं कथ्यते । यानीहान्यान्याचरणानि स्नानदानजपहोमपूर्वाणि शुभकृत्यानि तेषां मध्ये येषां निर्वैरता सर्वसत्त्वानामुपरि दया तत्प्रधानमाचरणं । तथा च नारदः—

यूकामत्कुणदंशाद्यानपि पाल्यानि पुत्रवत् ।
एतदाचरणं श्रेष्ठं यस्यासौ वैरसंक्षयः ॥ १ ॥

अथ कथंभूतानां पुण्यानां पद्धति तदाह—

न खलु भूतद्रुहां कापि क्रिया प्रसूते श्रेयांसि ॥ ५ ॥

टीका—भूतानि चतुर्विधानि स्वेदजाण्डजजरायुजोद्भिज्जसंज्ञानि तानि ये द्रुह्यन्ति व्यापादयन्ति तेषां काचिदपि क्रिया शुभापि क्रियमाणा नि श्रेयांसि कल्याणानि न प्रसूते न जनयति, कोऽर्थो व्यसनाद्व्यसनमुत्पद्यते । तथा च व्यासः—

अहिंसकानि भूतानि यो हिनस्ति स निर्दयः ।
तस्य धर्मक्रिया व्यर्था यद्वत्ते पापदः सदा ॥ १ ॥

१ परम चरण इति मुद्रितपुस्तके पाठः ।

अथाहिंसकानां यद्भवति तदाह—

परत्राजिघांसुमनसां व्रतरिक्तमपि चित्तं स्वर्गाय जायते ॥ ६ ॥

टीका—परत्र शब्देन सर्वोऽपि जनः कथ्यते, तत्र विषयेऽजिघांसुमनसामद्रोहचित्तानां यच्चित्तं दयान्वितं भवति तद्व्रतरिक्तमपि प्रव्रज्यारिक्तमपि स्वर्गार्थं भवतीत्यर्थः। तथा च व्यासः—

येषां परविनाशाय नात्र चित्तं प्रवर्तते ।
अव्रता अपि ते मर्त्याः स्वर्गं यान्ति दयान्विताः ॥ १ ॥

अथासत्यागे कृते यद्भवति तदाह—

स खलु त्यागो देशत्यागाय यस्मिन् कृते भवत्यात्मनो दौःस्थित्यम् ॥ ७ ॥

टीका—अत्रात्मशब्देन सकलमपि कुटुम्बं ग्राह्यं। तथा च शुक्रः—

आगतेरधिकं त्यागं यः कुर्यात्तत्सुतादयः ।
दुःस्थिताः स्युः ऋणग्रस्ताः सोऽपि देशान्तरं व्रजेत् ॥ १ ॥

अथाविद्यमानं यो याचते तत्स्वरूपमाह—

स खल्वर्थी परिपन्थी यः परस्य दौःस्थित्यं जानन्नप्यभिलषत्यर्थम् ॥ ८ ॥

टीका—स पुरुषः खलु निश्चयेन परिपन्थी शत्रुभूतः' यः किं कुर्यात्? यो जानन्नपि परस्य दारिद्र्यमविद्यमानमभिलषति याचते। तथा च बृहस्पति —

असन्तमपि यो लौल्याज्जानन्नपि च याचते ।
साधुः स तस्य शत्रुर्हि, यद्दाना दुःखमायच्छति ? ॥ १ ॥

अथ तद्व्रताशक्त्या यद्व्रतं क्रियते तदर्थमाह—

तद्व्रतमाचरितव्यं यत्र न संशयतुलामारोहतः शरीरमनसी ॥९॥

टीका—पुरुषेण नार्या वा तद्व्रते नियमग्रहणं आचरितव्यं का-र्यमिति, यस्मिन् कृते भैरायकुलो सन्देहं नारोहति न पततः । के दर्शयमननी आचरिते । तथा च चारायणः—

> श्रद्धया यः शरीरस्य व्रत नियमेव वा ।
> कार्यायासौ भवेत्तस्मात् पश्चात्तापात्फलच्युतिः ॥१॥

अथ त्यागस्य माहात्म्यमाह—

ऐहिकामुत्रिकफलार्थमर्थव्ययस्त्यागः ॥१०॥

टीका—ऐहिकं मर्त्यलोकोद्भवं, आमुत्रिकं स्वर्गलोकोत्पन्नं फलं यस्मिन् त्यागे कृते भवति स त्यागः । योऽन्य. स वित्तक्षय एव, ऐहि-कामुत्रिकफलवर्जितो व्यसनेन च क्रियते इति । तथा च चारायणः—

> धूर्ते वन्दिनि मल्ले च कुवैद्ये कितवे शठे ।
> चाटुचारणचौरेषु दत्तं भवति निष्फलम् ॥ १ ॥

अथापात्रदानं यद्भवति तदाह—

भस्मनि हुतमिवापात्रेष्वर्थव्ययः ॥ ११ ॥

टीका—न केवलं मूर्ख एवापात्रं, कुभृत्ये कुवाहने कुशास्त्रे कुतप-स्विनि कुविप्रे कुशामिनि यो व्ययः स भस्महोमनिभिरेव । ऐहिकामु-त्रिकवर्जितो निष्फल एव । तथा च नारदः—

> कुभृत्ये च कुयाने च कुशास्त्रे कुतपस्विनि ।
> कुविप्रे कुस्थिते नाशं व्यया भस्महुतं यथा ॥१॥

अथाचार्यमतेन पात्रस्वरूपमाह—

पात्रं च त्रिविधं धर्मपात्रं कार्यपात्रं कामपात्रं चेति ॥ १२ ॥

टीका—अत्र धर्मपात्र [illegible]

---

१ [illegible] (ग)

[illegible]

[illegible]कं । पशुनः कार्यनो तत्प्रयोजनप्रमाणमीहितं च । पशुनः कार्यमन्यं [illegible]ागमीहितं पारितं च । तथा च वशिष्ठ—

> न्यायेन धर्मेणार्थं च कार्यपात्रमिदं स्मृतं ।
> कामयाने निजा कान्ता लोकद्वयप्रदायके ॥ १ ॥

अथ कीर्तिगुणमाह—

किं तया कीर्त्या या आश्रितान्न बिभर्ति, प्रतिरुणद्धि वा धर्मं भागीरथी श्रीपर्वतवद्भावानामन्यदेव प्रसिद्धेः कारणं न पुनस्त्यागः यतो न खलु गृहीतारो व्यापिनः सनातनाश्च ॥ १३ ॥

[illegible] — [illegible] [illegible]) [illegible] । तथा च विदुर—

> [illegible] ।
> [illegible] ॥ १ ॥

[illegible] —

> [illegible] ।
> [illegible] ॥ १ ॥

[illegible] —

[illegible]

[illegible]

टीका—यत्र धीमत्यर्थे विद्यमानेऽसंविभागः सामान्यभोजनाच्छादनादीनि न भवन्ति । केषां ? शरणागतानां समाश्रितानां, सोऽर्थो मनुष्याणां मा भूत् मा भवतु । तथा च वल्लभदेवः—

> किं तया क्रियते लक्ष्म्या या वधूरिव केवला।
> या न वेश्येव सामान्या पथिकैरुपभुज्यते ॥ १ ॥

अथार्थलुब्धस्य यद्भवति तदाह—

अर्थिषु संविभागः स्वयमुपभोगश्चार्थस्य हि द्वे फले, नास्त्यौचित्यमेकान्तलुब्धस्य ॥ १५ ॥ *

टीका—एकान्तमनवरतं अर्थलुब्धस्य पुरुषस्यौचित्यं नास्ति । कोऽर्थो यस्य योग्यं तद्भाग्न करोति । तथा च गुरुः—

> लोभात्समुद्रतरणं लोभात्पापनिषेवणं ।
> ब्राह्मणोऽपि करोत्यत्र तस्मात्तं नाति कारयेत् ॥ १ ॥

अथ लुब्धस्य प्रशंसामाह—

स खलु लुब्धो यस्सत्सु विनियोगादात्मना सह जन्मान्तरेषु नयत्यर्थम् ॥ १६ ॥

टीका—स खलु लुब्धो लोलुपी स स्यात् यः सत्सु विनियोगात् साधुजनेभ्यो दत्वार्थं पश्चादात्मना सह नयति । एतदुक्तं भवति—साधुजनदत्तं दातुर्धनमक्षयं स्यात् सर्वास्वपि योनिषु तदुपतिष्ठते तस्मान्नार्थलुब्धो लुब्ध इत्थंभूतो लुब्धः कथ्यते । तथा च वर्गः—

> दत्तं पात्रेऽत्र यद्दानं जायते चाक्षयं हि तत् ।
> जन्मान्तरेषु सर्वेषु दातुर्धेयोपतिष्ठते ॥ १ ॥

अथ याचकस्य यथा यत्राभक्ष्याणि भवन्ति तदाह—

---

* अस्मात्प्रभृति 'दानप्रियवचनाभ्यामर्थस्य हि सत्पात्रस्य गमनं औचित्यं इत्यधिकः पाठः पुस्तकान्तरे

अदातुः प्रियालापोऽन्यस्य लाभस्यान्तरायः ॥ १७ ॥

टीका—याचकस्यादाता पुरुषो यः प्रियं वक्ति सोऽन्यलाभान्तरायोऽन्यलाभविनाशकारीत्यर्थः । तथा च वर्गः—

प्रत्याख्यानमदातानां याचकाय करोति यः
तत्क्षणाद्वैव तस्याशा वृथा स्यान्नैव दुःखदा ॥ १ ॥

अथ दरिद्रस्य यद्भवति तदाह—

सदैव दुःस्थितानां को नाम बन्धुः ॥ १८ ॥

टीका—सदैव सर्वकालमपि दुःस्थितानां दरिद्राणां को नामाहो बन्धुः, न कोपीत्यर्थः । तथा च जैमिनिः—

उपकर्तुमपि प्राप्तं निःस्वं दृष्ट्वा स्वमन्दिरे ।
गुप्तं करोति चात्मानं गृही याचनशंकया ॥ १ ॥

अथ याचकदूषणमाह—

नित्यमर्थयतां को नाम नोद्विजते ॥ १९ ॥

टीका—सर्वदा सर्वकालं प्रार्थयतां को नामाहो नोद्विजते नोद्वेगं करोति निजपुत्राणामपि । तथा च व्यासः—

मित्रैर्वं बन्धुवानौ धातिप्रार्थनार्दित कुर्यात् । ?
अपि वत्समतिपिबन्तं विषाणैरधिक्षिपति धेनुः ॥ १ ॥

अथ तप स्वरूपमाह—

इन्द्रियमनसोर्नियमानुष्ठानं तपः ॥ २० ॥

टीका—इन्द्रियं च मनश्चेन्द्रियमनसी तयोर्नियमानुष्ठानं तदेव तपः, न केवलं लिंगधारणं । तथा च व्यासः—

---

१ अन्यत्रेति पाठान्तरं । २ लाभान्तराय इत्यन्यत्र । ३ दुःखस्थितानामिति मुद्रितपुस्तके । ४ अर्थयमानात् इति मुद्रितलिखितमूलपुस्तके ।

यदि पठति च दृष्टं गङ्गपूर्णं करण्डं
यदि वसति गुहायां वृक्षमूले शिलायां ।
यदि पठति पुराणं वेदसिद्धान्ततत्त्वं
यदि हृदयमशुद्धं सर्वमेतन्न किञ्चित् ॥ १ ॥

तथा च विदुरः—

पञ्चेन्द्रियस्य मर्त्यस्य छिद्रं चेदेकमिन्द्रियं ।
ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकं ॥ २ ॥

अथ नियमलक्षणमाह—

विहिताचरणं निषिद्धपरिवर्जनं च नियमः ॥ २१ ॥

टीका—स्नानादेः शास्त्रस्याचरणं, परकीयस्त्रियादि निषिद्धं तस्य वर्जनं च नियमः प्रोच्यते । तथा च नारदः—

यद्भूतं क्रियते स्वस्वधर्मस्यापविवर्जितं ।
न सर्वविनिषिद्धं यो नियमः स उदाहृतः ॥ १ ॥

अथैतिह्यमाहात्म्यमाह—

विधिनिषेधावैतिह्यायत्तौ ॥ २२ ॥

टीका—विधिश्च निषेधश्च विधिनिषेधौ, आयत्तौ वशगौ । कस्य ? ऐतिह्यशास्त्रस्य । विधानं विधिः, निषेधोऽकृत्यनिवृत्तिः, तावुभौ फलं भवति तदागमायत्तं शुभाशुभं । तथा च भागुरिः—

विधिना विहितं कार्यं परं श्रेयः प्रयच्छति ।
विधिना रहितं यच्च यथा भस्महुतं तथा ॥ १ ॥

अन्यच्च—

निषेधं च पुरा कृत्वा कस्यचिद्वस्तुनः पुमान् ।
तदेव सेवते पश्चात् मत्स्यहीनः स पापभाक् ॥ १ ॥

अथैतिह्यनिर्णयमाह—

तत्खलु सद्भिः श्रद्धेयमैतिह्यं यत्र न प्रमाणबाधा पूर्वापरविरोधो वा ॥ २३ ॥

१—स्नान० इति मु. पु. ।

टीका—ऐतिह्यशब्देनागम उच्यते । यत्र यस्मिन्नैतिह्ये प्रमाणबाधा-प्रमाणदूषणं न भवति तदैतिह्यं स आगमः सद्भिः शिष्टैः श्रद्धेयो मन्यते । प्रमाणशब्देन स्वदर्शनाभिप्रायः कथ्यते । तथा च यत्र पूर्वापरविरोधो न भवति । कोऽर्थो यत्र प्रथमं उक्त्वा दर्शनाभिप्रायं पश्चात्तं न दूषयति प्रतिष्ठापयतीत्यर्थः सोऽपि श्रद्धेयः । तथा च नारदः—

स्वदर्शनस्य माहात्म्यं यो न हन्यात्स आगमः ।
पूर्वापरविरोधश्च शस्यते स च साधुभिः ॥१॥

अथ चंचलमनसां यद्भवति तदाह—

हस्तिस्नानमिव सर्वमनुष्ठानमनियमितेन्द्रियमनोवृत्तीनाम्॥२४॥

टीका—वर्तनं वृत्तिः, अनियमितानीन्द्रियाणि मनोवृत्तिश्च येषां तेऽनियमितेन्द्रियमनोवृत्तयस्तेषामनियमितेन्द्रियमनोवृत्तीनां यदनुष्ठानं क्रियालक्षणं । तत् किंविशिष्टमिव ? हस्तिस्नानमिव व्यर्थमित्यर्थः । यथा हस्ती सुस्नापितोऽपि भूयोपि प्रक्षाल्यात्मानं पांशुभिरुद्धूलयति तत्स्नानं व्यर्थतां नयति तथा चंचलेन्द्रियमनाः । तथा च सौनकः—

अशुद्धेन्द्रियचित्तो यः कुरुते कांचित्सत्क्रियां ।
हस्तिस्नानमिव व्यर्थं तस्य सा परिकीर्तिता ॥ १ ॥

अथ ज्ञानवानपि यः शुभं न करोति तदर्थमाह—

दुर्भगाभरणमिव देहखेदावहमेव ज्ञानं स्वयमनाचरतः ॥२५॥

टीका—यः प्रभूतशास्त्रज्ञोऽपि शास्त्रार्थं न करोति तस्य निष्फलं शरीरखेदाय केवलं । किमिव ? दुर्भगाभरणमिव—यथा दुर्भगा स्त्री हारकेयूरादिभिरात्मानं शृंगारयति वल्लभसंयोगं न लभते तत्तस्य देहखेदावहं व्यर्थमित्यर्थः । तथा च राजपुत्रः—

१—हस्तिस्नानमिव विफलं मु. पु । २—चरण॰ मु. पु.

यः शास्त्रं जानमानोऽपि तदर्थं न करोति च।
तद्व्यर्थं तस्य विज्ञेयं दुर्भगाभरणं यथा ॥ १ ॥

परधर्मोपदेशकस्य स्वरूपमाह—

सुलभः खलु कथक इव परस्य धर्मोपदेशे लोकः ॥ २६ ॥

टीका—कथको देवायतनवाचकोऽन्येषां कथयति धर्मोपदेशं, स्वयं न करोति। तथा च वाल्मीकिः—

सुलभा धर्मवक्तारो यथा पुस्तकवाचकाः।
ये कुर्वन्ति स्वयं धर्मं विरलास्ते महीतले ॥ १ ॥

अथ दानतपोभ्यां यद्भवति तदाह—

प्रत्यहं किमपि नियमेन प्रयच्छतस्तपस्यतो वा भवन्त्यवश्यं महीयांसः परे लोकाः ॥ २७ ॥

टीका—भवन्ति प्रवर्तन्ते। के? कर्तृभूता लोकाः। किंविशिष्टाः? परे स्वर्गलक्षणाः। पुनरपि कथंभूताः? महीयांस उत्तमोत्तमाः। कस्य? पुरुषस्य। किं कुर्वतः? प्रयच्छतो ददतः। किमपि—स्वल्पमात्रमपि वित्तं। किं कुर्वतः? तपस्यतस्तपः कुर्वाणस्य स्तोकमपि। तथा च चारायणः—

नित्यं दानप्रवृत्तस्य तपोयुक्तस्य देहिनः।
सत्पात्रं याति कालो वा स स्याद्येन गतिर्वरा ॥ १ ॥

अथ संचयपराणां यद्भवति तदाह—

कालेन संचीयमानः परमाणुरपि जायते मेरुः ॥ २८ ॥

टीका—जायते सम्पद्यते। कोऽसौ? मेरुः। किंविशिष्टः सन्? संचीयमानो वृद्धिं नीयमानः। कः? परमाणुरपि तिलतुषमात्रमपि केन कृत्वा? कालेन दिवसौघेन। तथा च भागुरिः—

नित्यं कोशविवृद्धिं यः कारयेद्यत्नमास्थितः।
अनल्पता भवेत्तस्य मेरोर्हेम्नो यथा तथा ॥ १ ॥

अथ धर्मश्रुतधनानां स्वल्पेनापि संग्रहेण नित्यं विहितेन यद्भवति तदाह—

धर्मश्रुतधनानां प्रतिदिनं लवोऽपि संगृह्यमाणो भवति समुद्रादप्यधिकः ॥ २९ ॥

टीका—धर्मश्च श्रुतं च धनं च धर्मश्रुतधनानि तेषां धर्मश्रुतधनानां मध्याल्लवोऽपि लेशोऽपि संगृह्यमाणः पुरुषेण प्रतिदिनं गच्छता कालेन समुद्रो भवति। कोऽर्थोऽनन्तो भवति। तथा च वर्गः—

उपार्जयति यो नित्यं धर्मश्रुतधनानि च।
सुस्तोकान्यप्यनन्तानि तानि स्युर्जलधिर्यथा ॥ १ ॥

अथ धर्माय ये निरुद्यमास्तानुद्दिश्याह—

धर्माय नित्यमनाश्रयमाणानामात्मवंचनं भवति ॥ ३० ॥

टीका—आत्मा वंचितो भवति। केषां[1] अनाश्रयमाणानां। कस्मै? धर्माय धर्मार्थं। तथा वशिष्ठः—

मनुष्यत्वं समासाद्य यो न धर्मं समाश्रयेत्।
आत्मा प्रवंचितस्तेन नरकाय निरूपितः ॥ १ ॥

अथ धर्मराशिविषये प्राह—

कस्य नामैकदैव सम्पद्यते पुण्यराशिः ॥ ३१ ॥

टीका—कस्य नामैकदैव हेलयैवार्थः। सम्पद्यते इति निश्चयः। तथा च भागुरिः—

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखं।
न हेलया सुखं नास्ति मर्त्यलोके कथंचन ॥ १ ॥

अथाऽऽलस्योपहतस्य मनोरथा यथा भवन्ति तथाह—

अनाचरतो मनोरथाः स्वप्नराज्यसमाः ॥ ३२ ॥

---

१ अनाश्रयमाणानां मु-मू-पुस्तके। २ स्वयमनाचरतः इत्यपि पाठः मुद्रितपुस्तके। स्वयमनाचरतो इति मू-पु.।

टीका—अन्यायेन उदरपूर्णार्थं पुरुषस्य मनोरथा ये हृदि चिन्तितास्ते सुखाभिप्रायाः स्वप्नराज्यसुखवत्सन्मात्रमोदनदा इत्यर्थः ।
तथा च वल्लभदेवः—

उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।
न हि सिंहस्य सुप्तस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥ १ ॥

अथ यो धर्मफलं भुञ्जानोऽप्यधर्मानुष्ठानं कुरुते तदर्थमाह—

धर्मफलमनुभवतोऽप्यधर्मानुष्ठानमनात्मज्ञस्य ॥ ३३ ॥

टीका—यः पुरुषो धर्मफलं सेवमानः सन्, अधर्मानुष्ठानं करोति सोऽनात्मज्ञो मूर्ख इत्यर्थः । ननु कथं ज्ञायते पुरुषस्य धर्मफले भुक्तिः ? यथात्र हस्त्यश्वादिको विभवो भवति तेन ज्ञायते धर्मफलमेतत्, तच्चै-रन्यजन्मकृतम्, तथैवमाना अपि मूर्खा न जानन्ति पापानुष्ठानं कुर्वन्ति ।
तथा च भैनवः—

अन्यजन्मकृताद्धर्माद्यदैश्वर्यं प्रजायते नृणां ।
तद्विवर्धयते नाहिंसनेन ते पापसेवकाः ॥ १ ॥

अथ धर्मानुष्ठानार्थमाह—

कः सुधीर्भेषजमिवात्महितं धर्मं परोपरोधादनुतिष्ठति ॥ ३४ ॥

टीका—को नाम विद्वान् आत्महितं धर्मं अन्यदाक्षिण्यादनुतिष्ठति करोतीत्यर्थं । यस्मात्तत्फलमाप्नोति, किमिव ? भेषजमिव औषधमिव यथौषधं परोपरोधात् कृतं चिकित्सितं न आरोग्यं कुरुते तथा धर्मोऽपि ।
तथा च भागुरिः—

परोपरोधतो धर्मं भेषजं च करोति यः ।
आरोग्यं स्वर्गगामित्वं न ताभ्यां सम्प्रजायते ॥ १ ॥

अथ धर्मानुष्ठाने कृते यद्भवति तदाह—

धर्मानुष्ठाने भवत्यप्रार्थितमपि प्रातिलोम्यं लोकस्य ॥ ३५ ॥

१ ग — ग पुस्तके ।

टीका—लोकस्य जनस्य धर्मानुष्ठाने क्रियमाणे अप्रार्थितमपि प्रातिलोम्यं विघ्नं भवति पापानुष्ठाने न स्यात्। तथा च वर्गः—

श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि ।
अश्रेयसि प्रवृत्तानां यान्ति क्वापि विलीनतां ॥ १ ॥

अथ धर्मप्रवृत्तस्य यद्भवति तदाह—

अधर्मकर्मणि को नाम नोपाध्यायः पुरश्चारी वा ॥ ३६॥

टीका—पापकर्मणि प्रवृत्तस्य लोकस्य को नामाहो नोपाध्यायः नोपदेशदाता, अपि सर्वोऽपि जनः पापार्थं प्रेरयतीत्यर्थः। पुरश्चारी वा अग्रेसरः। अहमेतत्करोमि त्वमपि कुरु एवं जल्पत इत्यग्रेसरो भवति। तथा च रैभ्यः—

सुलभाः पापरक्तस्य लोकाः पापोपदेशकाः ।
स्वयं कृत्वा च ये पापं तदर्थं प्रेरयन्ति च ॥ १ ॥

अथ पापनिषेधार्थमाह—

कण्ठगतैरपि प्राणैर्नाशुभं कर्म समाचरणीयं कुशलमतिभिः ॥३७॥

टीका—उत्कृष्टबुद्धिभिः पुरुषैरशुभं कर्म न समाचरणीयं न कर्तव्यं ध्रियमाणे प्राणे, किंविशिष्टे? कण्ठगतेऽपि, कोऽर्थः? यदि प्राणत्यागो भवति, किं पुनः स्वस्थचित्ते। तथा च देवलः—

धीमद्भिर्नाशुभं कर्म प्राणत्यागेऽपि संस्थिते ।
इह लोके यतो निन्दा परलोकेऽधमा गतिः ॥ १ ॥

अथ [illegible] पापमार्गं नियोज्यन्ते तदर्थमाह—

स्वव्यसनतर्पणाय धूर्तैर्दुर्विहितवृत्तयः क्रियन्ते श्रीमन्तः ॥ ३८ ॥

टीका—श्रीमन्तो धनिनो जनाः क्रियन्ते विधीयन्ते। किंविशिष्टाः? दुर्विहितवृत्तयः पापमार्गरताः। कैः? धूर्तैर्वञ्चकैः। किमर्थं? स्वव्यसनतर्पं-

---

१ [illegible] पुस्तके पाठः। २ [illegible] पाठः। ३ [illegible] पाठः।

णाय निजाधमाशाय । [1] न संतो सकाशादर्थं लभते । कथं क्षिपते यत. स्नानदानजपहोमतीर्थयात्रादिकं कष्टेन क्रियमाणं धर्ममार्गं दूषयित्वा, स्त्रीसेवादिकं सुखकारकं स्वमतिविहितव्याख्याने तथा प्रबोधयन्ति धनिनो यथा तेषां तत्सत्यं मत्वा धनानि लिप्स्यन्ते ।

यतो माक्षिका धारा विप्रुषो ब्रह्मबिन्दवः ।
स्त्रीमुखं बालवृद्धं च न दुष्यन्ति कदाचन ॥ १ ॥
स्त्रियः पवित्रमतुलं नैता दुष्यन्ति कर्हिचित् ।
मासि मासि रजो यासां दुष्कृतान्यपि कर्षति ॥ २ ॥
सोमस्तासां ददौ शौचं गन्धर्वाश्च कलं गिरं ।
पावकः सर्वमेध्यत्वं तस्मान्मेध्यतमाः स्त्रियः ॥ ३ ॥
ब्राह्मणाः पादतो मेध्या गावो मेध्याश्च पृष्ठतः ।
अजाश्च मुखतो मेध्याः स्त्रियो मेध्याश्च सर्वतः ॥ ४ ॥
स्त्रीमुद्रां मकरध्वजस्य परमां सर्वार्थसाकरी-
मेनां ये प्रविहाय यान्ति कुधियः स्वर्गापवर्गेच्छया ।
तैर्दैवैर्विनिहत्य ते हततरं नग्नीकृता मुण्डिताः
केचित् रक्तपटीकृताश्च जटिलाः कापालिकाश्चापरे ॥ ५ ॥
कामार्तां कामिनीं प्राप्तां पापं मात्वा त्यजन्ति ये ।
ते मृता नरकं यान्ति तन्निःश्वासस्तमाहताः ॥ ६ ॥
परदारविरक्तानां कुदाराणां नृणामिह ।
वेश्या साधारणा प्रोक्ता तस्मात्सेव्या प्रयत्नतः ॥ ७ ॥
ब्रह्मचर्येण घोरस्वर्गो नराणामिह जायते ।
ते षंढाः प्रथमं यान्ति ततोऽन्ये ब्रह्मचारिणः ॥ ८ ॥

इत्येवमादिभिरन्यैरपि धर्मविषये सुखाश्रितैर्वाक्यैः स्नानदानजपहोमकृते धूर्तैः दुर्धिष्ठितरस्य क्रियन्त इति ।

अथ खलसंगेन यद्भवति तदाह—

[1] अभ्यर्थित हेव ।

खलसंगेन किं नाम न भवत्यनिष्टम् ॥ ३९ ॥

टीका—खलो दुर्जनस्तेन सह संगेन कृतेन सति किं नामाहो न भवति यदनिष्टं पापलक्षणमित्यर्थः। तस्मात्खलसंगस्त्याज्यः। तथा च वल्लभदेवः—

> असतां संगदोषेण साधवो यान्ति विक्रियां।
> दुर्योधनप्रसंगेन भीष्मो गोहरणे गतः ॥ १ ॥

अथ दुर्जनानां स्वरूपमाह—

अग्निरिव स्वाश्रयमेव दहन्ति दुर्जनाः ॥ ४० ॥

टीका—दुर्जनाः खलाः स्वाश्रयमपि यस्मिन् गृहे जायन्ते तदपि दहन्ति, किं पुनरन्येषां साधूनां न दहन्ति। क इव? अग्निरिव वैश्वानरवत्। यथा वैश्वानरो यत्र काष्ठे उत्पन्नस्तदपि दहति तथा दुर्जनाः स्वगृहं क्षयं कृत्वा ततश्च साधूनामपि गृहाणि नाशयन्ति। तथा च वल्लभदेवः—

> धूमः पयोधरपदं कथमप्यवाप्यै—
> षोऽम्बुभिः शमयति ज्वलनस्य तेजः।
> दैवादवाप्य खलु नीचजनः प्रतिष्ठां
> प्रायः स्वयं बन्धुजनमेव तिरस्करोति ॥ १ ॥

अथ तदात्वसुखलुब्धस्य यद्भवति तदाह—

वनगज इव तदात्वसुखलुब्धः को नाम न भवत्यास्पदमापदाम् ॥ ४१ ॥

टीका—अत्र तदात्वसुखशब्देन परस्त्रीस्पर्शः तत्कालिकसुखमभिधीयते। तत्र यो लुब्धः पुरुषः को नामाहो कासामापदां व्यसनलक्षणानां नास्पदं स्थानं भवति। क इव? वनगज इवारण्यहस्तीव यथा

---

१ किं नाम न करोति इति ख-पुस्तके। खलसंसर्गः कं नामानर्थं न करोति इति ग-पुस्तके। २ अग्निवत् मु-मू-पुस्तके। ३ तादात्विकेति मू-पुस्तके।

वनहस्ती दृष्ट्वा कामिनीनां वनकरेणुकां स्पर्शमात्रं सुखमनुभवन् बन्धनमाप्नोति तद्वत् पुरुषोऽपि यस्मात् परस्त्रीस्पर्शमात्रं सुखं लभते । तथा च नारदः—

> करिणीस्पर्शसौख्येन प्रमत्ता वनहस्तिनः ।
> बन्धमायान्ति तस्माच्च तद्ग्राम्यं वर्जयेत् सुखम् ॥ १ ॥

अथ धर्मातिक्रमेण यद्भवति तदाह—

धर्मातिक्रमाद्धनं परेऽनुभवन्ति स्वयं तु परं पापस्य भाजनं सिंह इव सिन्धुरवधात् ॥ ४२ ॥

टीका—धर्मातिक्रमेण चौर्यादिभिरकृत्यैर्यद्धनं प्राप्यते तदपरे पुत्रकलत्रादयो भक्षयन्ति, उपार्जकस्तु पुनः केवलं उत्कृष्टं पापस्य भाजनं पापस्थानं भवति । क इव? सिंहवत् यथा सिंहः सिन्धुरं गजं हत्वा अन्येषां शृगालादीनां भोज्यं करोति केवलं स्वयं पापवान् भवति तथा पुरुषोऽपि । तथा च विदुरः—

> एकाकी कुरुते पापं फलं भुंक्ते महाजनः ।
> भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्ता दोषेण लिप्यते ॥ १ ॥

अथाधार्मिकस्य यद्भवति तदाह—

बीजभोजिनः कुटुम्बिन इव नास्त्यधार्मिकस्यायत्यां किमपि शुभम् ॥ ४३ ॥

टीका—अत्रायतिशब्देन परिणाम उच्यते तस्मिन् परिणामे पुरुषस्य न किंचिच्छुभं भवति । किंविशिष्टस्य पुरुषस्य? अधार्मिकस्य ।

१ क्रमागतं धन मु-पुस्तके । २ नयन्ति मु पुस्तके । ३ शुभ फल मु-पुस्तके । ४ अधर्मरतस्य टीकापाठः ।

कस्येव ? कुटुम्बिन इव कर्षकस्येव । किंविशिष्टस्य ? बीजमोजिनो वा योग्यस्य भक्षकस्य न किंचिदन्नं भवति । आपन्नां शरदि वसन्ते वा तथा च भागुरिः—

पापासक्तस्य नो सौख्यं परलोके प्रजायते ।
बीजादिहालिकस्येव वसन्ते शरदि स्थिते ॥ १ ॥

अथ कामार्थत्यागेन केवलं धर्माश्रितस्य यद्भवति तदाह—

य: कामार्थावुपहत्य धर्ममेवोपास्ते स पक्वं क्षेत्रं परित्यज्यारण्यं कृषति ॥ ४४ ॥

टीका—यः पुरुषः कामार्थौ त्यक्त्वा धर्ममेकं करोति । स किं कुरुते पक्वं लवनयोग्यं क्षेत्रं त्यक्त्वारण्यकर्षणं करोति । कोऽर्थो यौ कामार्थौ पक्वक्षेत्रसमौ तौ ज्ञेयौ । यः पुनः धर्मः सोऽरण्यकर्षणसमो न तस्य धर्मस्यापि माहात्म्यं मन्यते कामार्थाभ्यां विना । तदर्थमाह—अरण्यकर्षणादपि सस्योत्पत्तिर्भवति परं कालक्रमेण तत्रारण्यस्यानावृष्टिरिति उपद्रवो यदि न भवति । यौ पुनः कामार्थौ तौ सद्यः सुखफलौ । तस्मात् कामार्थाभ्यां सह धर्मः कर्तव्यः सुखार्थिभिः । तथा च रैभ्यः—

कामार्थसहितो धर्मो न क्लेशाय प्रजायते ।
तस्मात्ताभ्यां समेतस्तु कार्य एव सुखार्थिभिः ॥ १ ॥

अथ सुमतिर्यथा भवति तथाह—

स खलु सुधीर्योऽमुत्र सुखाविरोधेन सुखमनुभवति ॥ ४५ ॥

टीका—स पुरुषः खलु निश्चयेन सुधी सुमतिर्विज्ञेयः । यः किं करोति ? योऽनुभवति सेवते । किं तत् ? सुखं । केन कृत्वा ? अमुत्र सुखाविरोधेन । अमुत्रशब्देन परलोकोऽभिधीयते । तस्य येन सुखेनानुभूतेन विरोधो न भवति तथा तदनुभवितव्यं । यत्पुनः परदारचौर्यादिकं तेन

१ परित्यज्योषरं इति मु–पुस्तके । २ सुधीरिति मु–मू–पुस्तके ।

परलोके, विशेषः स्यात् भवकाले भवती गतिः । न्यायदानादिकस्मा-
दिह सुखमनुभविष्यदमेव । तथा च गर्गः—

> संचयकायस्य धर्मस्य मर्त्यः प्राप्यते ध्रुवं ।
> धीमता तत्र कर्तव्यं धर्मकार्यमतन्द्रितम् ॥ १ ॥

अथान्यायसुखलवेनैव दूषयति तदाह—

**इदमिह परमाश्चर्यं यदन्यायसुखलवादिहामुत्र चानवधिर्दु-
खानुबन्धः ॥ ४६ ॥**

टीका—हे जनाः । एतदाश्चर्यमिह जगति परं अपूर्वं न दृश्यते मूर्ख-
जनानां, यत् किंचिदन्यायोपार्जितवित्तोपार्जने कृत्वा तेन यं सुखलवम-
नुभवति तत्कालपरिणतो दुःखानुबन्धो दुःखपरिणामः । क ? इहा-
स्मिन् जगति । अमुत्र च परलोके च । कथंचिदपि तावद्राजा जा-
नाति तदा दण्डयति । अथवा परलोकेऽपि धर्मराजो निग्रहं करोति
तस्मादन्यायोपार्जना न कर्तव्या । तथा च वशिष्ठः—

> चिन्त्यमेतद्धि मूर्खाणां यदन्यायार्जनात्सुखम् ।
> अल्पं प्राप्तं विहीनं च दुःखं लोकद्वये भवेत् ॥ १ ॥

अथान्यकर्मकृतयोर्धर्माधर्मयोः किं लिङ्गं तदर्थं व्याख्यायते—

सुखदुःखादिभिः प्राणिनामुत्कर्षापकर्षौ धर्माधर्मयोर्लिङ्गं ॥४७॥

टीका—उत्कर्षशब्देन वृद्धिरुच्यते । अपकर्षशब्देन हानिश्च । उत्क-
र्षश्चापकर्षश्चोत्कर्षापकर्षौ ताभ्यां ज्ञायते । किं तत् ? लिङ्गं चिह्नं ।
कयोः ? धर्माधर्मयोः । केषां ? नराणां । कैः कृत्वा ? सुखदुःखादिभिः ।
यदा पुण्यात् सुखं परं भवति तदा ज्ञायते पूर्वजन्मनि धर्मः कृतः ।
यदा पुनः दुःखोत्कर्षो भवति तदा ज्ञायते तेन पापं कृत्वा धर्मो हतः ।
तथा च दक्षः —

१ येति मूलपाठः पुस्तके । २ ... पाठः । ३ सुखादीत्यादि मु-पुस्तके

२ अर्थसमुद्देशः ।

अथार्थसमुद्देशो लिख्यते, तत्रादावेवार्थस्य स्वरूपमाह—

यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः सोऽर्थः ॥ १ ॥

टीका—कथ्यते, नान्यो यः कृपणैर्गेहे स्थापितस्तिष्ठति । उक्तं च वल्लभदेवेन—

> गृहमध्यनिखातेन धनेन धनिनो यदि ।
> भवामः किं न तेनैव धनेन धनिनो वयं ॥ १ ॥

तथा च—

> येन धर्मस्य कृते प्रयुज्यते येन कामस्य च भूमिमध्यगम् ।
> तस्करदर्पपरिरक्षितं धनं चौरपार्थिवगृहेषु भुज्यते ॥ १ ॥
> संचितं क्रतुषु नैव युज्यते, याचितं गुणवते न दीयते ॥

अथ यादृक् पुमानर्थस्य भाजनं भवति तदाह—

सोऽर्थस्य भाजनं योऽर्थानुबन्धेनार्थमनुभवति ॥ २ ॥

टीका—स पुरुषः सर्वकालमर्थस्य धनस्य भाजनं स्थानं भवति । य किं कुर्यात् ? योऽर्थानुबन्धेनागामिकन्यायेनार्थमनुभवति सेवते ।

तथा च वर्गः—

> अर्थानुबन्धमार्गेण योऽर्थं संसेवते सदा ।
> स तेन मुच्यते नैव कदाचिदिति निश्चयः ॥ १ ॥

अथानुबन्धलक्षणमाह—

अलब्धलाभो लब्धपरिरक्षणं रक्षितपरिवर्द्धनं चार्थानुबन्धः ॥ ३ ॥

१-२ न सन्ति पाठ पुस्तके । ३ [illegible], मु. पुस्तके ।

टीका—सामादिभिरुपायैस्तावत् पुरुषेणार्थ उपार्जनीयः । उक्तं यतो हारीतेन—

असाध्यं नास्ति लोकेऽत्र यस्यार्थं साधनं परं ।
सामादिभिरुपायैश्च तस्मादर्थमुपार्जयेत् ॥ १ ॥

तथा च लब्धोऽर्थो यथा भवति तथा रक्षणीयो यत्नेन यतस्त बहवो हिंसका भवन्ति । तथा च व्यासः—

यथामिषं जले मत्स्यैर्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि ।
आकाशे पक्षिभिश्चैव तथार्थोऽपि च मानवैः ॥ १ ॥

तथा रक्षितो वृद्धिं नेयः । यस्तं सद्व्यवहारैः कुसीदादिभिर्वृद्धिं नयति स तस्य भाजनं भवति । उक्तं च यतो गर्गेण—

वृद्धे तु परिदातव्यः सदार्थो धनिकेन च ।
ततः स वृद्धिमायाति तं विना क्षयमेव च ॥ ३ ॥

इत्यर्थानुबन्धः ।

अथ सामादिभिरुपार्जितोऽर्थोऽपि यथा नाशमायाति तथाह—

तीर्थमर्थेनासंभावयन् मधुच्छत्रमिव सर्वात्मना विनश्यति॥४॥

टीका—तीर्थभूतं पुरुषलक्षणं आगामिकसूत्रे वदिष्यति । यो धनी तीर्थलक्षणं पुरुषमर्थेन न सम्भावयति स सर्वात्मना निश्चितं विनश्यति। किं कुर्वन् ? असंभावयन् अनियोजयन् । किं तत् ? तीर्थं पात्रं। केन ? अर्थेन वित्तेन । कथं विनश्यति ? मधुच्छत्रवत् मधुच्छत्रशब्देन मधुजालकमुच्यते । तस्य तीर्थं भ्रमरा । माक्षिकोऽर्थः । तेन यत् भ्रमरान् न संभावयति तत्सर्वात्मना विनश्यति तथा मदनमपि न भवति सूक्ष्मोत्पन्नकीटैर्भक्ष्यते । यस्य पुनर्भ्रमरा मधु पिबन्ति अन्यच्च श्रावयन्ति तच्छेषं सिक्थकमंज्ञं भवति । एवं धनी पुमानपि सत्पात्रेषु धनं (न) नियोजयति तस्य तत्प्रभावाच्छेषमपि वित्तं भूयोपभोग्यं भवति । तथा च वर्ग-

१ उक्तेति ख-पुस्तके ।

यो न यच्छति पात्रेभ्यः स्वधनं कृपणो जनः।
तेनैव सह भूपालैश्चौरार्यैर्वा स हन्यते ॥ १ ॥

केचित् मधुच्छत्रशब्देन बालकजालं कथयन्ति। तस्य तीर्थभूतानि पात्राणि, अर्थभूतो गन्धः। तेभ्यः पात्रेभ्यस्तीर्थभूतेभ्यो गन्धरूपेणार्थं प्रयच्छन् प्रददत् बालकजालमपि विनश्यति।

अथ तीर्थलक्षणमाह—

धर्मसमवायिनः कार्यसमवायिनश्च पुरुषास्तीर्थम् ॥ ५ ॥

टीका—ये पुरुषाः समवायिनो धर्मकृत्येषु सहाया भवन्ति येषां सकाशात् धर्मकार्यं निरूपितं भवति ते धर्मसमवायिनः प्रोच्यन्ते। ये च सर्वकृत्येषु सहाया भवन्ति, येषां सकाशात् महदपि कृत्यं सिद्धिं गच्छति ते कार्यसमवायिनः। तत्र सर्वेऽपि तीर्थं भण्यते। तान् योऽर्थो न संभावयेत् तेभ्यः योऽर्थं (समर्थं) नियोजयेत्। तस्य वृद्धिर्धर्मवृद्धिश्च भवति। तथा च बृहस्पतिः—

तीर्थेषु योजिता ह्यर्था धनिनां वृद्धिमाप्नुयुः।
अतीर्थेषु पुनर्लाभं योजिता स्यात्सलोभतः ! ॥ १ ॥

अथ येषां धनिनां धननाशो भवति तानाह—

तादात्विकमूलहरकदर्येषु नासुलभः प्रत्यवायः ॥ ६ ॥

टीका—एतेषां तादात्विकमूलहरकदर्याणां सेवा आगामिकसूरेषु भविष्यति। किं बहुना, एतेषां धनिनां प्रत्यवायोऽर्थनाशः सदैव भवतीति। तथा च शुक्रः—

अचिन्तितार्थमश्नाति योऽम्योपार्जितभक्षकः।
कृपणश्च भवोऽप्येते प्रत्यवायस्य मन्दिरम् ॥ १ ॥

अथ तादात्विकलक्षणमाह—

यः किमप्यसंचिन्त्योत्पन्नमर्थं व्ययति स तादात्विकः ॥ ७

टीका—य उपार्जनां कृत्वा अनुचित [illegible] भक्षयति, कोऽर्थः ? [illegible] करोति, न जानाति समेतत्प्रयोजनमर्थेन भविष्यति । आगतेऽर्थे [illegible] [illegible] । स धनी तादात्विक उच्यते । तथा च शुक्रः—

आगमे यस्य चत्वारो निर्गमे सार्धपंचमः ।
तस्यार्थाः प्रक्षयं यान्ति सुप्रभूतोऽपि कोविदः ॥ १ ॥

अथ मूलहर [illegible]—

यः पितृपैतामहमर्थमन्यायेन भक्षयति स मूलहरः ॥ ८ ॥

टीका—[illegible] पितृपैतामहमर्थं अन्यायेन द्यूतवेश्यादिना [illegible] [illegible] स मूलहरः प्रोच्यते । तथा च गुरुः—

पितृपैतामहं वित्तं व्यसनैर्यस्तु भक्षयेत् ।
[illegible] किंचित् स दरिद्रो [illegible] ॥ १ ॥

अथ [illegible]

यो भृत्यात्मपीडाभ्यामर्थं संचिनोति स कदर्यः ॥ ९ ॥

टीका—[illegible] न पीडयति, [illegible] [illegible] न [illegible], न च [illegible] भक्षयति स कदर्यः । स च [illegible] [illegible] [illegible] वा हरन्ति । तथा च [illegible] —

[illegible] —

[illegible] नास्ति कल्याणम् ॥ १० ॥

[illegible]

[illegible]

व्ययं करोति तत्त्वयोरपि द्वयोर्दारिद्रता भवति द्वौ दौःस्थ्यं भजतः। तथा च कपिपुत्रः—

> आगमाभ्यधिकं कुर्याद्यो व्ययं यश्च भक्षति।
> पूर्वजोपार्जितं नान्यदर्जयेच्च स सीदति ॥ १ ॥

अथ कदर्यस्य यद्भवति तदाह—

कदर्यस्यार्थसंग्रहो राजदायादतस्कराणामन्यतमस्य निधिः ॥ ११ ॥

टीका—कदर्यस्य तु पुनर्यो धनसंचयः स किंविशिष्टो? निधिः। केषां? राजदायादतस्कराणां। अन्यतमस्य एकस्य। एतदुक्तं भवति भूपेन गोत्रजेन तस्करेण वाह्यते इति। तथा च वल्लभदेवः—

> दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
> यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥ १ ॥

तथा च शुक्रः—

> दीपो धार्यते पृथ्वी सन्निधानां सदोष्मणां
> कृपणैर्निहितानि च तस्य दाक्तिन्ये चान्यथा ॥ १ ॥

इत्यर्थसमुद्देशः।

—

३ कामसमुद्देशः ।

अथ कामसमुद्देशः कथ्यते । तत्रादावेव कामस्य लक्षणमाह—

आभिमानिकरसानुविद्धा यतः सर्वेन्द्रियप्रीतिः स कामः ॥१॥

टीका—कामशब्देन स्त्रियामभिलाषः कथ्यते । यतो यस्मादभिलाषात् सर्वेन्द्रियप्रीतिर्जायते स कामः, न केवलं रतिलक्षणः । किंविशिष्टा सर्वेन्द्रियप्रीतिः ? अभिमानिकरसानुविद्धा । आभिमानिकरसशब्देन निर्गलता प्रोच्यते तयानुविद्धा यासौ स्नेहलक्षणसर्वेन्द्रियप्रीतिः कामाभिलाषो भवति, तदाह—यस्याः नायिकायाः फलशब्दं श्रुत्वा कर्णाभ्यां निर्गला प्रीतिर्जायते, तस्या सुकोमलाङ्गस्पर्शेन च निर्गला प्रीतिर्भवति । तथा यस्या रूपावलोकनेन नेत्रयोर्निर्गला प्रीतिः । तथा यस्याः परिमलाढ्याङ्गस्य घ्राणात् घ्राणस्य निर्गला प्रीतिः । तथा तस्या अधरपानात् जिह्वाया अमृतपानादिव निर्गला प्रीतिर्भवति स कामः पंचप्रकारेण नैकेनापि हीयते । तथा च राजपुत्रः—

> सर्वेन्द्रियानुरागः स्यात् यस्याः संसेवनेन च ।
> न च कामः परिज्ञेयो यस्तदन्यद्विचेष्टितम् ॥ १ ॥

तथा च—

> इन्द्रियाणाममन्तोष यः कश्चित् सेव्यते स्त्रियं ।
> स करोति पशोः कर्म नरकस्य मार्दनं ॥ २ ॥

अन्ये च—

> यदिन्द्रियविरोधेन मोहनं क्रियते जनैः ।
> तदन्धकस्य पुर रूपं गीतं बधिरकस्य च ॥ ३ ॥

अथ कथं कामसेवनं पुमान् सुखी भवति तदाह—

धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत ततः सुखी स्यात् ॥ २ ॥

टीका—धर्मार्थयोरविरोधेनानुकूल्यतया कामं सेवेत। कोऽर्थः ? यथा धर्मक्षतिर्न भवति परदारान् वर्जयेदित्यर्थः। यथार्थस्य क्षतिर्न भवति तथा वेश्यासक्तिर्वर्जनीया। एवं वर्तमानः स्वकलत्रं सेवमानः सुखी भवति। तथा च हारीतः—

परदारांस्त्यजेद्यस्तु वेश्यां चैव सदा नरः।
न तस्य कामजो दोषः सुखिनो न धनक्षयः ॥ १ ॥

अथ यथा त्रिवर्गः सेव्यस्तथाह—

समं वा त्रिवर्गं सेवेत ॥ ३ ॥

टीका—वा विकल्पेन, समं एककालं त्रिवर्गं सेवेत। यदि धर्मार्थपीडनं पृथक्कामसेवनेन भवति। अथवा धर्मसेवनेन कामार्थयोः पीडनं भवति। अथवार्थसेवनेन धर्मकामाभ्यां पीडनं भवति। त्रयोऽपि सेव्याः। कथं ? सत्रिभागं प्रहरं यावत् धर्मचिन्ता कार्या, सत्रिभागं प्रहरमर्थचिन्ता, ततः कामचिन्तेति। तथा च नारदः—

प्रहरं सविभागं च प्रथमं धर्ममाचरेत्।
द्वितीयं तु ततो वित्ते तृतीयं कामसेवने ॥ १ ॥

अथ त्रिवर्गमध्यादेकस्यातिसेवनेन यद्भवति तदाह—

एको ह्यत्यासेवितो धर्मार्थकामानामात्मानमितरौ च पीडयति ॥ ४ ॥

[illegible] भवति [illegible] ततोऽपरयो [illegible]

धर्मे [illegible]।
अर्थे [illegible] ॥ १ ॥

तथार्थः केवलं सेव्यमानो धर्मकामौ पीडयति । तथा कामोऽत्यतिसेवितः स धर्मार्थौ पीडयति । कथं ? केवलं धर्मासक्तोऽर्थोपार्जनादिकं व्यवसायं न करोति स्त्रीविषयविरक्तो भवति । यद्यर्थासक्तो भवति तद्धर्मं न करोति तदासक्तश्च निष्कामो भवति । तथा कामासक्तो धर्मं न करोति धनक्षयं च करोति । तथा च वशिष्ठः—

> एको हि सेव्यमानस्तु त्रिवर्गं च प्रपीडयेत् ।
> द्वावन्यौ सेवयेदस्मिंस्त्रींश्च तांश्च यथोदितान् ॥ १ ॥

अथ कथेन यद्धनोपार्जनं क्रियते तदर्थमाह—

परार्थं भारवाहिन इवात्मसुखं निरुन्धानस्य धनोपार्जनम्॥५॥

टीका—आत्मसुखं निरुन्धानस्य महता क्लेशेन युक्तस्य पुरुषस्य यद्धनोपार्जनं । किंविशिष्टं ? परार्थं भारवाहकवद् व्यर्थमित्यर्थः । यथा कश्चित् पुरुषः पशुर्वान्यस्यार्थे शिरसा पृष्ठया वा भारं वहति न तद्भोक्तृ लभते केवलं क्लेशभागी स्यात् । तथा च व्यासः—

> अतिक्लेशेन ये चार्था धर्मस्यातिक्रमेण च ।
> शत्रूणां प्रणिपातेन मा भूवंस्ते मम [illegible] ॥ १ ॥

अथ विभूतीनां साफल्यं यथा भवति तदाह—

इन्द्रियमनःप्रसादनफला हि विभूतयः ॥ ६ ॥

टीका—[illegible] पुनः सेविता अपि तुष्टिं न जनयन्ति [illegible] भवति, यकाभिर्विभूतिभिर्निमानानि [illegible] न दिव्यभाण्डेन, न निजाहारादनेन, न [illegible] । [illegible] । तथा च व्यासः —

> [illegible]
> [illegible] ॥ १ ॥

[illegible]

तथा यकाभिर्विभूतिभिर्विद्यमानाभिर्मनसस्तुष्टिर्न भवति ताश्चापि ...ष्फलाः पुमां। कोऽर्थः? विद्यमाने धने यः सेवाक्लेशेन खेदं जनयति ...यासेन या तस्यापि ता निष्फलाः। तथा च चारायणः—

सेवादिभिः परिक्लेशैर्विद्यमानधनोऽपि यः।
सन्तापं मनसः कुर्यात्तत्तस्योपरघर्षणम्॥ १॥

अथाजितेन्द्रियाणां यथा स्वल्पापि कार्यसिद्धिर्न भवति तदाह—

नाजितेन्द्रियाणां कापि कार्यसिद्धिरस्ति ॥ ७॥

टीका—अजितेन्द्रियाणां पुरुषाणां कापि स्वल्पापि कार्यसिद्धिर्न विद्यते। कथं, यो गीतलालसो भवति स गीतं शृण्वन् स्वकृतेषु विलम्बं करोति विलम्बे कृते कार्यनिष्फलता स्यात्। उक्तं च शुक्रेण—

यस्य तस्य च कार्यस्य सफलस्य विशेषतः।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तत्फलम्॥ १॥

एवं यः प्रियालिङ्गनलालसः, तथा मिष्टान्नास्वादरतः, तथा रूपादरस्त्रियामवलोकनरतः, तथा परिमलाघ्राणनिरतश्च। तथा च ऋषिपुत्रकः—

स्वकृतेषु विलम्बन्ते विषयासक्तचेतसः।
क्षिप्रमक्रियमाणेषु तेषु तेषां न तत्फलम्॥ १॥

अथ पुरुषाणां यथेन्द्रियजयो भवति तदाह—

इष्टेऽर्थेऽनासक्तिर्विरुद्धे चाप्रवृत्तिरिन्द्रियजयः ॥ ८॥

टीका—इष्टे वल्लभे वस्तुनि अनासक्तो भवति युक्तमात्रं निषेवते न तत्रैवासक्तिं करोति स जितेन्द्रियः कथ्यते। संसारस्य फलमय-... पूर्वेन्द्रियनिर्वचनं युक्तं तथाप्यतिप्रसक्तं यतोऽजीर्णे पथ्यमप्यन्नं व्याधये मरणाय वा भवति। तथा विरुद्धे पदार्थे याऽप्रवृत्तिरप्रवर्तनं यस्य

...म पुस्तके। २ इति मु-पुस्तके।

टीका—नास्ति न विद्यते। किं तत्, चिकित्सितं शुभकर्मोप-
...शः। कस्य? कामासक्तस्य पुरुषस्य। कोऽर्थः? न किञ्चिदितं
...शृणोति। तथा च जैमिनिः—

न शृणोति पितुर्वाक्यं न मातुर्न हितस्य च।
कामेन विजितो मर्त्यस्ततो नाशं प्रगच्छति॥ १॥

अथ स्त्रीसमासक्तस्य यद्भवति तदाह—

न तस्य धनं धर्मः शरीरं वा यस्यास्ति स्त्रीष्वत्यासक्तिः॥१२॥

टीका—यस्य पुरुषस्य स्त्रीविषयेऽत्यासक्तिर्भवति तस्य तावद्धनं न भवति तस्यामासक्तेर्व्यवसायं न करोति तेन विना दरिद्रता भवति।
उक्तं च कामन्दकिना—

नितान्तं संप्रसक्तानां कान्तामुखविलोकने।
नाशमायान्ति सुव्यक्तं यौवनेन समं श्रियः॥ १॥

तथा च धर्मश्च न भवति देवकृत्यस्य पितृकार्यस्य वा पुनः तथा च शरीरं न भवति, अतिवीर्यक्षयात् क्षयव्याधिश्च संजायते। तथा च वल्लभदेवः—

यः संसेवयते कामी कामिनीं सततं प्रियां।
तस्य संजायते यक्ष्मा धृतराष्ट्रपितुर्यथा॥ १॥

अथ विरुद्धकामवृत्तेर्यद्भवति तदाह—

विरुद्धकामवृत्तिः समृद्धोऽपि न चिरं नन्दति॥ १३॥

टीका—यः पुमान् विरुद्धवृत्तिः स समृद्धोऽपि लक्ष्मीवानपि चिरकाले न नन्दति न पुनर्लक्ष्मीवान् भवति। विरुद्धकामशब्देन परदारसेवा कथ्यते तथा यो वर्तते इति। तथा च ऋषिपुत्रकः—

परदाररतो योऽत्र पुरुषः संप्रजायते।
... . ॥ १॥

... अस्मादग्रतः पाठः पुस्तके नास्ति।

पुरुषस्य भवति सोऽपि जितेन्द्रियः । अशिष्टशब्देन शिष्टाचारः कथ्यते तथा च भृगुः—

> अनुगन्तुं सतां धर्मं कृत्स्नं यदि न शक्यते ।
> स्वल्पमप्यनुगन्तव्यं येन स्यात् स्वामिनिर्जयः ॥ १ ॥

अथान्येन प्रकारेण यथा स्यादिन्द्रियजयस्तदर्थमाह—

अर्थशास्त्राध्ययनं वा ॥ ९ ॥

टीका— वा [illegible] यदि शिष्टमार्गो न ज्ञायते तदर्थं शास्त्राध्ययनं कुर्यात् येन जितेन्द्रियता भवति । तथा च [illegible]—

> नीतिशास्त्राण्यधीते यस्तस्य दुष्टानि स्वान्यपि ।
> वशगानि भवन्ति [illegible] यथा ॥ १ ॥

अथ [illegible] कामस्वरूपमाह —

[illegible] न कर्थं [illegible] ॥१०॥

टीका— [illegible] केन प्रकारेण [illegible] भवति न [illegible] । [illegible] येन ते [illegible] दुर्गं [illegible]

[illegible]

> [illegible]
> [illegible]

[illegible]

[illegible] ॥ ११ ॥

[illegible]

टीका—नास्ति न विद्यते। किं तत्, चिकित्सितं शुभकर्मोप-
दाः। कस्य ? कामासक्तस्य पुरुषस्य। कोऽयं ? न किंचिद्धितं
शृणोति। तथा च जैमिनिः—

न शृणोति पितुर्वाक्यं न मातुर्न हितस्य च।
कामेन विजितो मर्त्यस्ततो नाशं प्रगच्छति ॥ १ ॥

अथ स्त्रीसमासक्तस्य यद्भवति तदाह—

न तस्य धनं धर्मः शरीरं वा यस्यास्ति स्त्रीष्वत्यासक्तिः ॥१२॥

टीका—यस्य पुरुषस्य स्त्रीविषयेऽत्यासक्तिर्भवति तस्य तावद्धनं न
भवति तस्यामासक्तेर्व्ययमाय न करोति तेन विना दरिद्रता भवति।
उक्तं च कामन्दकिना—

नितान्तं संप्रसक्तानां कान्तामुखविलोकने।
नाशमायान्ति सुव्यक्तं यौवनेन समं श्रियः ॥ १ ॥

तथा च धर्मश्च न भवति देवकृत्यस्य पितृकार्यस्य वा पुनः तथा
च शरीरं न भवति, अतिवीर्यक्षयात् क्षयव्याधिश्च संजायते। तदा च
वल्लभदेवः—

यः संसेवयते कामी कामिनीं सततं प्रियां।
तस्य संजायते यक्ष्मा धृतराष्ट्रपितुर्यथा ॥ १ ॥

अथ विरुद्धकामवृत्तेर्यद्भवति तदाह—

विरुद्धकामवृत्तिः समृद्धोऽपि न चिरं नन्दति ॥ १३ ॥

टीका—य पुमान् विरुद्ध [illegible] स समृद्धोऽपि [illegible] चिर-
[illegible] न नन्दति न [illegible] भवति। विरुद्धकाम[illegible] परदार-
[illegible] तद् [illegible] तदा च [illegible]

परदाररतो [illegible] पुरुष [illegible]

[illegible] पुरुष [illegible]

अथ धर्मार्थकामानामेकका[illegible]प्राप्तानां यः प्रथमं सेव्यस्तमाह—

धर्मार्थकामानां युगपत्समवाये पूर्वः पूर्वो गरीयान् ॥ १४॥

टीका—धर्मार्थकामनामधेयानां त्रयाणां यो पूर्वः प्रथमः स गरीयान् गुरुतरः। एतदुक्तं भवति, अर्थाद्धर्मः प्रथमं प्रोक्तः स तस्मात् प्रधान तर, तस्मात् क्रमेण ते सेव्यास्त्रयोऽपि गृहस्थेन। किं, सविभागे प्रहरे यावत् धर्मचिन्ता कर्तव्या ततः सविभागे प्रहरे यावदर्थचिन्ता तत कामचिन्ता। तथा च भागुरिः—

> धर्मचिन्तां तृतीयांशं दिवसस्य समाचरेत्।
> ततो वित्तार्जने तावन्मात्रं कामार्जने तथा ॥ १ ॥

अथ का[illegible] त्रयाणां मध्ये यः प्रथमं कार्यस्तदर्थमाह—

कालासहत्वे पुनरर्थ एव ॥ १५ ॥ *

[illegible] कालासहत्वात् अवहितात्र[illegible] का[illegible] धर्मादर्थो गुरु। [illegible] नास्ति। यदि पुनर्निकामतुरः पुरुषो भवति [illegible] यतोऽर्थो मुक्त धर्मकामयोर्न[illegible] विना सौ न भवत, [illegible] सविभागे प्रहरे यावदर्थचिन्तनीयस्य[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

४ अरिषड्वर्ग-समुद्देशः ।

अथ भूपतीनां शरीरस्थः शत्रुषड्वर्गो यथा भवति तदाह—

अयुक्तितः प्रणीताः काम-क्रोध-लोभ-मद-मान-हर्षाः क्षितीशानामन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गः ॥ १ ॥

टीका—अयुक्तयान्यायेन सेविताः सन्तः काम-क्रोध-लोभ-मान-मद-हर्षाः, एतेषां षण्णां वर्गः संघातोऽन्तरङ्ग. शरीरस्थ शत्रुषड्वर्गो क्षी-ङ्गाणो ज्ञेयः । केषां ? क्षितीशानां । कोऽर्थः ? षण्ठत्रय. [illegible] एते शत्रवः ! ।

अथ यथा कामो दुरभिसन्धिर्भवति तदाह—

परपरिगृहीतास्वनूढासु च स्त्रीषु दुरभिसन्धिः कामः ॥ २ ॥

टीका—पौरन्ध्रैर्या परिगृहीता वेश्यादय., तथा या अनूढा कुमारिकास्तासु विषये य. काम स दुरभिसन्धिर्न शुभदो भवति । तथा च गौतम —

> अन्याश्रिता च या नारी कुमारी या निषेवते ।
> तस्य काम प्रदुःखाय वधाय मरणाय च ॥ १ ॥

अथ क्रोधो यथारि संजायते तदाह

अविचार्य परस्यात्मनो वापायहेतु. क्रोध ॥ ३ ॥

टीका— य परस्य [illegible]

[illegible]

आगुरि —

मत्तिमात्मनः शक्तिं परस्य च समुत्सुकः ।
य कोपं याति भूपालः स विनाशं प्रगच्छति ॥ १ ॥

अथ लोभो यथा भवति तदाह —

दानार्हेषु स्वधनाप्रदानं परधनग्रहणं वा लोभः ॥ ४ ॥

टीका—[illegible] न दीयते स लोभः [illegible] निर्भ- [illegible] । [illegible] यशोर्थादिभिर्गृह्यते लोभः स [illegible]

[illegible] ।
[illegible] परिकीर्तितः ॥ १ ॥

अथ मानो यथा भवति तदाह—

दुरभिनिवेशामोक्षो यथोक्ताग्रहणं वा मानः ॥ ५ ॥

[illegible] यथोक्ताग्रहणं वा मानः यतोऽहं [illegible] स मानः । तथा च [illegible] —

[illegible] ।
[illegible] ॥ १ ॥

अथ मदो यथा भवति तदाह —

कुलबलैश्वर्यरूपविद्यादिभिरात्माहंकारकरणं परप्रकर्षनिबन्धनं वा मदः ॥ ६ ॥

[illegible]

[illegible]

कुलवीर्यस्वरूपार्थैर्यो गर्वो ज्ञानसम्भवः ।
स मदः प्रोच्यतेऽन्यस्य येन वा कर्षणं भवेत् ॥ १ ॥

अथ हर्षो यथा भवति तथाह—

* निर्निमितमन्यस्य दुःखोत्पादनेन स्वस्यार्थसंचयेन वा मनःप्रतिरंजनो हर्षः ॥ ७ ॥

टीका—निर्निमित्त अन्यस्य दुःखोत्पादनं क्रियते तत्र या प्रीतिः सोऽपि हर्ष इति । तथा च भारद्वाजः—

प्रयोजनं विना दुःखं यो दत्त्वान्यस्य हृष्यति ।
आत्मनोऽनर्थसंदेहैः स हर्षः प्रोच्यते बुधैः ॥ १ ॥

इत्यरिषड्वर्गसमुद्देशः ।

---

* हर्ष लक्षणाभिधायक सूत्र पुस्तक न विद्यते अतो मुद्रितपुस्तकस्थं सू… मयोजित यतःपि त्रुटितरूपेव । १ स्वस्यानर्थसंचयन वा मू । २ मन प्रीति… … पुस्तक ।

कुलैश्वर्यस्वरूपाद्यैर्यो गर्वो ज्ञानसम्भवः ।
स मदः प्रोच्यतेऽन्यस्य येन वा कर्षणं भवेत् ॥ १ ॥

अथ हर्षो यथा भवति तथाह—

* निर्निमित्तमन्यस्य दुःखोत्पादनेन स्वस्यार्थसंचयेन [१]वा मनःप्रतिरंजनो हर्षः ॥ ७ ॥

टीका—निर्निमित्तं अन्यस्य दुःखोत्पादनं क्रियते तत्र या प्रीतिः सोऽपि हर्ष इति । तथा च भारद्वाजः—

प्रयोजनं विना दुःखं यो दत्त्वान्यस्य हृष्यति ।
आत्मनोऽनर्थसंदेहः स हर्षः प्रोच्यते बुधैः ॥ १ ॥

इत्यरिषड्वर्गसमुद्देशः ।

---

* इदं लक्षणाभिधायकं सूत्रं पुस्तके न विद्यते अतो मुद्रितपुस्तकस्थं सूत्रं संयोजितं इतिरपि त्रुटितस्त्वेव । १ स्वस्यानर्थसंचयेन वा मू । २ मनः... जननो. मू–पुस्तके ।

व्रतचर्यादिको धर्मो न भूपानां सुखावहः।
तेषां धर्मः प्रदानेन प्रजासंरक्षणेन च ॥ १ ॥

अथ राज्ञो यथा योग्यं कर्म राज्यं भवति तदाह—

राज्ञः पृथ्वीपालनोचितं कर्म राज्यं ॥ ४ ॥

टीका—राज्ञो भूपतेर्यत्पृथ्वीपालनोचितं योग्यं कर्म षाड्गुण्यलक्षणं तद्राज्यमुच्यते न विलासार्थं तस्माद्भूपतिना षाड्गुण्यनिरतेन सदैव भाव्यं न केवलं विलासरतेन। तथा च वर्गः—

षाड्गुण्यचिन्तनं कर्म राज्यं यत्संप्रकल्प्यते।
न केवलं विलासार्थं तेन याह्यं कथंचन ॥ ११ ॥
यो राजा चिन्तयेन्नैव विलासैकमनाः सदा।
षाड्गुण्यं तस्य तद्राज्यं स चिरेण प्रणश्यति ॥ २ ॥

अथ भूयोऽपि भूपतेर्यद्राज्यं [शब्दः] तदाह—

वर्णाश्रमवती धान्यहिरण्यपशुकुप्यवृष्टिप्रदानफला च पृथ्वी ॥५॥

टीका—न केवलं भूपतेः प्रजापालने राज्यमुच्यते। चकाराद्वर्णाश्रमवती धान्यहिरण्यपशुकुप्यवृष्टिप्रदानफला च पृथिवी राज्यमुच्यते। वर्णा ब्राह्मणादयः, आश्रमा ब्रह्मचारिप्रभृतयस्ते विद्यन्ते यस्यां सा वर्णाश्रमवती। पुनरपि किंविशिष्टा पृथ्वी? धान्यहिरण्यपशुकुप्यवृष्टिप्रदानफला धान्यं सस्यं, हिरण्यं द्रव्यं, पशवश्चतुष्पदाद्याः, कुप्यं सुवर्णरूप्याभ्यामन्यत्। एतेषां पदार्थानां वर्षणं वृष्टिस्तस्या प्रदानं या करोति सा पृथिवी उच्यते। एतदुक्तं भवति—एते (एतेषां) पदार्थं (पदार्थानां) या वर्षणं करोति—एते पदार्था यस्या भूमेः सकाशान्नित्यं यस्य राज्ञः समुत्पद्यन्ते तद्राज्यमिति। तथा च भृगु—

वर्णाश्रमसमोपेता सर्वकामान् प्रयच्छति।
या भूमिर्भूपते राज्यं प्रोक्ता साप्या विडम्बना ॥ १ ॥

अथाश्रमलक्षणमाह—

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राश्च वर्णाः ॥ ६ ॥

ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो यतिरित्याश्रमाः ॥ ७ ॥

टीका—गतार्थमेतत् ।

अथोपकुर्वाणकस्य ब्रह्मचारिणो लक्षणमाह—

स उपकुर्वाणको ब्रह्मचारी यो वेदमधीत्य स्नायात् ॥ ८ ॥

टीका—स्नानं कुर्यात् । अत्र स्नानशब्देन यज्ञावभृथस्नानमुच्यते । एतदुक्तं भवति, वेदानपि पठित्वा तत्रस्थोऽपि विवाहं न करोति पश्चात् गुरोः सुश्रूषां करोति नान्यैर्ब्रह्मचारिभिरिव गृहं याति यज्ञावभृथमुच्यते । तत्कृत्येनोपकुर्वाणसंज्ञां प्राप्नोति । उपकुर्वाणकशब्देन यज्ञावभृथस्नानं । तथा च वर्गः—

> वेदानधीत्य यः कुर्याद्विवाहं यज्ञमेव वा ।
> उपकुर्वाणकीं संज्ञां ब्रह्मचारी लभेत सः ॥ १ ॥

अथ ब्रह्मचारिण उपकुर्वाणसंज्ञा यथा भवति तदाह—

स्नानं विवाहदीक्षाभिषेकः ॥ ९ ॥

टीका—गतार्थमेतत्

अथ नैष्ठिकस्य ब्रह्मचारिणो लक्षणमाह—

---

१ ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो भिक्षुश्च सप्तमे ।
चत्वारोऽगे क्रियाभेदादुक्ता वर्णवदाश्रमाः ॥ १ ॥

अथवा—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः ।
इत्याश्रमास्तु जैनानां सप्तमाङ्गाद्विनिःसृताः ॥ १ ॥

२ वेओ किल गिहत्थो तस्सङ्गा णवपयत्थसद्दहव्व ।
गुणसग्गणठाणावि य जीवट्ठाणाणि सव्वाणि ॥ १ ॥

उपासकाध्ययनाख्यशास्त्रं वा । ३ अस्यार्थः स्वयमाचार्येणात्तरप्रबन्धेन वक्ष्यते ।

स नैष्ठिको ब्रह्मचारी यस्य प्राणान्तिकमदारकर्म ॥ १० ॥

टीका—यस्य ब्रह्मचारिणः प्राणान्तिकं मृत्युपर्यन्तं कलत्ररहितं क्रियाकांडं भवति स नैष्ठिकः प्रोच्यते। निष्ठाशब्देन कष्टमभिधीयते तया दीव्यति नैष्ठिकः। तथा च भारद्वाजः—

> कलत्ररहितस्यात्र यस्य कालोऽतिवर्तते।
> कष्टेन मृत्युपर्यन्तो ब्रह्मचारी स नैष्ठिकः ॥ १ ॥

अथ पुत्रस्य लक्षणमाह—

य उत्पन्नः पुनीते वंशं स पुत्रः ॥ ११ ॥

यः पुत्र उत्पन्नो जातः कुलं पुनीते पवित्रतां नयति स्नानदानव्रतादिभिः स पुत्रः प्रोच्यते। तथा च भागुरिः—

> कुलं पाति समुत्पन्नो यः स्वधर्मं प्रतिपालयेत्
> पुनीते स्वकुलं पुत्रः पितृमातृपरायणः ॥ १ ॥

अथ कृतुपदस्य ब्रह्मचारिणो लक्षणमाह—

कृतोद्वाहः ऋतुप्रदाता ऋतुप्रदः ॥ १२ ॥

टीका—यो ब्रह्मचारी कृतोद्वाहः सन् ऋतुकालाभिगामी केवलं सन्तानाय भवति स ऋतुपदसंज्ञो भवति। तथा च वर्गः—

> सन्तानाय न कामाय यः स्त्रियं कामयेदृतौ।
> ऋतुप्रदः स सर्वेषामुत्तमोत्तमसर्ववित् ॥ १ ॥

अथापुत्रस्य ब्रह्मचारिणो यद्भवति तदाह—

अपुत्रो ब्रह्मचारी पितॄणामृणभाजनम् ॥ १३ ॥

---

१ प्रथमाश्रमिणः प्रोक्ता ये पञ्च पञ्चयादृशः।
तेऽधीत्य शास्त्रं स्वङ्गुर्वीरानन्यत्र नैष्ठिकात् ॥ १ ॥

२ पुत्र पुत्रो स्वात्मानं सुविधेरिव केशव।
य उपस्कुरुते वप्तुरन्य शत्रु सुतच्छलात् ॥ १ ॥

३ मेरे सूत्रं मु-मू-पुस्तके।

टीका—यो ब्रह्मचारी पुत्ररहितो भवति स पितृणामृणभाजनं भवति ततश्च पुनर्नरकं प्राप्नोति। तथा च ऋषिपुत्रकः—

पिता पुत्रमुखं दृष्ट्वा मुच्यते पैतृकादृणात्।
अपुत्रश्च पुनर्याति पुत्संज्ञं नरकं नरः॥ १॥

अथाध्ययनरहितस्य ब्रह्मचारिणो यद्भवति तदाह—

अनध्ययनो ब्रह्मणः॥ १४॥

टीका—अनध्ययनो वेदरहित स ब्रह्मणः पितामहस्य ऋणभाजनं भवति। तथा च ऋषिपुत्रक —

ब्रह्मचारी न वेद यः पठते मौढ्यमाश्रितः।
स्वायंभुवमृणं तस्य वृद्धिं याति कुसीदकम्॥ २॥

अथायजनब्रह्मचारिणो यद्भवति तदाह—

अयजनो देवानां॥ १५॥ *

टीका—यो ब्रह्मचारी अयजनो भवति यजनं न करोति स देवानां ऋणभाजनं भवति। तथा च ऋषिपुत्रः—

नाग्नेः परिग्रहो यस्य विद्यते ब्रह्मचारिणः।
ऋणभागी स देवानां जायते नात्र संशयः॥ १॥

अथ नैष्ठिकस्य ब्रह्मचारिणोऽपुत्रस्यापि यद्भवति तदाह—

आत्मा वै पुत्रो नैष्ठिकस्य॥ १६॥

टीका—वै शब्दः अवधारणे। नैष्ठिकस्य पूर्वोक्तलक्षणस्य ब्रह्मचारिण आत्मा एव पुत्र। एतदुक्तं भवति—यथाऽपुत्रः पुत्रार्थे पि[illegible] पुत्र [illegible]। तथा नैष्ठिको [illegible]ऽपुत्रोऽपि न [illegible]। पुनर्नरकं न [illegible]। [illegible] न प्रा[illegible]। तथा च ऋषिपुत्रक

* [illegible]

अथ नित्यानुष्ठानस्य लक्षणमाह—

ब्रह्मदेवपितृतिथिभूतयज्ञा हि नित्यमनुष्ठानम् ॥ १९ ॥

टीका—यत्स्वशक्त्या ब्रह्मण पूजा क्रियते तथाभीष्टदेवतार्चनं तथा पितृत्तर्पणं तथा कालप्राप्तब्राह्मणतर्पण तथा भूतयज्ञः। भूतयज्ञश-ब्देन वैश्वदेवबलिप्रदानमुच्यते एतानि कुर्वाणो गृहस्थो नित्यानुष्ठानी भवति। तथा च वर्गः—

पितृदेवमनुष्याणां पूजनं ब्राह्मणैः सह।
बलिप्रदानसंयुक्त नित्यानुष्ठानमुच्यते ॥ १ ॥

अथ नैमित्तिकानुष्ठानस्य लक्षणमाह—

दर्शपौर्णमास्याद्याश्रयं नैमित्तिकम् ॥ २० ॥

टीका—दर्शशब्देनामावास्या प्रोच्यते। पौर्णमासी प्रसिद्धा एते द्वे अपि आद्ये, प्रथमे यासा तिथीना ता दर्शपौर्णमास्याद्यास्तासु तिथिषु। देवतासमुद्देशेन यत् क्रियते धर्मफल तन्नैमित्तिकं। तथा च भागुरिः—

हुतवहकमलजगिरिजागजवदनभुजगगुहदिनेशशिवाः।
दुर्गायमविश्वाच्युतमदनेश्वरचण्डिकास्तिथिपतयः ॥ १ ॥
पितरोऽमावस्यां यान्ति तिथिपूजात्र या कृता
तेषां तन्नैमित्तिकं प्राह यथानित्यं च पर्वभवं ॥ २ ॥

अथान्यदपि चतुर्विधगृहस्थलक्षणमाह—

वैवाहिकः शालीनो जायावरोऽघोरो गृहस्थाः ॥ २१ ॥

---

१ गृहस्थस्येज्या वार्ता दत्ति स्वाध्याय संयम तप इत्यार्यषट्कर्माणि भवन्ति। तत्रार्हत्पूजेज्या, सा च नित्यमहश्चतुर्मुख कल्पवृक्षोऽष्टाह्निक एन्द्रध्वज इति। तत्र नित्यमहो नित्य यथाशक्ति जिनगृहेभ्यो निजगृहाद्गन्धपुष्पाक्षतादि-निवेदनं, चैत्यचैत्यालय कृत्वा ग्रामक्षेत्रादीना शासनदान मुनिजनपूजन च भवति। चतुर्मुख मुकुटबद्धै. क्रियमाणा पूजा सैव महामह सर्वतोभद्र इति। कल्पवृक्षोऽर्थिनः प्रार्थितार्थै. सन्तर्प्य चक्रवर्तिना क्रियमाणो मह। अष्टाह्निक

एकाग्निमादरेयस्तु श्रद्धया परया युतः ।
धर्मादिकः स विज्ञेयो वर्तमानपदे स्थितः ॥ १ ॥
अग्निहोत्रपरो यस्तु केवलं यजन विना ।
शालीनः स च विज्ञेयः पंचयज्ञानरार्चनात् ॥ २ ॥
एकयज्ञपरो याय पंचयज्ञपरोऽपि वा ।
यः शस्त्रार्थं न गृह्णाति शुल्को आपायरो हि सः ॥ ३ ॥
अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैर्यजते यः सदक्षिणः ।
अघोरः स च विज्ञेय सौम्यरूपवपुर्धरः ॥ ४ ॥

इति चतुर्विधगृहस्थसमुद्देशः ।

अथ वानप्रस्थलक्षणमाह—

प्रणीतं । ऐन्द्रध्वज इंद्रादिभि क्रियमाणः । कल्पितरुन सम्यात्रयेऽपि जगत्त्रय-स्वामिनः पूजाभिषेककरण । पुनरप्येरा विकल्पा अन्येऽपि पूजाविशेषाः सन्तीति । वार्तासिमषिकृषिवाणिज्यादिदिल्पकर्मभिर्विशुद्धवृत्त्याऽर्थोपार्जनमिति । दत्तिर्दयापात्रसमसकलभेदाच्चतुर्धा । तत्र दयादत्तिरनुकम्पयाऽनुग्राह्येभ्यः प्राणिभ्य स्त्रिशुद्धिभिरभयदान । पात्रदत्तिर्महातपोधनेभ्यः प्रतिग्रहार्चनादि-पूर्वक निरवद्याहारदान ज्ञानसंयमोपकरणादिदान च । समदत्ति स्वसमक्रियाय मित्राय निस्तारकोत्तमाय कन्या भूमिसुवर्णहस्त्यश्वरथरत्नादिदान । स्वसमानाभावे मध्यमपात्रस्यापि दान । सकलदत्तिरात्मीयस्वसन्ततिस्थापनार्थं पुत्राय गोत्रजाय वा धर्म धन च [illegible] प्रदान [illegible] । [illegible] समर्पण च । [illegible] । [illegible] ज्ञानभावनाध्ययन-ध्यानम् [illegible] । [illegible] अनशनादिद्वादशविधानु-ष्ठानं [illegible] । तत्र [illegible] आत्मध्यानार्थ-संयम [illegible] । [illegible] स्वभावनावर [illegible] । [illegible]

जैनमतानुसारेण गृहस्थ [illegible] । [illegible] । [illegible] गृहस्थ-भेदप्रतिपादक सूत्र [illegible] । अस्य [illegible] दर्शन विद्वानस्मभि निश्चित । अतस्तेन स्वमतानुसारेण बहूनि सूत्राणि विरचय्य मयाऽर्ज्जितानि । तानि च तत्र तत्र निवेदयिष्याम ।

इति चतुर्विधध्यानप्रस्यसमुद्देशः ।

अथ यतिलक्षणमाह—

यो देहमात्रारामः सम्यग्विद्यानौलाभेन तृष्णासरित्तरणाय योगाय यतते यतिः ॥ २४ ॥

टीका—यो देहमात्रारामः शरीरमात्रेणात्मन रमते नान्यत्किंचिदानन्दार्थं विलोकयति । सम्यग्विद्याशब्देन ज्ञानमभिधीयते सा एव नौर्यानपात्रं तामभ्यस्यन् संसारनदीपारगमनाय यो योगस्तदर्थं यतते यत्नं करोति स यतिः । तथा च हारीतः—

आत्मारामो भवेद्यस्तु विद्यासेवनतत्परः ।
संसारतरणार्थाय योगभाग्यतिरुच्यते ॥ १ ॥

अथ चतुर्विधयतिलक्षणं—

*** कुटीरकबह्वोदकहंसपरमहंसा यतय ॥ २५ ॥**

टीका—त्रिदण्डी नशिखी यस्तु ब्रह्मसूत्री गृहच्युतः ।
सकृत् पुत्रगृहे स्नाति यो यतिः स कुटीचरः ॥ १ ॥

* यतिभेदप्रतिपादकं सूत्रं टीकाकर्त्रा विरचितं, नेदं मूलं मु-लि-मूल पुस्तके । जैनमतानुसारेण तु यतीनां इमे चत्वारो भेदाः । भिक्षवो जिनरूपधारिणस्ते बहवो भवन्ति । अनगारा यतयो मुनय ऋषयश्चेति । तत्रानगाराः सामान्यसाधव उच्यन्ते । यतय उपशमक्षपकश्रेण्यारूढा भण्यन्ते । मुनयोऽवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानिनश्च कथ्यन्ते । ऋषय ऋद्धिप्राप्तास्ते चतुर्विधा राजब्रह्मदेवपरमभेदात् । तत्र राजर्षयो विक्रियाक्षीणर्द्धिप्राप्ता भवन्ति । ब्रह्मर्षयो बुद्ध्यौषधिऋद्धियुक्ताः कीर्त्यन्ते । देवर्षयो गगनगमनर्द्धिसंयुक्ताः कथ्यन्ते । परमर्षयः केवलज्ञानिनो निगद्यन्ते । अपि च—

देशप्रत्यक्षवित्केवलभृदिह मुनि स्यादृषि प्रसृतर्द्धि-
रारूढश्रेणियुग्मोऽजनि यतिरनगारोऽपरः साधुरुक्तः ।
राजा ब्रह्मा च देव परम इति ऋषिर्विक्रियाऽक्षीणशक्ति-
प्राप्तो बुद्ध्यौषधीशो वियदयनपटुर्विश्ववेदी क्रमेण ॥ १ ॥

कुटीचरस्य रूपेण ब्रह्मभिक्षाकृतादानः ।
बन्होदकः स विज्ञेयो विष्णुजापपरायणः ॥ २ ॥
एकरात्रं वसेद्ग्रामे स्थाने चैव त्रिरात्रकं ।
दण्डभिक्षां चरेत्तत्र पुटिकां वा समाचरेत् ॥ ३ ॥
विप्राणामावसथेषु विधूमेषु गताग्निषु ।
हंसस्य जायते ज्ञानं यदा स्यात्परमो हि सः ॥ ४ ॥
चतुर्वर्णप्रभोक्ता स्यात्स्वेच्छया दण्डधृत्तदा ।
सर्वारम्भपरित्यागो भैक्षास्य वृक्षमूलतः ॥ ५ ॥
निष्परिगृहीताद्रोहः समता सर्वजन्तुषु ।
प्रियाप्रियापरिष्वङ्गः सुखदुःखाविकारिता ॥ ६ ॥
सवाह्याभ्यन्तरं शौचं वाङ्मनोव्रतचारिता ।
सर्वेन्द्रियसमाहारो धारणा ध्याननित्यता ॥ ७ ॥
भावसंशुद्धिरित्येवं परिव्राड्धर्म उच्यते ।

चतुर्विधयतिसमुद्देशः ।

अथ राज्यस्य मूलं यद्भवति तदाह—

राज्यस्य मूलं क्रमो विक्रमश्च ॥ २६ ॥

टीका—क्रमशब्देन पितृपैतामहिकं राज्यमुच्यते । विक्रमः शौर्यं । एतत् द्वयमेव राज्यमूलं । यथा वृक्षेण मूलेन सता सर्वशाखादि-पुष्पफलं भवति तथा च राज्यस्य क्रमविक्रमाभ्यां सहितस्य सर्वं हस्त्यश्व-रथधान्यादिकं भवति । तथा च शुक्रः —

क्रमविक्रममूलस्य राज्यस्य तु यथा तरोः ।
समूलस्य भवेद्वृद्धिस्ताभ्यां हीनस्य संक्षयः ॥ १ ॥

अथ यथा क्रमसम्पत्तिर्भवति तदाह—

आचारसम्पत्तिः क्रमसम्पत्तिं करोति ॥ २७ ॥

---

१ राज्यमूल मु-पुस्तके ।

टीका---आचारो लोकव्यवहारस्तेन वर्तमानस्य नयवृद्धौ राज्यवृद्धि-र्भवति । तथा च शुक्रः---

लौकिकं व्यवहारं यः कुरुते नयवृद्धितः ।
तद्वृद्धया वृद्धिमायाति राज्यं तत्र क्रमागतं ॥ १ ॥

अथ यदा विक्रमस्यालङ्कारो भवति तदाह---

अनुत्सेकः खलु विक्रमस्यालङ्कारः ॥ २८ ॥

टीका---अनुत्सेकशब्देनागर्वोऽभिधीयते स विक्रमस्य शोभां जन-यति । न कनकादिभूषणं । तथा च गुरुः---

भूषणैरपि संयुक्तः स विरेजे विगर्वकः ।
सगर्वो भूषणाढ्योऽपि लोकेऽस्मिन् हास्यतां व्रजेत् ॥ १ ॥
योऽमात्यान्मन्यते गर्वान्न गुरून् न च बान्धवान् ।
शूरोऽहमिति विज्ञेयो म्रियते रावणो यथा ॥ २ ॥

अथ भूपस्य राज्यलाभो यथा भवति तदाह---

क्रमविक्रमयोरन्यतरपरिग्रहेण राज्यस्य दुष्करः परिणामः २९

टीका---क्रमविक्रमयोरन्यतरपरिग्रहेणैकतमस्वीकारेण राज्यस्य दुष्करो न शक्यते परिणामः परिणतिः । एतदुक्तं भवति पराक्रमरहितं क्रमा-गतं पितृपैतामहिकमपि राज्यं विनश्यति । यदि बलेन परराज्यं गृहीतं परिणामे न याति भूयोऽपि तथा कार्यं, क्रमेण यथा गच्छति । तथा च शुक्रः---

राज्यं हि सलिलं यद्वद्बलेन समाहृतं ।
भूयोऽपि तत्ततोऽभ्येति तत्पात्रकस्य संक्षय ! ॥ १

१ अस्य स्थाने 'नयवृद्धिर्' इति पाठ पुस्तके । २ अन्यतमेति पा. पुस्तके सोपि समीचीन एव ।

अथवा पितृपैतामहिकेऽपि राज्ये प्राप्ते पराक्रमं त्यक्त्वा भीरुत्वं प्रतिगृह्णाति तस्यापि राज्यस्य परिणाम: परिणतिर्दुष्करा भवति। कोऽर्थ: ? राज्यभ्रंशो भवतीति। तथा च नारद:—

पराक्रमच्युतो यस्तु राजा संग्रामकातरः
अपि क्रमागतं तस्य नाशं राज्यं प्रगच्छति ॥ १ ॥

अथ क्रमविक्रमयोरधिष्ठानं राजा यथा भवति तथाह—

क्रमविक्रमयोरधिष्ठानं बुद्धिमानाहार्यबुद्धिर्वा ॥ ३० ॥

टीका—यो बुद्धिमान् राजा भवति स क्रमविक्रमयोरधिष्ठानं स्थानं भवति। आहार्यबुद्धिर्वा तथा आहार्यबुद्धिर्यो भवति सोऽपि क्रमविक्रमयोरधिष्ठानं भवति। आहार्या बुद्धिर्यस्यासौ आहार्यबुद्धि:। अमात्यदत्तोपदेश इत्यर्थ:। तथा च शुक्र:—

स बुद्धिसहितो राजा नीतिशौर्यगृहं भवेत्।
अथवामात्यबुद्धिस्तु बुद्धिहीनो विनश्यति ॥ १ ॥

अथ बुद्धिमान् यथा राजोच्यते तदाह—

यो विद्याविनीतमतिः स बुद्धिमान् ॥ ३१ ॥

टीका—यो शास्त्रानुगतबुद्धिर्भवति स बुद्धिमान् न शिल्पादिभिर्यथा प्राकृतो जन:। तथा गुरु:—

शास्त्रानुगा भवेद्बुद्धिर्यस्य राज्ञः स बुद्धिमान्।
शास्त्रयुक्त्या विहीनस्तु शौर्ययुक्तो विनश्यति ॥ १ ॥

अथ शास्त्ररहितबुद्धे: शूरस्यापि नृपस्य यद्भवति तदाह—

सिंहस्येव केवलं पौरुषावलम्बिनो न चिरं कुशलम् ॥ ३२ ॥

टीका—शास्त्ररहितस्य केवलं पौरुषयुक्तस्य चिरं प्रभूतकालं कुशलं न भवति केनापि वध्यते दुष्टोऽयमिति। तथा च शुक्र:—

---

१ 'नय' पुस्तके पाठः

धीमान्सुगुणसायस्तु हरिः स शोभते जनैः ।
शास्त्रबुद्धिविहीनस्तु यतो मार्गं न गच्छति ॥ १ ॥

अथ शास्त्रहीनस्य दूषणमाह—

अशस्त्रः शूर इवाशास्त्रः प्रज्ञावानपि भवति विद्विषां वश्यः॥२३

टीका—यथा शस्त्रहीन आयुधवर्जितः पुमान् शूरोऽपि वैरिणां वश्यो भवति तथा शास्त्रहीनः शूरोऽपि पुमान् प्रज्ञावानपि सर्वेषां वैरिणां वश्यो भवति तथा च गुरुः—

नीतिशास्त्रविहीनो य प्रज्ञावानपि दृश्यते ।
परैः शास्त्रविहीनस्तु वैरवर्गैरपि वीर्यवान् ॥ १ ॥

अथ शास्त्रं पुरुषस्य यथा भवति तदाह—

अलोचनगोचरे ह्यर्थे शास्त्रं तृतीयं लोचनं पुरुषाणाम् ॥२४॥

टीका—अर्थशब्देन प्रयोजनमभिधीयते । यत्प्रयोजनं लोचनाभ्यां न दृश्यते तस्य दर्शनार्थं तृतीयं लोचनं शास्त्रं भवति । एतदुक्तं भवति, तत्प्रयोजनं शास्त्रदृष्ट्या ज्ञेयं, शुभमशुभं भवति न वेति निश्चयः कार्यः । तथा च गुरुः—

अदृष्टं निश्चयं कुर्यात् कार्यं सन्दिह्यमानके ।
शास्त्रेण निश्चयः कार्यस्तदर्थं च क्रिया ततः ॥ १ ॥

अथ शास्त्रहीनः पुमान् यथा भवति तदाह—

अनधीतशास्त्रचक्षुष्मानपि पुमानन्ध एव ॥ २५ ॥

टीका—येन पुरुषेण शास्त्रं पठितं न भवति स लोचनसहितोऽप्यन्ध एव ज्ञेयः । तथा च [illegible]—

शुभाशुभं न पश्यति यथान्धः पुरुषः क्वचित् ।
शास्त्रहीनस्तथा मर्त्यो धर्माधर्मौ न विन्दति ॥ १ ॥

१ [illegible] मु पुस्तके । २ [illegible] मु पुस्तके ।

अथ मूर्खः पुमान् यथा भवति तदाह—

न ह्यज्ञानादपरः पशुरस्ति ॥ ३६ ॥

टीका—अस्मिन् जगति अज्ञानान्मूर्खादन्यो द्वितीयः पशुर्नास्ति। यतः पशुस्तृणानि भक्षयति ततो मूत्रपुरीषक्रियां करोति तथा मूर्खोऽपि खानपानार्थं मूत्रपुरीषे च केवलं करोति, धर्माधर्मौ न जानाति। तथा च वशिष्ठः—

मर्त्या मूर्खतमा लोकाः पशवः शृङ्गवर्जिताः।
धर्माधर्मौ न जानन्ति यतः शास्त्रपराङ्मुखाः ॥ १ ॥

अथ भुवन यादृशेन राज्ञा वृद्धिं न याति तथाह—

वरमराजकं भुवनं न तु मूर्खो राजा ॥ ३७ ॥

टीका—वरं अराजकं भूपतिहीनं भुवनं न तु मूर्खभूपालाधिष्ठितं। तथा च गुरुः—

अराजकानि राष्ट्राणि रक्षन्तीह परस्परम्।
मूर्खो राजा भवेद्येषां तानि गच्छन्ति संक्षयं ॥ १ ॥

अथ कुमारो यथा पदवीमाप्नोति तदाह—

असंस्कारं रत्नमिव सुजातमपि राजपुत्रं न नायकपदायामनन्ति साधवः ॥ ३८ ॥

टीका—यस्य राजपुत्रस्य सुजातस्यापि कुलीनस्यापि संस्कारः कौशल्यं न भवति त नायकत्वे यौवराज्यपदे नामनन्ति न वाञ्छन्ति सर्वाः प्रकृतयः यत् युवराजोऽयं भवतु। कथं, रत्नमिव परं संस्काररहितं, यावच्छाणो छीढ (न) क्रियते सुजातमपि समुद्रोत्पन्नमपि। नायकत्वे न मन्यते यथा रत्नमसंस्कृतं।

---

१ अन्य. इति मु-पुस्तके पाठान्तरं। २ द्विवि मु-मू-पुस्तके नास्ति। ३ अकृतसंस्कारं मु-पुस्तके। ४ नीतिमन्तः इति मू-पुस्तके।

अथ दुर्विनीताद्राज्ञः सकाशात् प्रजानां यद्भवति तदाह—

ने दुर्विनीताद्राज्ञः प्रजानां विनाशादपरोऽस्त्युत्पातः ॥३९॥

टीका—प्रजानां लोकानां दुर्विनीताद्राज्ञः सकाशात् अन्य उत्पातो विनाशलक्षणो नास्ति न विद्यते । उत्पातैर्भूमिकम्पादिभिः किल प्रजाक्षयो भवति तेषां सकाशादपि अधिक उत्पातो दुश्चेष्टितस्य भूपतेः सकाशाद्भवति । तथा च हारीतः—

> उत्पातो भूमिकम्पाद्यः शांतिकैर्याति सौम्यतां ।
> नृपदुर्वृत्त उत्पातो न कथंचित्प्रशाम्यति ॥ १ ॥

अथ दुर्विनीतस्य नृपतेर्लक्षणमाह—

यो युक्तायुक्तयोरविवेकी विपर्यस्तमतिर्वा स दुर्विनीतः ४०

टीका—यो राजा युक्तायुक्तयोर्योग्यायोग्ययोः पदार्थयोः विषयेऽविवेकी विवेकहीनो बुद्ध्या न जानाति, अयोग्यानां प्रसादं करोति, योग्यानामपमानं करोति स दुर्विनीतः । तथा यो विपर्यस्तमतिर्विपरीतबुद्धिर्यः शिष्टानामाचारं न मन्यते पापानां करोति स विपर्यस्तमतिः । तथा च नारदः—

> युक्तायुक्तविवेकं यो न जानाति महीपतिः ।
> दुर्वृत्तः स परिज्ञेयो यो वा वाममतिर्भवेत् ॥ ११ ॥

अथ द्रव्यस्य लक्षणमाह—

यत्र सद्भिराधीयमाना गुणा संक्रामन्ति तद्द्रव्यं ॥ ४१ ॥

टीका—यत्र यस्मिन् पुरुषद्रव्ये सद्भिः [illegible] आधीयमाना नियोज्यमाना गुणाः संक्रामन्ति [illegible] । तथा च भागुरिः

१ न पुनर्गतो मु पुस्तके । [illegible]
दुर्विनीत [illegible] मु पुस्तके सूत्र । [illegible] मु [illegible]
विपर्यस्तमतिर्वा मु-पुस्तके ।

योज्यमाना उपाध्यायैर्यत्र पुंसि स्थिराश्च ते ।
भवन्ति नरि द्रव्यं तत्प्रोच्यते पार्थिवोचितम् ॥ १ ॥

अथ द्रव्यप्रकृतेर्यदि तदद्रव्यप्रकृतिर्भवति तस्य राजकुलस्य याद्दग्भवति तदाह—

यतो द्रव्यप्रकृतेरप्यस्ति पुरुषः संकीर्णगजवत् ॥ ४२ ॥

टीका—यतः कारणात् द्रव्यप्रकृतेरुत्तमपुरुषस्य सर्वगुणयुक्तस्य सकाशात् कश्चित् पुरुषः संकीर्णगजसदृशो भवति मिश्रगुणः । यथा भद्रमन्दरमृगजात्यो मिश्रगुणो गजः स राजार्हो न भवति तथा सोऽपि द्रव्यप्रकृतिः पुरुषो द्रव्यप्रकृतिना जातोऽपि । तथा च वल्लभदेवः—

शिष्टात्मजो विदग्धोऽपि द्रव्याद्रव्यस्वभावकः ।
न स्याद्राज्यपदार्होऽसौ गजो मिश्रगुणो यथा ॥ १ ॥

तथा च गुरु —

यः स्यात् सर्वगुणोपेतो राजद्रव्यं तदुच्यते ।
सर्वकार्येषु भूपानां तदर्हं कार्यसाधनं ॥ १ ॥

अथ द्रव्यभूतस्य पुरुषस्य यद्भवति तदाह—

द्रव्यं हि क्रियां विनयति नाद्रव्यं ॥ ४३ ॥

टीका—हि यस्मात्कारणात् यत्पुरुषद्रव्यं भवति तत् क्रियां राजलक्षणां विनयति योग्यतां नयति । नाद्रव्यं, गुणच्युतं । तथा च भागुरिः —

गुणाढ्यः पुरुषः कृत्यं भूपतीनां प्रसिद्ध्यति ।
मदभरमापि प्राप्ता निर्गुणेऽपि न दद्यु ॥ १ ॥

अथ बुद्धिगुणानां लक्षणमाह

शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणविज्ञानोहापोहतत्त्वाभिनिवेशा बुद्धिगुणाः ॥ ४४ ॥

---

१ द्रव्याद्रव्यप्रकृतिरपि मु-पुस्तके । २ निविशेषाभावा इमे बुद्धिगुणाः, मु-मू. प्रतौ बुद्धिगुणा इति मू-पुस्तके ।

टीका—एते अष्टावपि बुद्धिगुणाः । एतेषां व्याख्यानं स्वयमाचार्येण कृतं । तद्यथा—

श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा ॥ ४५ ॥

श्रवणमाकर्णनम् ॥ ४६ ॥

ग्रहणं शास्त्रार्थोपादानं ॥ ४७ ॥

धारणमविस्मरणम् ॥ ४८ ॥

मोहसन्देहविपर्यासव्युदासेन ज्ञानं विज्ञानम् ॥ ४९ ॥

विज्ञातमर्थमवलम्ब्यान्येषु व्याप्त्या तथाविधवितर्कणमूहः ॥ ५० ॥

उक्तियुक्तिभ्यां विरुद्धादर्थात् प्रत्यवायसंभावनया व्यावर्तनमपोहः ॥ ५१ ॥

अथवा ज्ञानसामान्यमूहो ज्ञानविशेषोऽपोहः ॥ ५२ ॥

विज्ञानोहापोहानुगमविशुद्धमिदमित्थमेवेति निश्चयस्तत्त्वाभिनिवेशः ॥ ५३ ॥

अथ विद्यानां स्वरूपमाह—

याः समधिगम्यात्मनो हितमवैत्यहितं चापोहति ताः विद्याः ॥ ५४॥

टीका—या समधिगम्य ज्ञात्वा आत्मनो हितमवैति उपादयति, अहितं चापोहति नाशं नयति ता विद्याः कथ्यन्ते शेषमाविद्याः । तथा च भागुरिः —

१ [illegible] मू पुस्तके मूल [illegible] इति मु-पुस्तके । [illegible] मु-मू पुस्तके [illegible] ज्ञानमपोह इति मु मू पुस्तके पाठः । [illegible] मु पुस्तके । [illegible]

यस्तु विद्यामधीत्याथ हितमात्मनि संचयेत् ।
अहितं नाशयेद्विद्यास्ताश्चान्याः क्लेशदा मताः ॥ १ ॥

अथ राजविद्यानां संज्ञाः संख्याश्चाह—

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिरिति चतस्रो राजविद्याः

आन्वीक्षिकीमभ्यस्यतो राज्ञो यद्भवति तदाह—

अधीयानो ह्यान्वीक्षिकीं कार्याणां बलाबलं हेतुभिर्विचारयति, व्यसनेषु न विषीदति, नाभ्युदयेन विकार्यते, समधिगच्छति प्रज्ञावाक्यवैशारद्यम् ॥ ५६ ॥

टीका—गतार्थमेतत् ।

त्रयीं पठन् वर्णाश्रमेष्वतीव प्रगल्भते, जानाति च समस्तामपि धर्माधर्मस्थितिम् ॥ ५७ ॥

टीका—गतार्थमेतत् । तथा—

युक्तितः प्रवर्तयन् वार्तां सर्वमपि जीवलोकमभिनन्दयति लभते च स्वयं सर्वानपि कामान् ॥ ५८ ॥

टीका—गतार्थमेतत् । तथा—

यम इवापराधिषु दण्डप्रणयनेन विद्यमाने राज्ञि न प्रजाः स्वमर्यादामतिक्रामन्ति प्रसीदन्ति च त्रिवर्गफला विभूतयः * ॥ ५९ ॥

टीका—गतार्थमेतत् ।

---

१ कार्याकार्याणामपि मु मू-पुस्तके । २ प्रज्ञावान् मु-पुस्तके ।

* [illegible] " [illegible] " [illegible] । कौटिल्यः [illegible] ([illegible]) । [illegible] हि [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।

अथ चतसृणामपि विद्यानां प्रयोजनमाह—

आन्वीक्षिक्यध्यात्मविषये, त्रयी वेदयज्ञादिषु, वार्ता कृषिकर्मादिका, दण्डनीतिः साधुपालनदुष्टनिग्रहः ॥ ६० ॥

टीका—गतार्थमेतत् । तथा च गुरुः—

> आन्वीक्षिक्यात्मविज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ ।
> अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ ॥ १ ॥

अथ राजा यथा विद्यां जानाति तथाह—

चेतयते च विद्यावृद्धसेवायाम् ॥ ६१ ॥

वृद्धशब्देन धर्मशास्त्राणि प्रोच्यन्ते, न वलिपलितभाजः । तथा च नारदः—

> न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
> यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ १ ॥

अथ राजाऽजातविद्यावृद्धसंयोगो यथा भवति तथाह—

अजातविद्यावृद्धसंयोगो हि राजा निरंकुशो गज इव सद्यो विनश्यति ॥ ६२ ॥

टीका—यो राजा अजातवृद्धसेवी भवति स निरंकुश उन्मार्गगामी भवति ततोऽङ्कुशरहितो गज इव सद्यः शीघ्रं विनश्यति । तस्माद्राज्ञा विद्या ज्ञातव्या वृद्धाश्च सेवनीयाः । तथा वर्गिपुत्रः—

> यो विद्यां वेत्ति नो राजा वृद्धांश्चैवोपसेवते ।
> स शीघ्रं नाशमायाति निरंकुश इव द्विपः ॥ १ ॥

अथ राज्ञो विशिष्टसङ्गेन यद्भवति तदाह—

---

१ नेदं सूत्रं मुद्रितपुस्तके । २ उत्पद्यते चरति मु-पुस्तके, यतत इति मू-पुस्तके ।

अनधीयानोऽपि विशिष्टजनसंसर्गात्परां व्युत्पत्तिमवाप्नोति ॥ ६३ ॥

टीका—अनधीयानोऽप्यपठन्नपि विद्याः शिष्टजनसेवनात्परां व्युत्पत्तिमवाप्नोति उत्तमं विवेकं लभते जानातीत्यर्थः। तथा च व्यासः—

विवेकी साधुसङ्गेन जडोऽपि हि प्रजायते।
चन्द्रांशुसेवनान्नूनं यद्वच्च कुमुदाकरः ॥ १ ॥

अथ भूपस्य साधुसंगाद्यद्भवति तदाह—

अन्यैव काचित्खलु छायोपजलतरूणाम् ॥ ६४ ॥

टीका—उप-समीपे जलस्य, स्थितानां तरूणां काचिदपूर्वा छाया कान्तिर्भवति। तथा च बल्लभदेवः—

अन्यापि जायते शोभा भूपस्यापि जडात्मनः।
साधुसंगाद्धि वृक्षस्य सलिलाद्दूरवर्तिनः ॥ १ ॥

अथ राज्ञां यादृशा उपाध्याया भवन्ति तानाह—

वंशवृत्तविद्याभिजनविशुद्धा हि राज्ञामुपाध्यायाः ॥ ६५ ॥

टीका—राज्ञां भूपतीनां उपाध्याया गुरवः कीदृशा भवन्ति योग्या वंशवृत्तविद्याभिजनशुद्धाः, वंशोद्भवाः स्ववंशे पूर्वेषां ये पाठकाः, क्रमागता इत्यर्थः। तथा वृत्तशब्देन चारित्रमभिधीयते। तथा विद्याधिकाः। तथाभिजनशब्देन कुलीनता प्रोच्यते स्ववंशेऽपि ये जारचौराद्या न भवन्ति ते भूपतीनां विद्यागमे योग्याः। तथा नारदः—

पूर्वेषां पाठका येषां पूर्वजा वृत्तसंयुताः।
विद्याकुलीनतायुक्ता नृपाणां गुरवश्च ते ॥ १ ॥

अथ शिष्टानां प्रणतस्य नृपतेर्यद्भवति तदाह—

---

१ अनधीयानोऽप्यनधीतिशिष्टी विशिष्ट० इत्यादि पाठान्तरं मु-पुस्तके।

२ काचिदिति पाठः मु-मू-पुस्तके नास्ति।

शिष्टानां नीचैराचरन्नरपतिरिहलोके स्वर्गे च महीयते ॥६६॥

टीका—(यो नरपतिः शिष्टानां नीचैराचरन् इह लोके) माहात्म्यमवाप्नोति स्वर्गेऽपि देवैः पूज्यते । तथा च हारीतः—

> साधुपूजापरो राजा माहात्म्यं प्राप्य भूतले ।
> स्वर्गगतस्ततो देवैरिन्द्राद्यैरपि पूज्यते ॥ १ ॥

अथ राजा यादृशो भवति तदाह—

राजा हि परमं दैवतं नासौ कस्मैचित्प्रणमत्यन्यत्र गुरुजनेभ्यः ॥ ६७ ॥

टीका—योऽसौ राजा स किंविशिष्टः ? परमं दैवतं कर्तारमित्यर्थः । तेन कस्यचिन्नप्रतो न गच्छति । अन्यत्र गुरुजनेभ्यः पूज्यान् मुक्त्वा मातृपितृपूर्वकान् । तथा च भृगुः—

> यमेन्द्रस्य सोमस्य यमस्य वरुणस्य च
> तेजस्तस्य नृपस्तेन कस्यचिन्न नतिं व्रजेत् ॥ १ ॥

अथाशिष्टसकाशाद्विद्याया यद्भवति तदाह—

वरमज्ञानं नाशिष्टजनसेवया विद्या ॥ ६८ ॥

टीका—वरं प्रधानमज्ञानं मूर्खत्वं नाशिष्टजनसेवया दुर्जनशुश्रूषया विद्याया आप्तिः । तथा च हारीतः—

> वरं जनस्य मूर्खत्वं नाशिष्टजनसेवया ।
> पाण्डित्यं यस्य संसर्गात् पापात्मा जायते नृपः ॥ १ ॥

अथ शिष्टसंगाद्दोषमाह—

अलं तेनामृतेन यत्रास्ति विषसंसर्गः ॥ ६९ ॥

---

१ शिष्टेष्विति मु मू पुस्तके । २ रिह परत्र च महीयते मु-पुस्तके, परलोके इति मू-पुस्तके पाठः । ३ कगन्ध पाठ कल्पित, । ४ परं देव मू-पुस्तके टीकायां च ५ देवगुरुजनेभ्य मू-पुस्तके

टीका—अलं पर्याप्तं तिष्ठतु तदमृतं, यत्रास्ति विषसंसर्गः। कालकूट-मध्यगतं। एतदुक्तं भवति, अमृतमपि कालकूटमिश्रं मारयति, विद्यामृतमपि कालकूटलक्षणात्पापजनानां (?) तत्किंचित् पापं करोति येन मृत्युमवाप्नोति। तथा च नारदः—

नास्तिकानां मतं शिष्यः पीयूषमिव मन्यते।
दुःखावहं परे लोके नो चेद्विषमिव स्मृता (तम्)॥ १॥

अथ गुरूणा शिष्या यादृशा भवन्ति तानाह—

गुरुजनशीलमनुसरन्ति प्रायेण शिष्याः ॥ ७० ॥

टीका—ये शिष्याश्छात्रा भवन्ति ते प्रायेण बाहुल्येन गुरूणां शीलमनुसरन्ति तेन व्यवहरन्ति तस्मात् सुशीला गुरवः कार्याः। तथा च वर्ग.—

यादृशान् सेवते मर्त्यस्तादृक्चेष्टा प्रजायते।
यादृशं स्पृशते देशं वायुस्तद्गन्धमावहेत्॥ १॥

अथ सुकुलशीलगुरूसेवनाद्यद्भवति तदाह—

नवेषु मृद्भाजनेषु लग्नः संस्कारो ब्रह्मणाप्यन्यथा कर्तुं न शक्यते ॥ ७१ ॥

टीका—शुभो वा यदि वा निकृष्ट. तस्मात्सुमतिरुपाध्यायः कार्यः। तथा च वर्ग.।

कुविद्या वा सुविद्यां वा प्रथम यः पठेन्नरः।
तथा कृत्यानि कुर्वाणो न कथंचिन्निवर्तते॥ १॥

अथ राजा स्वल्पज्ञानो यथा भवति तदाह—

अन्ध इव वरं परप्रणेयो राजा न ज्ञानलवदुर्विदग्धः॥७२॥

---

१ अत्रत्य पाठो व्युच्छिन्न इवाभाति।

टीका—यद्रं श्रेष्ठं जात्यन्धो राजा अन्येन नीयमानः कुमार्गे न गच्छति यत्प्रणेयो यतः । यः पुनः ज्ञानलवः स्तोकं जानाति न प्रभूतं स दुर्विदग्धो भवति विदग्धतां न वेत्ति नित्यं षाड्गुण्यविषये विपर्ययमाचरन्नुन्मार्गेण गच्छति, अन्यायी भवतीत्यर्थः । तथा च गुरुः—

मंत्रिभिर्मन्त्रकुद्दालैरन्धः संचार्यते नृप ।
कुमार्गेण न स याति स्वल्पज्ञानस्तु गच्छति ॥ १ ॥

अथ दुर्विदग्धस्य राज्ञो यद्भवति तदाह—

नीलीरक्ते वस्त्र इव को नाम दुर्विदग्धे राज्ञि रागान्तरमाधत्ते ॥ ७३ ॥

टीका—अहो को नाम जनो दुर्विदग्धे दुर्घटिते भूपाले ज्ञानलवाश्रये रागान्तरमन्यभावं तस्य कर्तुं समर्थः, अपि तु न कश्चित् । कस्मिन्निव ? नीलीरक्ते वस्त्र इव, यथा नीलीवस्त्रे नान्यो लभते (रागः) न तु उत्सारयितुं शक्यते तथा भूपस्यापि । तथा च नारदः—

दुर्विदग्धस्य भूपस्य भावः शक्येत नान्यथा ।
कर्तुं वर्णोऽत्र यद्वच्च नीलीरक्तस्य वाससः ॥ १ ॥

अथ यथार्थवादिनां विदुषां यद्भवति तदाह—

यथार्थवादो विदुषां श्रेयस्करो यदि न राजा गुणप्रद्वेषी ।७४।

टीका—यदि न राजा गुणान् द्वेष्टि निन्दति तदा यथार्थवादः [illegible] वचनानि परुषाण्यपि सुखावहानि तद्विदुषां पण्डितानां श्रेयस्कराणि तस्य राज्ञो भवन्ति । [illegible] यदि न स्यात् यदि राजा [illegible] न भवति गुणद्वेषी [illegible] । तथा च [illegible]

श्रेयस्कराणि वाक्यानि [illegible] यथार्थतः ।
विद्वद्भिर्यदि भूपालो गुणद्वेषी न [illegible] ॥ १ ॥

[illegible]
१-[illegible]

६ आन्वीक्षिकी-समुद्देशः ।

अथाध्यात्मयोगलक्षणमाह—

आत्ममनोमरुत्तत्त्वसमतायोगलक्षणो ह्यध्यात्मयोगः ॥ १ ॥

टीका—आत्मा चिद्रूपः, मनः प्रसिद्धं, मरुतः शरीरस्था वायवः, तत्त्वं पृथिव्यादि तेषां समं एकहेलया समतालक्षणः स हि स्फुटं अध्यात्मयोगः कथ्यते । तथा चर्षिपुत्रकः—

आत्मा मनो मरुत्तत्त्वं सर्वेषां समता यदा ।
तदा ह्यध्यात्मयोगः स्यान्नराणां ज्ञानदः स्मृतः ॥ १ ॥

तथा च व्यासः—

न पद्मासनतो योगो न च नासाग्रवीक्षणात् ।
मनसश्चेन्द्रियाणां च संयोगो योग उच्यते ॥ १ ॥

अथ अध्यात्मज्ञस्य राज्ञो यद्भवति तदाह—

अध्यात्मज्ञो हि राजा सहजशारीरमानसागन्तुभिर्दोषैर्न बाध्यते ॥ २ ॥

टीका—यो राजाध्यात्मज्ञो भवति, तस्य किं स्यात्, एतेन दोषचतुष्टयेन स राजा न बाध्यते नाक्लिश्यते । केन केन तावत् सहजेन सत्त्वमुक्त्वा रजसा तमसा च, कश्चित् प्रकृत्या राजसो भवति, कश्चित्तामस, कश्चिदुभाभ्यां सहित स्यात्, स ताभ्यां न बाध्यते । तथा शारीराश्च ये दोषा रोगसम्भवाः ज्वरादय । तथा मानसाश्च ये दोषाः पर[illegible]दयस्तैरपि न बाध्यते । तथागन्तुकैर्व्याधिभिरपि न बाध्यते । तथा नारदः—

१ समतायोग इति मु-मू पुस्तके ।

अध्यात्मज्ञो हि महीपालो न दोषैः परिभूयते ।
सहजागन्तुकैश्चापि शारीरैर्मानसैस्तथा ॥ १ ॥

अथात्मनः क्रीडास्थानान्याह—

इन्द्रियाणि मनो विषया ज्ञानं भोगायतनमित्यात्मारामः॥३॥

टीका—(इन्द्रियाणि मनो विषयो ज्ञानं) भोगायतनं विलासस्थानं, एतैः सर्वैरासमन्तादमते इत्यारामः क्रीडां करोतित्यर्थः । तथा च विभिटीकः:—

इन्द्रियाणि मनो ज्ञानं विषया भोग एव च ।
विश्वरूपस्य चैतानि क्रीडास्थानानि कृत्स्नशः ॥ १ ॥

अथात्मनः स्वरूपमाह—

यत्राहमित्यनुपचरितप्रत्ययः स आत्मा ॥ ४ ॥

टीका—यस्य स्वरूप न निश्चीयते यद्येवं तर्हि आत्मना स प्रत्ययो न ज्ञायते " किं वा शुक्लः किं वा नील इति " स आत्मा ? तथा च श्रुतिः—

" यथा महाराजनं वासो यथा पांड्वाविकं यथेन्द्रगोपो-
ग्निर्यथा पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युत्तेवं भवा स्यु श्रीर्भवति"

अथात्मनः प्रतिष्ठार्थमाह—

असत्यात्मनः प्रेत्यभावे विदुषां विफलं खलु सर्वमनुष्ठानम् ॥ ५ ॥

टीका—अत्र नास्तिका अप्येव वदन्ति आत्मा नास्तीति । तद्यथा । आत्मनः प्रेत्यभावो न भवति प्रेत्यभावशब्देनाहप्रत्ययोऽभिधीयते स यदि न भवति तदेतेषां दीक्षितानां खलु निश्चयेन विफलं व्यर्थं सर्वमनुष्ठानं

१ इत्यात्माराम इति पाठो लिखितमुद्रितमूलपुस्तकद्वयात् संयोजितः । २ कसस्थः पाठः कल्पितः । ३ यस्मिन् मुख्यह दु ख्यहमिच्छावानहमित्याद्यनुपचरिताहम्प्रत्यय आत्मग्राही प्रतिप्राणिसंविदितरूपो भवति स आत्मा ।—मार्तंडे

स्नानदानजपहोमादिकं, तदेवं[1] न भवति,[2] आत्मास्त्येव । तथा च याज्ञवल्क्यः ।

> आत्मा सर्वस्य लोकस्य सर्वं भुङ्क्ते शुभाशुभं ।
> मृतस्यान्यत्समासाद्य स्वकर्मार्हं कलेवरम् ॥ १ ॥

अथ मनःस्वरूपमाह—

यतः स्मृतिः प्रत्यवमर्षणमूहापोहनं शिक्षालापक्रियाग्रहणं च भवति तन्मनः ॥ ६ ॥

टीका—यतो यस्मात्स्मृतिर्भवति मयैतत्कार्यं कृतं करिष्यते वा । तथा प्रत्यवमर्षणं चिन्ता । तथोहापोहनं, ऊहः संदिग्धस्य पर्यालोचनं, अपोहस्तस्य निश्चयः । शिक्षालापग्रहणं यदि कश्चिच्छिक्षां ददाति, अथवात्मालापं करोति तस्य यद्ग्रहणमवधारणं तन्मनो भवति । तथा च गुरुः—

> ऊहापोहौ तथा चिन्ता परालापावधारणं ।
> यतः संजायते पुंसां तन्मनः परिकीर्तितम् ॥ १ ॥

अथेन्द्रियाणां स्वरूपमाह—

आत्मनो विषयानुभवनद्वाराणीन्द्रियाणि ॥ ७ ॥

टीका—विषयाणामनुभवनं विषयानुभवनं विषयसेवनं तदिन्द्रियद्वारेण सहाय्येनात्मनो भवति । तथा च रैभ्यः—

> इन्द्रियाणि निजान् भावविषयान् स्पृथक्पृथक् ।
> आत्मन स्वयमर्च्छन्ति शुभाख्याः शुभभावधिया ॥ १ ॥

अथ विषयाणां सहामाह

शब्दस्पर्शरसरूपगन्धा हि विषयाः ॥ ८ ॥

१ आत्माभावे । २ भव । [illegible] ,
३ [illegible] । ५ [illegible]
[illegible] इति [illegible] ।

टीका—गतार्थमेतत् ।

अथ ज्ञानस्य स्वरूपमाह—

समार्थीन्द्रियद्वारेण विप्रकृष्टसन्निकृष्टावबोधो ज्ञानं ॥ ९ ॥

टीका—यज्ज्ञानं तत्किंविशिष्टं ? विप्रकृष्टसन्निकृष्टावबोधः । विप्रकृष्टशब्देन परोक्षमभिधीयते, सन्निकृष्टः प्रत्यक्षस्ताभ्यामवबोधः प्रकाशस्तज्ज्ञानं । केन तौ द्वावपि ज्ञेयौ ? ध्यानेन्द्रियद्वारेण योऽसौ परोक्षः स ध्यानद्वारेण समाधिना ज्ञेयः । एतदुक्तं भवति, एतैश्चोभिः ? । यः पुनः प्रत्यक्षः स इन्द्रियद्वारेण यथा श्रोत्रेण ज्ञायते एतद्वीर्, सम्प्रत्यये तत्त्वविदो ? । एतेनात्र पुनर्मिति स्वरूपमागामिकमूर्त्तैरिन्द्रियार्थः ।

अथाभ्यासस्य लक्षणमाह—

क्रियातिशयविपाकहेतुरभ्यासः ॥ १० ॥

टीका क्रियाया अतिशयः पुनः पुनरावर्तनं येन परिपाकः परिणतिर्भवति सोऽभ्यासेन भवति । अभ्यसनमभ्यासः । एतदुक्तं भवति विद्याभ्यासं यः करोति स भवति विद्वान् तावत्कदाचित् भवति तथापि भवति स च सुखी स्यात्, एतस्मात् कारणादभ्यासः सुखहेतुः । तथा च हारीतः—

अभ्यासात्प्राप्यते विद्या विद्यया लभ्यते धनम् ।
धनात्सौख्यमवाप्नोति सर्वो ज्ञायते नात्र संशयः ॥ १ ॥

अथ [illegible] लक्षणमाह—

प्रश्रयसत्कारादिलाभेनार्थिनो गुरुजनाभ्यागमनमभिमानः ॥ ११ ॥

टीका—[illegible]

[illegible]

[illegible]

साधुमध्ये भवति तदभिमानमुच्यते द्वितीयं सुखकारणं । तथा च नारदः—

> सत्कारपूर्वो यो लाभः स स्तोकोऽपि सुखावहः ।
> अभिमानं ततो धत्ते साधुलोकस्य मध्यतः ॥ १ ॥

अथ सम्प्रत्ययलक्षणमाह—

अतद्गुणे वस्तुनि तद्गुणत्वेनाभिनिवेशः सम्प्रत्ययः ॥ १२ ॥

टीका—अतद्गुणे वस्तुनि निर्गुणे पदार्थे तद्गुणत्वेनाभिनिवेशः स्वशक्त्या गुणप्रतिष्ठया सम्प्रत्यय उच्यते तृतीयं सुखकारणं । एतदुक्तं भवति श्रोत्रेण एतदार्यं सुन्दरं, एतदसुन्दरं । तथा त्वचा एतन्मृदुरेतत्कठोरं । तथा दृष्ट्या एतद्रम्यमेतदरम्यं । तथा जिह्वयैतन्मधुरमेतत्कटुकं । तथा घ्राणेनैतत्सुगन्धमेतद्दुर्गन्धमिति । तथा च नारदः—

> परोक्षो यो भवेदर्थः स ज्ञेयोऽत्र समाधिना ।
> प्रत्यक्षश्चेन्द्रियैः सर्वैर्निजगोचरमागतः ॥ १ ॥

अथ सुखस्य लक्षणमाह—

सुखं प्रीतिः ॥ १३ ॥

टीका—यत्र मनस इन्द्रियाणां प्रीतिरानन्दो भवति तत्सुखं । तथा च हारीतः—

> मनसश्चेन्द्रियाणां च यत्रानन्दः प्रजायते ।
> दृष्टे वा भक्षिते वापि तत्सुखं सम्प्रकीर्तितम् ॥ १ ॥

अथासुखस्यापि स्वरूपमाह—

तत्सुखमप्यसुखं यत्र नास्ति मनोनिर्वृत्तिः ॥ १४ ॥

टीका—नास्ति सुखं लोकानां पुत्रकलत्रधनधान्यसमन्वये भवति तत्र यस्मिन् पुत्रे मनसो वैराग्यं भवति कलत्रे वा, धने वा, धान्ये वा तत्सुखमपि दुःखं भवति । तथा च वर्ग—

सम्पूर्णस्यापि मर्त्यस्य मनो यदि विरागकृत्।
दुःखी स परिज्ञेयो मनस्तुष्ट्या सुखं यतः ॥ १ ॥

अथ सुखस्य कारणान्याह।

अभ्यासाभिमानसंप्रत्ययविषयाः सुखस्य कारणानि ॥ १५ ॥

टीका—एतानि चत्वारि नरस्य सुखकारणानि। एकं तावदभ्यासो यः स्वकर्मणः। तथाभिमानं अभि-समन्तान्मानं सन्मानं राजादीनां सकाशात्। तथा सम्प्रत्ययः सम्प्रत्ययशब्देनात्मनः प्रतिष्ठाकारणमुच्यते, अयोग्यमपि। विषया प्रसिद्धास्तेषां सेवनं। तत्र तावदभ्यासस्य सुखकारणमुच्यते—

अभ्यासाच्च भवेद्विद्या तथा च निजकर्मणः।
तया पूजामवाप्नोति तस्याः स्यात्सर्वदा सुखी ॥ १ ॥

अथ मानस्य—

सम्मानपूर्वको लाभः स्वल्पोऽपि सुखावहः।
मानहीनः प्रभूतोऽपि साधुभिर्न प्रशस्यते ॥ १ ॥

अथ विषयः—

सेवनं विषयाणां यत्परिमितं सुखकारणं।
अमितं च पुनस्तेषां दारिद्र्यकारणं परं ॥ १ ॥

तथा च हारीतः—

अविद्योऽपि नृपामात्यैः [illegible] यः प्रतिष्ठितः।
[illegible] ॥ १ ॥

अथ विषयलक्षणमाह—

इन्द्रियमनस्तर्पणो भावो विषयः ॥ १६ ॥

१ [illegible] २ [illegible]

टीका—येन भावेन कृतेनेन्द्रियाणां तर्पणं भवति मनसश्च तुष्टिर्भवति स भावो विषय उच्यते। तच्चतुर्थं सुखकारणं। तथा च शुक्रः—

मनसश्चेन्द्रियाणां च सन्तोषो येन जायते।
स भावो विषयः प्रोक्तः प्राणिनां सौख्यदायकः ॥ १ ॥

अथ दुःखस्य लक्षणमाह—

दुःखमप्रीतिः ॥ १७ ॥

टीका—यस्मिन् वस्तुनि दृष्टे आच्छादिते वाऽप्रीतिर्वैराग्यं भवति तद्दुःखमभिधीयते श्रेष्ठेऽपि च वस्तुनि। तथा च शुक्रः—

यत्र नो जायते प्रीतिर्दृष्टे चाच्छादितेऽपि वा।
तच्छ्रेष्ठमपि दुःखाय प्राणिनां सम्प्रजायते ॥ १ ॥

अथ सुखस्य लक्षणमाह—

तद्दुःखमपि न दुःखं यत्र न संक्लिश्यते मनः ॥ १८ ॥

टीका—यत्र यस्मिन् पदार्थे दृष्टे वा मृते वा मनसः क्लेशः न भवति तद्दुःखमपि अदुःखमेव।

....।
कथं कारयेद्व्याधिः स नश्यति विनौषधं ॥ १ ॥

अथ चतुर्विधस्य दुःखस्य स्वरूपमाह—

दुःखं चतुर्विधं सहजं दोषजमागन्तुकमन्तरंगं चेति॥ १९ ॥

टीका—एतस्य चतुर्विधस्य दुःखस्याचार्येणापि व्याख्या कृता।

सहजं क्षुत्तृषामनोभूभवं चेति ॥ २० ॥

दोषजं वातपित्तकफवैषम्यसम्भूतं ॥ २१ ॥

आगन्तुकं वर्षातपादिजनितं ॥ २२ ॥

---

१ शुक्रनामाङ्किता ये श्लोका पूर्वमपि च उपरिष्टे प्रायेण शुक्रनीतौ दृश्यन्ते नायाताः। २ अन्तरंगज चेति मु-मू-पुस्तके।

(यच्चिन्त्यते दरिद्रैर्न्यकारजं । न्यक्कारोऽपराधचौर्यादिको यः तेन कदाचिद्धन्यते कदाचिद्विध्यते स तं ?)*

न्यकारावज्ञेच्छाविघातादिसमुत्थमन्तरङ्गजम् ॥ २३ ॥

टीका—गतार्थमेतत् ।

अथ पुरुषस्य यथा लोकद्वयनाशो भवति तदाह—

न तस्यैहिकामुष्मिकं च फलमस्ति यः क्लेशायासाभ्यां भवति विप्लवप्रकृतिः ॥ २४ ॥

टीका—क्लेशः कष्टं, आयासः खेदः, ताभ्यां यः पुरुषो विक्लवप्रकृतिर्नष्टमतिर्भवति । तत्र क्वापि नास्ति न विद्यते किं तत् फलं । किंविशिष्टं ? ऐहिकमिहजन्मभवं तथामुत्रिकं वा पारलौकिकं । तथा च व्यासः—

> जीयते क्लेशखेदाभ्यां सदा कापुरुषोऽत्र यः ।
> न तस्य मर्त्ये यो लाभः कुतः स्वर्गसमुद्भवः ॥ १ ॥

सुवंशस्य पुरुषस्य माहात्म्यमाह—

स किं पुरुषो यस्य महाभियोगे सुवंशधनुष इव नाधिकं जायते बलम् ॥ २५ ॥

टीका—यस्य पुरुषस्य महाभियोगे आपत्काले अधिकं बलं पौरुषं न जायते स पुरुषः स्त्रीति मन्तव्यः । कस्येव ? सुवंशधनुष इव । एतदुक्तं भवति—यत्सुवंशधनुर्भवति तस्य शराक्षेपकाले दृढता भवति कुवंशजस्य पुनः शिथिलता । तथा च गुरुः—

> युद्धकाले सुवंश्यानां वीर्योत्कर्षः प्रजायते ।
> येषां च वीर्यहानिः स्यात्तेऽत्र ज्ञेया नपुंसकाः ॥ १ ॥

* कमस्थः सूत्रपाठः गद्यपाठश्च केवलं टीका-पुस्तके वर्तते न ज्ञायते कथमयं पाठो मध्ये पतितः ।

अथाभिलाषस्य स्वरूपमाह—

आगामिक्रियाहेतुरभिलाषो वेच्छा ॥ २६ ॥

टीका—आगामिक्रिया भविष्यत्कृत्यं तस्य हेतुः कारणमभिलाषः कथ्यते, वा विकल्पेनेच्छा वेति। तथा च गुरुः—

भाविकृत्यस्य यो हेतुरभिलाष स उच्यते।
इच्छा वा तस्य सम्धा या भवेत्प्राणिनां सदा ॥ १ ॥

अथात्मनः प्रत्यवायेषु यत्पुरुषेण कर्तव्यं तदाह—

आत्मनः प्रत्यवायेभ्यः प्रत्यावर्तनहेतुर्द्वेषोऽनभिलाषो वा २७

टीका—आत्मनः सकाशात् ये प्रत्यवाया दोषा भवन्ति तेषां प्रत्यावर्तनं व्याघोटनं तस्य हेतुः कारणं द्वेषो जुगुप्साऽनभिलाषो वा वाञ्छा वा। तथा च गुरुः—

आत्मनो यदि दोषाः स्युस्ते निषा विबुधैर्जनैः।
अथवा नैव कर्तव्या वाञ्छा तेषां कदाचन ॥ १ ॥

अथोत्साहस्य स्वरूपमाह—

हिताहितप्राप्तिपरिहारहेतुरुत्साहः ॥ २८ ॥

टीका—यस्मिन् कर्मणि क्रियमाणे हितस्याभीष्टस्य प्राप्तिर्भवति। तथाहितस्यानिष्टस्य परिहारस्त्यागो भवति स उत्साहो हृदयानन्दः कथ्यते। तथा च वर्गः—

शुभाप्तिर्यत्र कल्पया जायते पापवर्जनम्।
हृदयस्य परा तुष्टिः स उत्साहः प्रकीर्तितः ॥ १ ॥

अथ प्रयत्नस्य स्वरूपमाह

प्रयत्नः परनिमित्तको भावः ॥ २९ ॥

टीका—परार्थेऽन्यकृते यो भावश्चित्त मयार्थेनदवं, कर्तव्यमिति स प्रयत्नः। तथा च व(रा)ग—

परस्य करणीये यश्चित्तं निश्चित्य धार्यते।
प्रयत्नः स च विज्ञेयो गर्गस्य वचनं यथा ॥ १ ॥

अथ संस्कारस्य स्वरूपमाह—

सातिशयलाभः संस्कारः ॥ ३० ॥

टीका—यः सातिशयः सातिरेको लाभो भवति जनान्नृपतेर्वा स संस्कारः प्रतिष्ठासंज्ञः। अत्रापि गर्गः—

सन्मानाद्भूमिपालस्य यो लाभः संप्रजायते।
महाजनाच्च सद्भक्तेः प्रतिष्ठा तस्य सा भवेत् ॥ १ ॥

अथ शरीरस्य स्वरूपमाह—

भोगायतनं शरीरम् ॥ ३१ ॥

टीका—भुज्यन्ते इति भोगाः शुभाशुभाः तेषामायतनं गृहमेतच्छरीरं। तथा च हारीतः—

सुखदुःखानि यान्यत्र कीर्त्यन्ते धरणीतले।
तेषां गृहं शरीरं तु यतः कर्माणि सेवते ॥ १ ॥

अथ लोकायतिकस्य स्वरूपमाह—

ऐहिकव्यवहारप्रसाधनपरं लोकायतिकम् ॥ ३२ ॥

टीका—यल्लोकायत नास्तिकदर्शनं तदनुष्ठानं च। तत्किं विशिष्टं? ऐहिकव्यवहारप्रसाधन केवलं मद्यमांसस्त्रीसेवानिमित्तं न परत्रार्थं। तथा च गुरुः—

अग्निहोत्रं त्रयो वेदाः प्रव्रज्या नग्नमुण्डता।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीवितेऽयो मतं गुरुः ॥ १ ॥

अथ भूपतेर्लोकायतिकशास्त्रज्ञस्य यद्भवति तदाह—

लोकायतज्ञो हि राजा राष्ट्रकण्टकानुच्छेदयति ॥ ३३ ॥

टीका—किल लोकायतं निषिद्धं साधुना यतस्तेन ज्ञातेन निर्दयता भवति तथापि राज्ञा बोद्धव्यं यतस्तेन ज्ञातेन जारचौरमर्यादाभेदकानामुपरि निर्दयत्वं करोति राष्ट्रक्षेमाय । तथा च शुक्रः—

> दयां करोति यो राजा राष्ट्रसन्तापकारिणां ।
> स राज्यसंशयमाप्नोति राज्यच्छेदादिसंशयं ॥ १ ॥

अथैकान्तत्वदूषणमाह—

न खल्वेकान्ततो यतीनामप्यनवद्यास्ति क्रिया ॥ ३४ ॥

टीका—यतीनामपि संन्यस्तानामपि एकान्ततो नैरन्तर्येण क्रियमाणा क्रिया नानवद्या, अपि तु सावद्यशाद्धय तेषामपि क्रियावसानमस्ति । तथा च वर्गः—

> अनवद्या सदा तावन्न खल्वेकान्ततः क्रिया ।
> यतीनामपि विद्येत तेषामपि यतात्मनाम् ॥ १ ॥

अथैकान्तेन कारुण्यपरस्य यद्भवति तदाह—

एकान्तेन कारुण्यपरः करतलगतमप्यर्थं रक्षितुं न क्षमः॥३५॥

टीका—एकान्तेन नैरन्तर्येण यो राजा कारुण्यपरो दयापरो भवति स हस्तगतमपि वित्तं रक्षितुं न क्षमः । तथा च शुक्रः—

> दया साधुषु कर्तव्या मोदमानेषु जन्तुषु ।
> असाधुषु दया शुक्रः स्वचित्तादपि भ्रंशयेत् ॥ १ ॥

अथ प्रशमैकचित्तस्य भूपतेर्यद्भवति तदाह—

प्रशमैकचित्तं को नाम न परिभवति ॥ ३६ ॥

टीका—फलप्रशमैकचित्तो यस्य चित्तं वर्तते न तथाभूतं को नामाहीं न परिभवति । अपि तु सर्वेऽप्यवज्ञया पश्यन्ति । तथा च [illegible]—

> सदा तु शान्तचित्तस्य पुरुषस्य महाजन ।
> [illegible]

शौर्येण रहितो राजा दीनैरप्यभिभूयते ।
भस्मराशिर्यथानग्निर्निःशंकैः स्पृश्यतेऽरिभिः ॥ १ ॥

अथ धर्मप्रतिष्ठामाह—

यत्पापमपि न पापं यत्र महान् धर्मानुबन्धः ॥ ४१ ॥

टीका—यत्र यस्मिन् पापे कृते परिणामे महान् धर्मानुबन्धो भवति धर्मप्राप्तिर्भवति तन्न पापं, पापमपि स धर्मः, किंतु वधबन्धादिभिः पापं भवति परं तेषां निग्रहे कृते यथोक्तं स एव धर्मः । तथा च बादरायणः—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ १ ॥
पापानां निग्रहं राजा परं धर्ममवाप्नुयात् ।
न तेषां च वधबन्धाद्यैस्तस्य पापं प्रजायते ॥ २ ॥

अथ राज्ञो दुष्टनिग्रहमकुर्वाणस्य यद्भवति तदाह—

अन्यथा पुनर्नरकाय राज्यम् ॥ ४२ ॥

टीका—अन्यथा पुनर्वर्तमानस्य दुष्टानां निग्रहमकुर्वाणस्य तदेव राज्यद्वारेण नरकम् । तथा च हारीतः—

चौरादिभिर्जनो यस्य शैथिल्येन प्रपीड्यते ।
स्वयं तु नरकं याति स राजा नात्र संशयः ॥ १ ॥

अथ नियोगिनां यद्भवति तदाह—

बन्धनान्तो नियोगः ॥ ४३ ॥

टीका—योऽसौ नियोगो राजाधिकारः स बन्धनान्तो बन्धनगामी भवति । तथा च गुरुः—

न जन्म मृत्युना बाह्यं नोर्ध्वं स्यात् पतनं विना ।
न नियोगच्युतो योगी नाधिकारोऽस्त्यबन्धनः ॥ १ ॥

अथ लक्ष्मीप्राप्त्या यद्भवति तदाह—

टीका—यासौ गाम्भीरी दुर्जनसङ्गतिः सा विपदन्ता व्यसनदायिनी भवति । तथा च वल्लभदेवः—

असत्संगात्पराभूतिं याति पूज्योऽपि मानवः ।
लोहसंगाद्यतो वह्निस्ताड्यते सुघनैर्घनैः ॥ १ ॥

अथ स्त्रीषु विश्वासे कृते यद्भवति तदाह—

मरणान्तः स्त्रीषु विश्वासः ॥ ४५ ॥

टीका—स्त्रीषु विषये योऽसौ विश्वासः स मृत्युपर्यन्तो भवति । तथा च विष्णुशर्मा—

नीयमानः स्वरन्ध्रेण नागः पीतदर्विकोऽमरीत् ।
स्त्रीणां गुह्यमाख्याति तदन्तं तस्य जीवितम् ॥ १ ॥

इत्यान्वीक्षिकीसमुद्देशः ।

---

७ त्रयी-समुद्देशः ।

अथ त्रय्याः स्वरूपमाह—

चत्वारो वेदाः, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिरिति षडङ्गानीतिहासपुराणमीमांसान्यायधर्मशास्त्रमिति चतुर्दशविद्यास्थानानि त्रयी ॥ १ ॥

गतार्थमेतत् ।

अथ त्रयीतो यज्ज्ञायते तदाह—

त्रयीतः खलु वर्णाश्रमाणां धर्माधर्मव्यवस्था ॥ २ ॥

टीका—त्रयीतः सकाशात् वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः, आश्रमा ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थयतयस्तेषां ये आचारा व्यवहारा धर्माधर्मलक्षणास्तेषां या व्यवस्थितिः सा ज्ञायत इति । तथा च शुक्रः—

मन्वाद्याः स्मृतयो याश्च सम्यक्कृताः प्रकीर्तिताः ।
वर्णाश्रमाणामाचारस्तासु धर्मोऽत्र केवलं ॥ १ ॥

अन्यदपि त्रयीतो यद्भवति तदाह—

स्वपक्षानुरागप्रवृत्त्या सर्वे समवायिनो लोकव्यवहारेष्वधिक्रियन्ते ॥ ३ ॥

टीका—यस्मात्त्रयीतः सकाशात् सर्वे समवायिनो लिङ्गिनः शैवबौद्धकौलनास्तिका स्वपक्षानुरागप्रवृत्त्या निजदर्शनभक्तिभावनाल्लोकव्यवहारेष्वधिक्रियन्ते सम्यग्यानामाश्रममनुभवन्ति । नान्यदर्शनधर्मं कुर्वन्ति । तथा च गुरुः—

परदर्शनलिङ्गी च यत्र लिङ्गी समाश्रयेत् ।
दंडो तत्र हि राज्ञः स्यात् स च स्याति रौरवम् ॥ १ ॥

अथ स्मृतिवेदानां लक्षणमाह—

धर्मशास्त्राणि स्मृतयो वेदार्थसंग्रहाद्वेदा एव ॥ ४ ॥

टीका—यानि धर्मशास्त्राणि स्मृतयः प्रोच्यन्ते ताभिर्वेदार्थसंग्रहकार्यस्तस्मात्ता वेदा एव ज्ञातव्या एवं निश्चयः। तथा च गुरुः—

दुर्बोधांश्चरणान् ज्ञात्वा मन्दबुद्धिरेव यत्।
तेषामर्थं समादाय मुनिभिः स्मृतयः कृताः ॥ १ ॥

अथ विप्रक्षत्रियवैश्यानां धर्मः प्रोच्यते—

अध्ययनं यजनं दानं च विप्रक्षत्रियवैश्यानां समानो धर्मः ॥ ५ ॥

टीका—विप्रादीनां त्रयाणां वर्णानां अध्ययनं वेदानां यजनमग्निष्टोमादिकं, स्वशक्त्या दानं सामान्यं तुल्यं त्रिभिरपि कर्तव्यम्। तथा च हारीतः—

वेदाभ्यासस्तथा यज्ञाः स्वशक्त्या दानमेव च।
विप्रक्षत्रियवैश्यानां धर्मः साधारणः स्मृतः ॥ १ ॥

अथ क्षत्रियवैश्यानामपि ब्राह्मण्यं यद्भवति तदाह—

त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥ ६ ॥

टीका—यत्क्षत्रियवैश्ययोरपि ब्राह्मण्यमुक्तं तत्पूर्वस्तत्रापेक्षया न तु जात्या, यदि पुनः क्षत्रियो वैश्यो वा ब्राह्मणो भवति तदा श्रुतिस्मृतीनाम प्रमाणता भवति तत्कथमुक्तमाचार्येण यतस्तेनैतदुक्तं अध्ययनं यजनं दानं ब्राह्मणक्षत्रियविशां समानो धर्मः, एतदर्थमुक्तं, स्वाध्यायो यजनं दानं विप्रवैश्यनराधिपैः कर्तव्यं ब्राह्मणेन तु याजनाध्यापनार्जनम्।

---

१ ब्राह्मणं मुक्त्वा टीका-पुस्तके पाठः।

अथ ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यवार्ता केवलं ब्राह्मणानां यत् भवति तदाह—

अध्यापनं याजनं प्रतिग्रहो ब्राह्मणानामेव ॥ ७ ॥

टीका—ब्राह्मणानामयं विशेषो यदध्यापनं कुर्वन्ति तथा याजनं यजमानानां तथा च प्रतिग्रहमपि, एतत् कर्मत्रयं न क्षत्रियवैश्यानां, ब्राह्मणस्य षट्कर्माणि । तथा च हारीतः—

> यजनं याजनं चैव पठनं पाठनं तथा।
> दानं प्रतिग्रहोपेतं षट्कर्माणि द्विजन्मनां ॥ १ ॥

अथ क्षत्रियाणां यत्कर्म भवति तदाह—

भूतसंरक्षणं शस्त्राजीवनं सत्पुरुषोपकारो दीनोद्धरणं रणेऽपलायनं चेति क्षत्रियाणाम् ॥ ८ ॥

(भूतानां प्राणिनां संरक्षणं, शस्त्रेणाजीवनं, सत्पुरुषाणां सज्जनानां उपकारः) दीना अन्धबधिरगुरोगिपूर्विकास्तेषामुद्धरणं निर्वाहणं यथा भवति तथा कार्यमिति क्षत्रियाणां धर्मः । तथा च पाराशरः—

> क्षत्रियेण मृगाः पाल्याः शस्त्रहस्तेन नित्यशः।
> अनाथोद्धरणं कार्यं साधूनां च प्रपूजनम् ॥ १ ॥

अथ वैश्यधर्ममाह—

वार्ताजीवनमावेशिकपूजनं सत्रप्रपापुण्यारामदयादानादिनिर्मापणं च विशाम् ॥ ९ ॥

टीका—वैश्यानां तावद्वार्ताजीवनं वार्ताशब्देन कृषिगोरक्षपशुपालन-पूर्वकं कर्म प्रोच्यते। तथावेशिकपूजनमभ्यागतपूजनं च। तथा सत्रप्रपा-पुण्यारामदयादानादिकर्माणि—सत्रं नित्यान्नदानस्थानं, तथा प्रपा

१ पथ्यवार्ताजीवनं वैश्यानामित्येव रूपं सूत्रं मुद्रित-पुस्तके। २ सर्वेषां प्राणिनां दुःखादिभ्यनाममयप्रदानं। ३ अन्नप्रदानस्थानं।

जलदानं, पुण्यं धर्मक्रिया, आरामः पुष्पादिसंजनना एतेषां धर्माणां करणं । तथा च शुक्रः—

कृषिकर्म गवीरक्षा यज्ञाद्यं दम्भवर्जितम् ।
पुण्यानि सत्रपूर्वाणि वैश्यवृत्तिरुदाहृता ॥ १ ॥

अथ शूद्रकर्माण्याह—

त्रिवर्णोपजीवनं कारुकुशीलवकर्म पुण्यपुटवाहनं च शूद्राणां ॥ १० ॥

टीका—त्रिवर्णा ब्राह्मणक्षत्रियविशस्तेषामुपजीवनं शुश्रूषा । कारुशब्देन नीचतमाः प्रजाः कथ्यन्ते तेषां कर्म । कुशीलवा नर्तकादयश्चारणास्तेषां कर्म कार्यं । तथा पुण्यपुटवाहनं पुण्यपुटका भिक्षुकास्तेषामुपसेवनं शूद्रैः कार्यम् । तथा च पाराशरः—

वर्णत्रयस्य शुश्रूषा नीचचारणकर्म च ।
भिक्षूणां सेवनं पुण्यं शूद्राणां न विरुद्धयते ॥ १ ॥

अथ शूद्रा यादृशा भवन्ति तदाह—

सकृत्परिणयनव्यवहाराः सच्छूद्राः ॥ ११ ॥

टीका—ये सच्छूद्राः शोभनशूद्रा भवन्ति ते सकृत्परिणयना एकवारं कृतविवाहाः, द्वितीयं न कुर्वन्तीत्यर्थः । तथा च हारीतः

द्विभार्यो योऽत्र शूद्रः स्याद्वृषलः स हि विश्रुतः ।
महत्त्वं तस्य नो भावि शूद्रजातिसमुद्भवः ? ॥ १ ॥

अथ शूद्रोऽपि देवद्विजादीनां शुश्रूषायां योग्यो यथा भवति तदाह—

आचारानवद्यत्वं शुचिरुपस्करः शारीरी च विशुद्धिः करोति शूद्रमपि देवद्विजतपस्विपरिकर्मसु योग्यम् ॥ १२ ॥

टीका—यः शूद्रोऽपि स देवद्विजतपस्विशुश्रूषायोग्यः, यस्य किं शूद्रस्याचारानवद्यत्वं व्यवहारनिर्दोष्यता, तथोपस्करो गृहपात्रसमुदायः

४ कारु-कुशीलव कर्म पण्यपुटवाहनं च शूद्राणामिति सूत्रं मुद्रित-पुस्तके ।

स शुचिर्निर्मलः, तथा शरीरशुद्धिर्यस्य प्रायश्चित्तेन कृतासीत् एषापि शूद्रं करोति, किंविशिष्टं ? देवद्विजतपस्विभक्तियोग्यं । तथा च चारायण:—

गृहपात्राणि शुद्धानि व्यवहार. सुनिर्मलः ।
कायशुद्धिः करोत्येव योग्यं देवादिपूजने ॥ १ ॥

अथ सर्वेषां वर्णानां यः समानो धर्मस्तमाह—

आनृशंस्यममृषाभाषित्वं परस्वनिवृत्तिरिच्छानियमः प्रतिलोमाविवाहो निषिद्धासु च स्त्रीषु ब्रह्मचर्यमिति सर्वेषां समानो धर्मः ॥ १३ ॥

टीका—आनृशंस्यमक्रूरत्वं, अमृषाभाषित्वं सत्यवादिता, परस्वनिवृत्तिरन्यायेन परार्थग्रहणं, इच्छानियम· स्वेच्छाप्रवृत्तित्वं, प्रतिलोमाविवाहः स्वजातिसम्बन्धः, निषिद्धासु च स्त्रीष्वसतीषु विषये ब्रह्मचर्यमिति समानस्तुल्यो धर्मः सर्वेषां वर्णानां । तथा च भागुरिः—

दयां सत्यमचौर्यं च नियमः स्वविवाहकम् ।
असतीवर्जनं कार्यं धर्मं सर्वैः रितीरितां ? ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि तुल्यधर्मे कृते विशेषमाह—

आदित्यावलोकनवत् धर्मः खलु सर्वसाधारणो विशेषानुष्ठाने तु नियमः ॥ १४ ॥

टीका—य एव पूर्वोक्त सर्वेषां वर्णानां तुल्यो धर्म सर्वसाधारणस्तुल्यो निश्चयेन । कथं ? आदित्यावलोकनवत् यथा आदित्य सर्वैःर्विप्रान्त्यजैरपि दृश्यते, तथैव धर्म सर्वैरपि कार्य । तथा विशेषानुष्ठाने [illegible] नियम. परं विशेषानुष्ठानं यद्वर्णानां तत्र नियम । तत्र कार्यं पूर्वे[illegible]त्मीयमनुष्ठानं यदुक्तं तत्कार्यमन्यत् । तथा च नारद —

यस्य वर्णस्य यत्प्रोक्तमनुष्ठानं महर्षिभिः।
तत्कर्तव्यं विशेषोऽयं तुल्यधर्मो न केवलं ॥ १ ॥

अथ यतीनां यः स्वो धर्मस्तमाह—

निजागमोक्तमनुष्ठानं यतीनां स्वो धर्मः ॥ १५ ॥

टीका—यतीना लिङ्गिनां निजागमोक्तमनुष्ठानं कृत्यं यत्स धर्मः आत्मीय इति। तथा च चारायणः—

स्वागमोक्तमनुष्ठानं यत्स धर्मो निजः स्मृतः।
लिङ्गिनामेव सर्वेषां योऽन्यः सोऽधर्मलक्षणः ॥ १ ॥

अथ यतीना परमागमानुष्ठानेन यद्भवति तदाह—

स्वधर्मव्यतिक्रमेण यतीनां स्वागमोक्तं प्रायश्चित्तम् ॥ १६ ॥

टीका—निजदर्शनव्यतिक्रमेण धर्मविलोमतया सर्वेषां लिङ्गिनामात्मीयागमे यदुक्तं प्रायश्चित्तं भवति। तथा च वर्गः—

स्वदर्शनविरोधेन यो धर्माधर्ममाचरेत्।
स्वागमोक्तं भवेत्तस्य प्रायश्चित्तं विशुद्धये ॥ १ ॥

अथाभीष्टदेवप्रतिष्ठापनमाह—

यो यस्य देवस्य भवेच्छ्रद्धावान् स तं देवं प्रतिष्ठापयेत् ॥१७॥

टीका—यः पुरुषो यस्य देवस्य श्रद्धावान् स तं देवं प्रतिष्ठापयेत्। तथा च भागुरिः—

यस्योपरि भवेद्भक्तिर्विबुधस्य नृणामिह।
स देवस्तैः प्रतिष्ठाप्यो नान्यः स्याच्छ्रेयसे यतः ॥ १ ॥

अथाभक्त्या पूजितो देवो यत्करोति तदाह—

अभक्त्या पूजोपचारः सद्यः शापाय ॥ १८ ॥

टीका—भक्तिं विना कृतोपचारः कृतपूजितविधानो देवः सद्यः तत्क्षणात् शापायानिष्टप्रदो भवति। तथा च बादरायणः—

भक्त्या पूजितो देवस्तत्क्षणे विघ्नमाचरेत् ।
तस्माच्छूद्रासमोपेतैः पूज्यो भक्त्या......॥ १ ॥

अथ सर्वाश्रमवर्णानां यद्वक्त्या प्रायश्चित्तविशुद्धिर्भवति तदाह—

वर्णाश्रमाणां स्वाचारप्रच्यवने त्रयीतो विशुद्धिः ॥ १९ ॥

टीका—वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः, आश्रमा ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थयतयस्तेषामेकतमस्यापि प्रच्यवने ज्यात्यादिकविनाशे जाते त्रयीतो वेदत्रयोक्तवचनात् विशुद्धिर्भवति वेदोक्तप्रायश्चित्ते कृते । तथा च चारायणः—

वर्णाश्रमाणां नाशे तु जाते जातिपूर्वके ।
वेदत्रयोक्तवाक्येन तेषां शुद्धिः प्रजायते ॥ १ ॥

अथ प्रजानां भूपतेश्च त्रिवर्गप्राप्तिर्यथा भवति तथाह—

स्वधर्मासंकरः प्रजानां राजानं त्रिवर्गेणोपसन्धत्ते ॥ २० ॥

टीका—असंकरोऽमिश्रत्वः, केषां ? स्वधर्माणां । कासां ? प्रजानां । उपसन्धत्ते नियोजयति । कं? राजानं । केन त्रिवर्गेण धर्मार्थकामशब्देन । तथा च नारदः—

न भूपाश्च देशे तु प्रजानां वर्णसंकरः ।
तत्र धर्मार्थकामं च भूपतेः सम्प्रजायते ॥ १ ॥

अथ राज्ञो राजत्वं यथा न भवति तदाह—

स किं राजा यो न रक्षति प्रजाः ॥ २१ ॥

टीका—स किं राजा कुत्सितो राजा, न किंचिदिष्टः स्यात् ? यो न रक्षति पालयति का प्रजा लोकान् । तथा च व्यासः—

यो न राजा प्रजा सम्यग्भोगासक्तः प्ररक्षति ।
स राजा नैव राजा स्यात् स च कापुरुषः स्मृतः ॥ १ ॥

अथ स्वधर्ममतिक्रामतां पार्थिवो गुरुरित्याह—

स्वधर्ममतिक्रामतां सर्वेषां पार्थिवो गुरुः ॥ २२ ॥

टीका—स्वधर्ममतिक्रामतां परित्यजतां सर्वेषां वर्णाश्रमाणां पार्थिवो गुरू राजा निषेधयिता यथोचितधर्मेण । तथा च भृगुः—

उन्मत्तं यथा नाम महामन्त्रो निवारयेत् ।
उन्मार्गेण प्रगच्छन्तं तद्वद्येव जनं नृपः ॥ १ ॥

अथ पार्थिवस्य धर्मं परिपालयतो यद्भवति तदाह—

परिपालको हि राजा सर्वेषां धर्मषष्ठांशमवाप्नोति ॥ २३ ॥

टीका—यो राजा धर्मविद्रुवं रक्षति स सर्वेषां वर्णाश्रमाणां धर्मस्य षष्ठांशं प्राप्नोति । तथा च मनुः—

वर्णाश्रमाणां यो धर्मं नश्यन्तं च प्ररक्षति ।
षष्ठांशं तस्य धर्मस्य स प्राप्नोति न संशयः ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि राज्ञः परिपालनविषयं प्राह—

उञ्छषड्भागप्रदानेन तपस्विनोऽपि राजानं संभावयन्ति । २४।

टीका—ये तपस्विनो वनवासिनो भवन्ति शिलोञ्छवृत्त्या जीवन्ति तेऽपि षड्भागं भूपतेः प्रयच्छन्ति, कस्मात् ? यतस्तेऽपि शिलोञ्छवृत्तिं कुर्वाणाः सूक्ष्मजीवानां स्वेदजानां वधं कुर्वन्ति ततः षड्भागं स्वधर्मस्य भूपतेः प्रयच्छन्ति तेन च तेषां स दोषो न भवति एवं तेषां षड्भाग-प्रदानं तेन भूपते रक्षा भवति । तथा च पाराशरः—

षड्भागं योऽत्र गृह्णाति कर्पुकीणां तपस्विनाम् ।
तांश्च पालयते यश्च स तेषां पापमाप्नुयात् ॥ १ ॥

---

१ गज । २ हरिनयक. (महावनेति) ३ "उञ्छ कणशआदाने" धर्मनार-ण्यादिषु प्रतीतिवनस्वामिकानिरिक्तेषु भूभागेषु गृहीनमस्येषु क्षेत्रेषु भग्नविलाप-शालेषु यत्र यत्र कणोपलब्धिः स्यात्तत्र तत्र कणशगणुप्यनवदनं उञ्छनस्य षड्भागप्रदानेन । ४ वर्धयन्ति ।

अथ भूपतेस्तपस्विधर्मषड्भागेन गृहीतेन यद्भवति तदाह—

तस्यैतद्भूयाद् योऽस्मान् रक्षति ॥ २५ ॥

टीका—तस्य भूपतेः श्रेयसः षड्भागो भूयात् योऽस्मान् रक्षति यतस्ते मुनयः क्रियावसाने एवं वदन्ति तस्य एतदस्य मदीयस्य षड्भागः स्यात् धर्मस्य योऽस्मान् रक्षति । एवं [illegible] षड्भागः प्रवृत्तो भवति । तथा च हारीत —

मुनीनां वनसंस्थानां फलमूलाशिनामपि
षड्भागस्तपसस्तेषां राजा प्राप्नोति रक्षणात् ॥ १ ॥

अथ मंगलामंगलविषये निश्चयमाह—

तदमंगलमपि नामंगलं यत्रास्यात्मनो भक्तिः ॥ २६ ॥

टीका—तदमंगलमपि अनिष्टमपि मंगलं शुभप्रदमिति यतः श्राव-काणां क्षेपणकदर्शने श्वेतपटावलोकनं च कार्यारम्भेषु शुभावहमन्येषाम-मंगलं । एवं अन्येऽपि पदार्थाः काणादिजात्यो ज्ञेयाः, तथा ये प्रियतमा भवन्ति तद्दोषाय न भवन्ति । तथा च भागुरिः—

यद्यस्य वल्लभं वस्तु तच्चेदग्रे प्रयाति ।
कार्यारम्भेषु तत्तस्य शुभनिष्पत्तिमपि सिद्धिदं ॥ १ ॥

अथ चतुरेण कर्तव्यं तदाह—

संन्यस्ताग्निपरिग्रहानुपासीत ॥ २७ ॥

टीका—[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

अथ स्नातेन यत्कर्तव्यं तदाह—

स्नात्वा प्राग्देवोपासनान्न कंचन स्पृशेत् ॥ २८ ॥

टीका—स्नानं कृत्वा गृहस्थेनाभीष्टं मुक्त्वा नान्यत्किंचित्स्प्रष्टव्यं यतोऽनिष्टस्पर्शनात् श्रेयो नश्यति। तथा वर्गः—

स्नात्वा त्वभ्यर्चयेद्देवान् वैश्वानरमतः परं।
ततो दानं यथाशक्त्या दत्वा भोजनमाचरेत् ॥ १ ॥

अथ देवाश्रयगतेन गृहस्थेन यत्कर्तव्यं तदाह—

देवागारे गतः सर्वान् यतीनात्मसम्बन्धिनीर्जरतीः पश्येत् ॥ २९ ॥

टीका—देवागारं देवायतनं तत्र गतो गृहस्थस्तत्रस्थान् सर्वान् यतींस्तापसान् पश्येत् प्रणमेदित्यर्थः। आत्मसम्बन्धिनीर्या जरतीर्वृद्धास्त्रियस्ताः प्रणमेत्। तथा च हारीतः—

देवायतने गत्वा सर्वान् पश्येत् स्वभक्तितः।
तत्राश्रितान् यतीन् पश्चात्ततो वृद्धाः कुलस्त्रियः ॥१॥

देवाकारोपेतः पाषाणोऽपि नावमन्येत तत्किं पुनर्मनुष्यैः, राजशासनस्य मृत्तिकायामिव लिंगिषु को नाम विचारो यतः स्वयं मलिनो खलः प्रवर्धयत्येव क्षीरं धेनूनां, न खलु परेषामाचारः स्वस्य पुण्यमारभते किन्तु मनोविशुद्धिः ॥ ३० ॥

गतार्थमेतत्।

अथ विप्रादीना स्वभावमाह—

दीना प्रकृतिः प्रायेण ब्राह्मणानाम् ॥ ३१ ॥

बलात्कारस्वभावः क्षत्रियाणाम् ॥ ३२ ॥

---

१ यत. देवाकारे प्रापितः पाषाणोऽपि नावमन्यते जनैः इति शेषः किं पुनर्मनुष्यो अवमन्तव्य इति वक्तव्यमपि तु नेत्यर्थः। २ राजाज्ञायाः मृत्तिकायामिव।

निसर्गतः शाठ्यं किरातानाम् ॥ ३३ ॥

ऋजुवक्रशीलता सहजा कृषीवलानाम् ॥ ३४ ॥

गतार्थमेतत् ।

अथ विप्रादीनां यथा कोपोपशमो भवति तथाह—

दानावसानः कोपो ब्राह्मणानाम् ॥ ३५ ॥

प्रणामावसानः कोपो गुरूणाम् ॥ ३६ ॥

प्राणावसानः कोपो क्षत्रियाणाम् ॥ ३७ ॥

प्रियवचनावसानः कोपो वणिग्जनानाम् ॥ ३८ ॥

विश्वस्तैः सह व्यवहारो वणिजां निधिः ॥ ३९ ॥

टीका—ब्राह्मणानां यः कोपः स दानावसानः प्रकुपितस्यापि विप्रस्य यदि भोजनार्थं कोपार्हं किंचित्प्रदीयते तत्सद्यः कोपो विनश्यति। तथा च गर्गः—

सूर्योदये यथा भातं तमः सद्यः प्रयात्यलम् ।
तथा दानेन लब्धस्य कोपो विप्रस्य गच्छति ॥ १ ॥
दुर्जने सुकृतं यद्वत्कृतं याति च संक्षयं ।
तद्वत्कोपो गुरूणां स प्रणामेन प्रणश्यति ॥ २ ॥
उदुम्बरफलानां च यद्वद्बीजं प्रणश्यति ।
पातेन सहितं तद्वत्कोपो भूपस्य तत्समः ॥ ३ ॥
यथा प्रियेण दृष्टेन नश्यति व्याधिर्योषिताम् ।
प्रियालापेन तद्वद्वणिजां नश्यति ध्रुवं ॥ ४ ॥
विश्वस्तैर्मित्रवर्गैश्च व्यवहारस्तु यो भवेत् ।
वणिजां स निधिः प्रोक्तः सुवर्णमयो महः ॥ ५ ॥

तथा च वल्लभदेवः—

द्वे मासेऽर्भाख्याविज्य गांधर्वं पण्यतोऽधिकं ।
निक्षेपः कथमित्वा च वणिजां निधयस्त्रयः ॥ १ ॥

पूर्णो पूर्णमाने परिचितजनकयो मिथ्या ।
वणिग्जनो विकोटीशः कुरुते नात्र संदेहः ॥ २ ॥
निक्षेपे गृहपतिते श्रेष्ठी स्तौतीष्टदेवतां नित्यं ।
निक्षेपोऽसौ म्रियते तुभ्यं दास्यामि चार्भीष्टं ॥ ३ ॥
गोष्ठिककर्माणि युक्तः श्रेष्ठी चिन्तयति चेतसा हृष्टः ।
वसुधा वसुसम्पूर्णा मयाद्य लब्धा किमन्येन ॥ ४ ॥
पण्यानां गांधिकं पण्यं किमन्यैः काञ्चनादिभिः ।
श्रेष्ठी प्रोवाच पुत्राणां यत्रैकेन शते भवेत् ॥ ५ ॥

अथ वैश्याना यथा कोपोपशमो भवति तथाह—

वैश्यानां समुद्धारकप्रदानेन कोपोपशमः ॥ ४० ॥

टीका—वैश्यानां कर्षकाणां उद्धारकदानं कोपोपशमाय । तथा च भृगुः—

अपि चेत्पवित्रको वैरो विशां कोपं प्रजायते ।
उद्धारकप्रलाभेन निःशेषो विलयं व्रजेत् ॥ १ ॥

अथ नीचजात्यानां यथा कोपोपशमो भवति तदाह—

दण्डभयोपधिभिर्वशीकरणं नीचजात्यानाम् ॥ ४१ ॥

टीका—नीचजात्यानां चातुर्वर्ण्याधःस्थितानां रजकादीनां कोपोपशमाय, किं ? वशीकरणं दण्डभयं रौद्रभयं । तथा च गर्गः—

सर्वेषां नीचजात्यानां यावन्नो दर्शयेद्भयं ।
तावन्नो वशमायान्ति दर्शनीयं ततो भयम् ॥ १ ॥

इति त्रयीसमुद्देशः ।

८ वार्ता-समुद्देशः ।

अथ वार्तासमुद्देशो लिख्यते तत्रादावेव वार्तास्वरूपमाह—

कृषिः पशुपालनं वणिज्या च वार्ता वैश्यानाम् ॥ १ ॥

टीका—यत्कृष्यादिकर्म तथा पशुपालनं च वणिज्या च वणिक्क्रिया सा वार्ता कथ्यते । गतार्थमेतत् ।

अथ वार्तायां वृद्धिं गतायां राज्ञो देशे यद्भवति तदाह—

वार्तासमृद्धौ सर्वाः समृद्धयो राज्ञः ॥ २ ॥

टीका—यत्र राष्ट्रे कृषिकर्म प्रवर्तते शारदग्रैष्मिकं तथा पशवः चतुष्पादाद्याः पुष्टिं यान्ति न चौरादिभिः ह्रियन्ते । तथा वणिजां व्यवहारो विघ्नरहितः प्रवर्तते तत्र भूपतेर्हस्त्यश्वहिरण्यादिकमसंख्यं भवति तदभावात्सर्वाः समृद्धयो धर्मार्थकामलक्षणा भवन्ति । तथा च शुक्रः—

> कृषिश्चैव वणिज्या च यस्य राष्ट्रे भवन्त्यमी ।
> धर्मार्थकामा भूपस्य तस्य स्युः संख्यया विना ॥ १ ॥

अथ गृहस्थस्य संसारसुखं यथा भवति तथाह—

तस्य खलु संसारसुखं यस्य कृषिर्धेनवः शाकवाटः सद्मन्युदपानं च ॥ ३ ॥

टीका—तस्य गृहस्थस्य खलु निश्चयेन सुखं भवति । यस्य किं, यस्य गृहे सदैव कृषिकर्म क्रियते तथा धेनवो महिष्यो भवन्ति शाकवाटो व्यञ्जनार्थं भवति तथा उदपानं कूपिका स्यात् । तथा च शुक्रः—

> कृषिगोशाकवाटाश्च जलाश्रयसमन्विताः ।
> गृहे यस्य भवन्त्येते स्वर्गलोकेन तस्य किम् ॥ १ ॥

---

१ राज्ञामिति पाठान्तरम् ।

अथ विसाध्यराज्ञो यद्भवति तदाह—

विसाध्यराज्ञस्तंत्रपोषणे नियोगिनामुत्सवो महान् कोशक्षयः ॥ ४ ॥

टीका—यो राजा तंत्रपोषणे नित्यं विसाधनं करोति तस्य नियोगिनां कर्माधिष्ठितानां महानुत्सवं वृद्धापनकं भवति यतस्ते वित्तं भक्षयन्ति तस्य राज्ञः पुनः कोशक्षयो भवति । तथा च नारदः—

ग्रीष्मे शरदि यो नान्नं संगृह्णाति महीपतिः ।
नित्यं मूल्येन गृह्णाति तस्य कोशक्षयो भवेत् ॥ १ ॥

अथ तस्य भूपतेर्नित्यं व्ययेनागतिं विना यथा कोशक्षयो भवति तदाह—

नित्यं हिरण्यव्ययेन मेरुरपि क्षीयते ॥ ५ ॥

टीका—यो नित्यं व्ययं करोति न किंचिदुपार्जयति तस्य सुमहानपि कोशः शनैः शनैः क्षयं याति । आस्तां तावत्कोशो मेरुरपि नित्यं हिरण्यव्ययेन स्वल्पेनापि क्षयं याति तस्मादायानुरूपो व्ययः कार्यः । तथा च शुक्रः—

आगमे यस्य चत्वारि निर्गमे सार्धपंचमः ।
स दरिद्रत्वमाप्नोति वित्तेशोऽपि स्वयं यदि ॥ १ ॥

अथ राज्ञो विसाधनव्ययस्य यद्भवति तदाह—

तत्र सदैव दुर्भिक्षं यत्र राजा विसाधयति ॥ ६ ॥

टीका—यत्र राजा नित्यमेवान्नं विसाधयति तत्र सदैव दुर्भिक्षं यतः प्रभूतेनान्नेन तत्र पोषणं भवति ततो दुर्भिक्षं जायते तस्माद्बुधा प्रभूतो धान्यसंग्रहः कार्यः । तथा च नारदः—

---

१ धान्यसंग्रहमकृत्वाऽपि विक्रयकर्तुः । २ धान्यसंग्रहं न करोति आगतेरपि दुर्भिक्षं भवति ।

> दुर्भिक्षेऽपि समुत्पन्ने यत्र राजा प्रयच्छति ।
> निजार्थेण निजं सस्यं तदा लोको न पीड्यते ॥ १ ॥

अथ राज्ञोऽर्थतुष्टेर्यद्भवति तदाह—

समुद्रस्य पिपासायां कुतो जगति जलानि ॥ ७ ॥

टीका—एतत् किल श्रूयते समुद्रे नवनदीशतैः सह गंगा प्रविशति तथा सिन्धुश्च । एवं सोऽष्टादशाभिः शतैर्नदीनां गतपिपासो न भवति यदा तु तस्याप्यधिका तृड् भवति तदा कुतोऽन्यानि (अन्यत्र) जलानि विद्यन्ते तदर्थं । एवं राजापि यदा तु षड्भागाभ्यधिको तुष्टिं करोति तदा कुतो राष्ट्रे वित्तानि तद्दोषेण राष्ट्रं प्रणश्यति ततो राज्यं च । तथा च शुक्रः—

> षड्भागाभ्यधिको दण्डो यस्य राज्ञः प्रतुष्टये ।
> तस्य राष्ट्रं क्षयं याति राज्यं च तदनन्तरम् ॥ १ ॥

अथ राज्ञः स्वयं जीवधनमपश्यतो यद्भवति तदाह—

स्वयं जीवधनमपश्यतो महती हानिर्मनस्तापश्च क्षुत्पिपासा-प्रतीकारात्पापं च ॥ ८ ॥

टीका—जीवधनशब्देन गोमहिष्यादिकं कथ्यते । तत्स्वयमपश्यतः स्वामिनो महती हानिर्भवति तथा मृतैर्मनस्तापो भवति तेषां बुभुक्षा-पिपासाप्रतीकारात् तस्य पापं भवति ततः स्वामिना जीवधनं स्वयं निरीक्षणीयं । तथा च शुक्रः—

> चतुष्पदादिकं सर्वं स स्वयं यो न पश्यति ।
> तस्य तन्नाशमभ्येति ततः पापमवाप्नुयात् ॥ १ ॥

अथ स्वामिना यत्कर्तव्यं तदाह—

वृद्धबालव्याधितक्षीणान् पशून् बान्धवानिव पोषयेत् ॥९॥

टीका—वृद्धाननाथान्, बालान् मातृपितृविहीनान्, व्याधिग्रस्तान-शरणान् तथा क्षीणान् दुर्बलान् पशून् दृष्ट्वा सुबान्धवानिव पोषयेत् स्वर्गार्थं । तथा च व्यासः—

अनाथान् विकलान् दीनान् क्षुत्परीतान् पशूनपि ।
दयावान् पोषयेद्यस्तु स स्वर्गे मोदते चिरम् ॥ १ ॥

अथ पशूनामकालमरणं यथा भवति तदाह—

अतिभारो महान् मार्गश्च पशूनामकाले मरणकारणम् ॥१०॥

टीका—पशूनां वृषाश्वगजानां योऽसौ प्रभूतो भारः प्रभूतमार्ग-गमनं च अकालेऽप्रस्तावेऽवेलायां तेषां मृत्युकारणं मृत्युसमयः । तथा च हारीतः—

अतिभारो महान् मार्गः पशूनां मृत्युकारणं ।
तस्मादर्द्धभावेन मार्गेणापि प्रयोजयेत् ॥ १ ॥

अथ देशान्तराद्भाण्डानि यथा नागच्छन्ति तदाह—

शुल्कवृद्धिर्बलात्पण्यग्रहणं च देशान्तरभाण्डानामप्रवेशे हेतुः ॥ ११ ॥

टीका—यत्र स्थाने शुल्कवृद्धिः प्रभूतदानग्रहणं तथा च बलात्कारे-णाल्पमूल्यं दत्वा भांडं गृह्यते तत्र भाण्ड देशान्तरान्न प्रविशति । तथा च शुक्रः—

यत्र गृह्णन्ति शुल्कानि पुरुषा भूपयोजिताः ।
अर्थहानिं च कुर्वन्ति तत्र नायाति विक्रयां ॥ १ ॥

भूयोऽपि भाण्डं नागच्छति तन्निदर्शनमाह—

काष्ठपात्र्यामेकदैव पदार्थो रध्यते ॥ १२ ॥

टीका—काष्ठपात्री काष्ठदण्डिका या भवति तस्यामेकः पदार्थो रध्यते न द्वितीयः । एवं यत्र स्थानेऽधिक शुल्कं गृह्यते । तथा बला-

स्कारणार्थहानिः क्रियते राजपुरुषैस्तत्र भाण्डविक्रेता भूयो न स आगच्छति। तथा च शुक्रः—

> शुल्कवृद्धिर्भवेद्यत्र यस्मान्मूल्यं निपात्यते।
> स्वप्नेऽपि तत्र न स्थाने प्रविशेद् भाण्डविक्रयी ॥ १ ॥

अथ स्थाने व्यवहारदूषणं यथा भवति तदाह—

तुलामानयोरव्यवस्था व्यवहारं दूषयति ॥ १३ ॥

टीका—तुला प्रसिद्धा, मानं कुण्डवादि तयोरव्यवस्था अयथोचितकरणं, गुरुलघुत्वेन यत्र वाणिज्यं करोति तत्र व्यवहारः साधूनां नश्यति। तथा च वर्गः—

> गुरुत्वं च लघुत्वं च तुलामानसमुद्भवम्।
> द्विप्रकारं भवेद्यत्र वाणिज्यं तत्र नो भवेत् ॥ १ ॥

अथ वणिग्जनकृतस्यार्थस्य यद्भवति तदाह—

वणिग्जनकृतोऽर्थः स्थितानागन्तुकांश्च पीडयति ॥ १४ ॥

टीका—स्थितान् तत्स्थाननिवासिनः आगन्तुकान् यतोभ्यागतान् सर्वान् पीडयति निर्धनान् करोति। कोऽसौ? अर्थः। किंविशिष्टः? वणिग्जनकृतः। यद्येवं तर्हि किं क्रियते देशकालभाण्डापेक्षया नृपपंचकुलकृतोऽत्रस्थानामागन्तुकानां निरपवादो भवति। तथा च हारीतः—

> वणिग्जनकृतो योऽर्थोऽननुज्ञातश्च नियोगिभिः।
> भूपस्य पीडयेत्सोऽत्र तत्स्थानागन्तुकानपि ॥ १ ॥

अथ अर्थविषये नियममाह—

देशकालभांडापेक्षया यो वाऽर्घो भवेत् ॥ १५ ॥

टीका—देशापेक्षया तत्र देशे तस्य भाण्डस्योत्पत्तिर्जाता न वेति, कालशब्देनात्र समयः कथ्यते स ज्ञेय, अत्र समये चास्य

प्रवेशो देशान्तरराजातो न वेति एषा देशकालापेक्षया अनया वार्य्य-साम्पता।

अथ पण्यतुलामानविषये वणिग्जनस्य भूभुजा यत् कृत्यं तदाह—

पण्यतुलामानवृद्धौ राजा स्वयं जागृयात् ॥ १६ ॥

टीका—पण्यशब्देन भांडविषयेन कथ्यते (!)। तत्र वणिजो वि-क्रर्ति कुर्वन्ति स्वल्पमूल्ये तत्सदृशं भांडं मिश्रतां नयंति। तथा तुलाद्वयं कुर्वन्ति मानद्वयं च तत्सर्वं राज्ञा तेषां बोद्धव्यं। तथा च शुक्रः—

> भाण्डसंगात्तुलामानाद्धीनाधिक्याद्वणिग्जनाः।
> वंचयन्ति जनं मुग्धं तद्विज्ञेयं महीभुजा ॥ १ ॥

अथ भूभुजा वणिग्जनस्य यतः सावधानो न भवितव्यं तदर्थमाह—

न वणिग्भ्यः सन्ति परे पश्यतो हराः ॥ १७ ॥

टीका—वणिग्भ्य. किराटेभ्य. परे अन्ये न सन्ति न विद्यन्ते, के ते? पश्यतो हराश्चौराः। ये सत्यचौरा भवन्ति ते परोक्षं हरन्ति एते पुनः किराटाश्चौराः प्रत्यक्षं प्रेक्षमाणस्य कूटमानतुलामिथ्याक्रियादिभिर्हरन्ति। तथा च वल्लभो देवः—

> मानेन किंचिन्मूल्येन किंचि—
> त्तुलयापि किंचित्कलयापि किंचित्।
> किंचिच्च किंचिच्च गृहीतुकामाः
> प्रत्यक्षचौरा वणिजो नराणाम् ॥ १ ॥

अथ स्पर्धया परस्परं यत्र किराटा मूल्यवृद्धिं कुर्वन्ति तदाह—

स्पर्धया मूल्यवृद्धिर्भांडेषु राज्ञो यथोचितं मूल्यं विक्रेतुः॥१८॥

टीका—यत्र भाण्डे विक्रयार्थमागता वणिग्जनाः स्पर्धयाधिकं मूल्यं कुर्वन्ति तत्र प्रसिद्धमूल्यात्स्यधिकं भवति तद्भूपतेः प्रसिद्धमूल्यं च विक्रेतुः। तथा च हारीतः—

> स्पर्धया विदितो मूल्यो भाण्डस्याप्यधिकं च यत् ।
> मूल्यं भवति तद्राज्ञो विक्रेतुर्वर्धमानकम् ॥ १ ॥

अथाल्पमूल्येन भाण्डं गृह्णतो यद्भवति तदाह—

अल्पद्रव्येण महाभाण्डं गृह्णतो मूल्याविनाशेन तद्भांडं राज्ञः ॥ १९ ॥

टीका—महाभांडमुत्तमं वस्तु चौराद्यैर्मुग्धैर्वा स्वल्पमूल्येन यद्दत्तं तद्भांडं भूपस्य भवति परं यन्मूल्यं केनचिद्दत्तं तस्याविनाशः, कोऽर्थः ! तत्तस्य देयमित्यर्थः । तथा च नारदः—

> भाण्डं चौरादिभिर्दत्तं मुग्धैर्वाल्पधनेन यत् ।
> तद्भाण्डं भूपतेः छत्स्नं गृहीतुर्मूल्यमेव च ॥ १ ॥

अथान्यायमुपेक्षमाणस्य नृपतेर्यद्भवति तदाह—

अन्यायोपेक्षा सर्वं विनाशयति ॥ २० ॥

टीका—यो राजान्यायान् वर्तमानान् उपेक्षतेऽन्यायकारिणां निग्रहं न करोति तस्य सर्वं राज्यं विनश्यति । तथा च शुक्रः—

> अन्यायान् भूमिपो यत्र न निषेधयति क्षमी ।
> तस्य राज्यं क्षयं याति यद्यपि स्यात् क्रमागतम् ॥ १ ॥

अथ राष्ट्रस्य ये शत्रवो भवन्ति तानाह—

चौरचरटमन्नपधमनराजवल्लभाटविकतलारा[1]क्षशालिकनियोगिग्रामकूटवार्द्धुषिका हि राष्ट्रस्य कण्टकाः ॥ २१ ॥

टीका—चौराः प्रसिद्धा, चरटा ये भूभुजा निःसारिता, मन्नपा मापकारका, धमना ग्राहकभाण्डपत्रैर्मूल्यं निर्णयकारका, राजवल्लभाः प्रसिद्धा, आटविका अरण्यनिवासिन, तलारा स्थानरक्षाया नियोजिता, अक्षशालिका कटकशालिका नियोगिनः राजाधिकारिणः, ग्रामकूटा

---

[1] तलारकिरातादि॰ इति पाठान्तरम् ।

बलाधिकाः, वार्द्धुषिका येऽन्नसंग्रहं कृत्वा दुर्भिक्षं वाञ्छन्ति, एते सर्वे राष्ट्रस्य कण्टका देशस्य शत्रुभूताः सामादिभिरुपायैः राष्ट्रमुपद्रवन्ति तस्माद्भूभुजा नोपेक्षितव्याः। तथा च गुरुः—

चौरादिकेभ्यो दुष्टेभ्यो यो न राष्ट्रं प्ररक्षति।
तस्य तन्नाशमायाति यदि स्यात्पितृपैतृकम् ॥ १ ॥

अथ यादृक्षे राज्ञि राष्ट्रकण्टका न भवन्ति तदाह—

प्रतापवति[1] राज्ञि निष्ठुरे सति न भवन्ति राष्ट्रकण्टकाः ॥२२॥

टीका—यत्र राष्ट्रे राजा प्रतापी बहुपुण्यो भवति तथाज्ञया निष्ठुरो नीतिकर्ता च तत्रैते राष्ट्रकण्टका न भवन्ति। तथा च व्यासः—

यथोक्तनीतिनिपुणो यत्र देशे भवेन्नृपः।
सप्रतापो विशेषेण चौराद्यैर्न स पीड्यते ॥ १ ॥

अथान्यायवृद्ध्या वार्द्धुषिका [न] भवन्ति देशस्य यत्कुर्वन्ति तदाह—

अन्यायवृद्धितो[2] वार्द्धुषिकास्तंत्रं देशं च नाशयन्ति ॥ २३ ॥

टीका—वार्द्धुषिकाः पूर्वोक्तास्थानीतिवृद्धितः श्रिताः सन्तः तंत्रं राज्ञश्चतुष्पदादिकं तथा देशं नाशयन्ति तेषामन्यायवृद्धिः पार्थिवेन रक्षणीयाः। तथा च भृगुः—

यत्र वार्द्धुषिका देशं अनीतया वृद्धिमाययुः।
सर्वलोकक्षयस्तत्र तिरश्चां च विशेषतः ॥ १ ॥

अथ तेषां दाक्षिण्यरहितानां यद्भवति तदाह—

कार्याकार्ययोर्नास्ति दाक्षिण्यं वार्द्धुषिकानाम् ॥ २४ ॥

टीका—नास्ति न विद्यते, किं तत्? दाक्षिण्यं लज्जास्पदं, कयोर्विषये? कृत्याकृत्ययोः। यदि तदर्थं कृत्यं वस्तु क्रियते उपकारलक्षणं तदपि

---

१ प्रतापवति कण्टकशोधनाधिकरणस्थे राज्ञि न प्रभवन्ति इति पाठो मुद्रितपुस्तके। २ तेषु सर्वे अन्यायवृद्धयो वार्द्धुषिकास्तंत्रं कोशं देशं च विनाशयन्ति इति सूत्रे मुद्रितपुस्तके।

दाक्षिण्यं न कुर्वन्ति । अथवा तदर्थमकृत्यं क्रियते तदपि दाक्षिण्यं न कुर्वन्ति । तथा च हारीतः—

> वार्धुषिकस्य दाक्षिण्यं विद्यते न कथंचन ।
> कृत्याकृत्यं तदर्थं च कृतैः संख्याविवर्जितैः ॥ १ ॥

अथ पुरुषेण स्वशरीररक्षार्थं यत्कृत्यं तदाह—

अप्रियमप्यौषधं पीयते ॥ २५ ॥

टीका—किलौषधं क्वाथादिकं यद्यप्रियं भवति कटुकं तथापि पीयते येनारोग्यं शरीरे भवति तथान्यैरपि पदार्थैर्धर्मार्थकामादिभिर्यथा शरीरस्यारोग्यता भवति तथा कार्यं । तथा च वर्गः—

> धर्मार्थकामपूर्वैश्च भेषजैर्विविधैरपि ।
> यथा सौख्यान्वितं पश्येत्तथा कार्यं विपश्चिता ॥ १ ॥

अथ तस्यैव पूर्वसूत्रस्य प्रतिष्ठामाह—

अहिदष्टा स्वाङ्गुलिरपि छिद्यते ॥ २६ ॥

टीका—यतो निर्मूल्यौषधैर्महार्घैः (?) गृह्णाति अर्थक्षयो भवति । जिह्वाया असन्तोषो भवति । तथा धर्मार्थकामैरनुगतैरपि विलक्षणो भवति तथा मनसोऽसन्तोषो भवति । तत्कस्मादेतत्कृतं तद्त्र विषये दृष्टान्तमाह—यथाहिदष्टाङ्गुलिः शरीररक्षार्थं स्वधामप्यधिका करोति तथापि छिद्यते त्यज्यते । एवं शरीररक्षार्थेऽर्थस्य तृष्णा न कार्या शरीरेण विद्यमानेन भूयोऽप्यर्थसम्पत्तिर्भवति तथ हिदष्टाङ्गुलिस्यागाच्छरीरं भवति । उक्तं च—

> शरीरार्थे न तृष्णा च प्रकर्तव्या विचक्षणैः ।
> शरीरेण स्वता वित्तं लभ्यते न तु नश्यते ॥ १ ॥

इति वार्तासमुद्देशः ।

९ दण्डनीति–समुद्देशः ।

अथ दण्डनीतिरारभ्यते । तत्र तावद्दण्डमाहात्म्यमाह—

चिकित्सागम इव दोषविशुद्धिहेतुर्दण्डः ॥ १ ॥

टीका—योऽसौ अपराधिनां दण्डः क्रियते, स किंविशिष्टः ? दोषविशुद्धिहेतुः कारणं । एतदुक्तं भवति—योऽसौ राजा चौरजारादीनां निग्रहं करोति, स निग्रहः किंविशिष्टः ? सर्वदोषविशुद्धिहेतुः । क इव ? चिकित्सागम इव, यथा चिकित्सागमो वैद्यकं सर्वदोषसन्निपातादीनां विनाशहेतुर्भवति तथा दण्ड । तथा च गर्गः—

> अपराधिषु यो दण्डः स राष्ट्रस्य विशुद्धये ।
> विना येन च सन्देहो मात्स्यो न्यायः प्रवर्तते ॥ १ ॥

अथ दण्डनीतेः स्वरूपमाह—

यथादोषं दण्डप्रणयनं दण्डनीतिः ॥ २ ॥

टीका—यथादोषं यथाप्रमाणापराधस्य दंड प्रणयनं दण्डग्रहणं सा दण्डनीतिः, न सातर्हस्य (?) द्विशतमात्रो दण्डः । तथा हस्तपादच्छेदार्हस्य न शिर (श्छेद) कार्यः । तथा विप्रस्य न क्षत्रियवद्दण्डः । न क्षत्रियस्य वैश्यवत् । न वैश्यस्य शूद्रवत् । न शूद्रस्यान्त्यजवत् । एते सर्वेऽपि दण्डा भृगुणा धर्माकरणे (धर्माधिकरणेन धर्मकारणे वा) निर्धेतव्याः । तथा च गुरु —

> क्षुद्रयुक्तस्य अन्तरेण दीर्घाधिकर्षं प्रमाणयन् ।
> अपराधस्वरूपेण लिप्यते न विशुद्धयति ॥ १ ॥

अथ यन्निमित्तं राजा दण्डं करोति तदाह—

प्रजापालनाय राज्ञा दण्डः प्रणीयते न धनार्थम् ॥ ३ ॥

टीका—योऽसौ राज्ञा दण्डः प्रणीयते कृतापराधेभ्यो दीयते स प्रजापालनाय देशविशुद्ध्यर्थं न धनार्थं तस्माद्भुजा धनलोभो न कर्तव्यः। तथा च गुरुः—

यो राजा धनलोभेन दीनाधिककरप्रियः।
तस्य राष्ट्रं प्रजेप्रासं न स्यात्परमवृद्धिमत् ॥ १ ॥

अथ राज्ञो वैद्यस्य वा छिद्रान्वेषणपरस्य यद्भवति तदाह—

स किं राजा वैद्यो वा यः स्वजीवनाय प्रजासु दोषमन्वेषयति ॥ ४ ॥

टीका—स किं राजा यः प्रजासु विषये दोषमन्वेषयति छिद्रान्वेषणपरो भवति स कण्टकः शत्रुः। कासां? प्रजानां। यतः कलिकाले कामक्रोधलोभादयो दोषाः प्रायेण संभवन्ति तेन सर्वं छिद्रमयं जगत् एवं ज्ञात्वा परिभूतपुरुषस्य तच्छत्रो यथार्हो दण्डः कार्यः न परवाक्येन स्वजीवनाय निर्वहणनिमित्तं। तथा च शुक्रः—

यो राजा परवाक्येन प्रजादण्डं प्रयच्छति।
तस्य राज्यं क्षयं याति तस्माज्ज्ञात्वा प्रदण्डयेत् ॥ १ ॥

अपि च—

छिद्रान्वेषणचित्तेन नृपस्तंत्रं न धारयेत्।
तस्य तद्यातिनाशं[1] तस्मात्स्वयद्राजनीतिता[1] ॥ २ ॥

तथा च वैद्यः स्वजीवनाय प्रजासु दोषमन्वेषयति रोगवृद्धिकराणि भेषजानि प्रयच्छति धनिनां स वैद्यो न भवति सोऽपि प्रजाकण्टकः। तथा च गुरुः—

[1] प्रजाहितार्थं इत्यन्यपाठः।

प्रत्यूषे प्रोत्थिता वैद्याः कृतावश्यकसत्क्रियाः ।
वैद्यनाथं हृदि स्थाप्य श्लोकमेनं पठन्ति च ॥ १ ॥
वातपित्तादिका रोगा ये चाजीर्णसमुद्भवाः ।
ते सर्वे धनिनां सन्तु वैद्यनाथ तवाज्ञया ॥ २ ॥

अथ राजा न यानि द्रव्याणि स्वयमुपयुञ्जीत तानि कथ्यन्ते—

दण्ड-द्यूत मृत विस्मृत-चौर-पारदारिक-प्रजाविप्लवजानि द्रव्याणि न राजा स्वयमुपयुञ्जीत ॥ ५ ॥

टीका—दण्डवित्तमपराधिजनोत्थं, द्यूते जितं, तथा संग्रामे, मृतस्य तथा विस्मृतं यज्जानाति वित्तं, तथा चौरादवाप्तं, (पारदारिकादवाप्तं) तथा प्रजाविप्लवात् परचक्रभयत्रासात् प्रजाभिः परित्यक्तं। (अथ यदि) एतानि द्रव्याणि न राजा स्वयं गृह्णीयात् यदि गृह्यन्ते तेन कस्मात्कारणात्, तदप्युच्यते तानि प्रभुणा धर्मार्थं विप्रादीनां देयानि न च कोशे क्षेप्तव्यानि यतो दुष्प्रणीतानि द्रव्याणि सर्वाणि। तथा च शुक्रः—

दुष्प्रणीतानि द्रव्याणि कोशे क्षिपति यो नृपः ।
स याति धनं गृह्यगृहादायनिधिर्यथा ? ॥ १ ॥

अथ दुष्प्रणीतदण्डेन कोशक्षिप्तेन यद्भवति तदाह—

दुष्प्रणीतो हि दण्डः कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वा सर्वविद्वेषं करोति ॥ ६ ॥

टीका— [illegible] दण्डः स दुष्प्रणीतः पापदण्डः स सर्वं [illegible] करोति सकलनाशं करोति, अन्यथापि शुभा- [illegible] । [illegible] कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वा [illegible] । तथा च शुक्रः —

१ [illegible]

यथा कुमित्रसंगेन मर्यं शीलं विनश्यति ।
तथा पापोत्थदण्डेन मिथं नश्यति तद्धनं । ॥ १ ॥
किंचित्कामेन क्रोधेन किंचित्किंचिच्च आत्मनः ।
तस्माद्दूरेण संत्याज्यं पापवित्तं कुमित्रवत् ॥ २ ॥

अथ दुष्प्रणीतदण्डभीतस्य राज्ञो राष्ट्रे यद्भवति तदाह—

अप्रणीतो दण्डो मात्स्यन्यायमुत्पादयति बलीयानबलं ग्रसति
(ति मात्स्यन्यायः) ॥ ७ ॥

टीका—अप्रणीतोऽकृतोऽपराधिनां भूभुजा दण्डो (मात्स्यन्याय-
ादयति बलीयान् पुरुषोऽबलं निर्बलं ग्रसतीति मात्स्यन्यायः तस्मात्)
ुजा दण्डो प्रायः परं कोशे न निक्षेप्तव्यः । तथा च गुरुः—

दण्डयं दण्डयति यो यः पापदण्डसमन्वितः ।
तस्य राष्ट्रे न सन्देहो मात्स्यो न्यायः प्रकीर्तितः ॥ १ ॥

इति दण्डनीतिसमुद्देशः ।

---

१ संशयः पाठो मुद्रितपुस्तकादू ... । २ ... पाठो नास्ति पुस्तके

१० मंत्रि–समुद्देशः।

अथ मंत्रिसमुद्देश आरभ्यते। तत्रादावेव राजा यथा आहार्यबुद्धि-र्भवति तदाह—

मंत्रिपुरोहितसेनापतीनां यो युक्तमुक्तं करोति स आहार्य-बुद्धिः ॥ १ ॥

टीका—यो राजा मंत्रिपुरोहितसेनापतीनां युक्तं धर्मार्थलक्षणं कथितं करोति स आहार्यबुद्धिः कथ्यते तस्माद्भुजा त्रयाणामप्येतेषां वचनं कार्यं राज्यविवृद्धये। तथा च गुरुः—

> यो राजा मन्त्रिपूर्वाणां न करोति हितं वचः।
> स शीघ्रं नाशमायाति यथा दुर्योधनो नृपः ॥ १ ॥

अथ भूपतेर्महापुरुषवाक्यं कुर्वाणस्य यद्भवति तदाह—

असुगन्धमपि सूत्रं कुसुमसंयोगात् किन्नारोहति देवशि-रसि ॥ २ ॥

टीका—यस्तथा राज्यं करोति मन्त्री राजा प्रधानो बहुमतिः षट् षाड्गुण्यं चिन्तयमानः विचारमात्रकेनासौ बुद्धिमान् भवति अमा-त्यादीनां पुनस्तदेव तस्य राज्यं चिन्तयमानानां बुद्धिविकासो भवति तेन ते द्रष्टव्याः। ते पुनः किंभूतास्तेन मतिः तद्बुद्धिः विप्रा यानी येष्वा भवति। के केन ? पुष्पैर्मिश्राः सूत्रतन्तवः यथा पुष्पमिश्राः सूत्रतन्तवोऽपि शिरसि धार्यन्ते एवं भूपस्यापि बुद्धि-

१ मन्त्रपुरोहितसेनापतीनाम्।

व्यासासक्तस्य नष्टापि सती प्रश्नात् प्रकटा भवतीति। तथा च वल्लभो देवः—

उत्तमानां प्रसङ्गेन लघवो यान्ति गौरवम्।
पुष्पमालाप्रसंगेन सूत्रं शिरसि धार्यते ॥ १ ॥

अथामेसरग्मूत्रेणामुमेवार्थं दृढीकुर्वन्नाह—

महद्भिः पुरुषैः प्रतिष्ठितोऽश्मापि भवति देवः किं पुनर्मनुष्यः ॥ ३ ॥

टीका—ये महापुरुषा उत्तमपुरुषा भवन्ति तैः प्रतिष्ठितोऽश्मापि पाषाणोऽपि देवो भवति किं पुनर्मनुष्यः। तस्माद्राज्ञा महापुरुषाः प्रष्टव्यास्तेषां वाक्ये कर्तव्यमिति। तथा च हारीतः—

पाषाणोऽपि च विबुधः स्थापितो यैः प्रजायते।
उत्तमैः पुरुषैस्तैस्तु किन्न स्यान्मानुषोऽपरः ॥ १ ॥

अथ तमेवार्थं दृढीकुर्वन्नाह—

तथा चानुश्रूयते विष्णुगुप्तानुग्रहादनधिकृतोऽपि किल चन्द्रगुप्तः साम्राज्यपदमवापेति ॥ ४ ॥

टीका—विष्णुगुप्तश्चाणिक्यस्तस्यानुग्रहात् प्रसादान्मतिमतोऽनधिकृतोऽपि अनधिकार्यपि गौरिककुलोत्पन्नोऽपि नन्दराज्ञो साम्राज्यपदमवाप। तथा च शुक्रः—

महामात्य वरो राजा निर्विकल्पं करोति य।
एकेन्द्रोऽपि महीं लेभे हीनोऽपि वृषलो यथा ॥ १ ॥

अथ राज्ञा यादृशोऽमात्यः कर्तव्यस्तस्य लक्षणमाह—

---

१ देव।

भक्षण इव । यथा विषेण भक्षितेन सर्वे शरीरजा गुणा नाशं यान्ति तद्वद्देशपक्षपातादिकाः सर्वे गुणा नश्यन्ति तस्माद्दुराचारो मंत्री न कर्तव्यः । तथा चात्रिः—

> दुराचारममात्यं यः कुरुते पृथिवीपतिः ।
> भूपादांस्तस्य मंत्रेण गुणान् सर्वान् प्रणाशयेत् ॥ १ ॥

अथाकुलीनस्य स्वरूपमाह—

दुष्परिजनो मोहेन कुतोऽप्यपकृत्य न जुगुप्सते ॥ ८ ॥

टीका—दुष्परिजनशब्देनाकुलीनः कथ्यते, दुष्परिजनो मंत्री, कुतः कस्मात् जुगुप्सते लज्जां करोति । किं कृत्वा ? अपकृत्य द्रोहं कृत्वा, कस्य राज्ञोऽपि तु न लज्जते । यतः कुलीनस्य लज्जा भवति नाकुलीनस्य । तथा च यमः—

> अकुलीनस्य नो लज्जा स्वामिद्रोहे कृते सति ।
> मंत्रिणं कुलहीनस्य तस्माद्विद्वान् कारयेत् ॥ १ ॥

अथ सव्यसनस्य स्वरूपमाह—

सव्यसनसचिवो राजारूढव्यालगज इव नासुलभोऽपायः ॥९॥

टीका—यो राजा सव्यसनसचिवो द्यूतस्त्रीपानव्यसनाभिभूतेन मंत्रिणा सह वर्तते, तस्य किं स्यात् ? नासुलभोऽपि तु सुलभः शीघ्रं स्यात् कोऽसौ ? अपायो विनाशः क इव ? आरूढव्यालगज इव योऽपि व्यालं दुष्टगजे आरोहणं करोति सोऽपि शीघ्रं नश्यतीति । तथा च नारदः—

> द्यूतं यो[illegible] हाला हालाहलोपमा ।
> [illegible] राज्ञो[illegible] ॥१॥

अथ [illegible] मंत्रिणः [illegible]

किं तेन केनापि यो विपदि नोपतिष्ठते ॥ १० ॥

टीका—किं तेन केनापि मंत्रिणान्येनापि सामान्येन यः स्वामिनो नोपतिष्ठते नागच्छति व्यभिचरतीत्यर्थः। कस्यां? आपदि। तथा च शुक्रः-

> किं तेन मंत्रिणा योऽत्र व्यसने समुपस्थिते।
> व्यभिचारं करोत्येव गुणैः सर्वैर्युतोऽपि वा ॥ १ ॥

अथ तमेवार्थं समर्थयन्नाह—

भोज्येऽसम्मतोऽपि हि सुलभो लोकः ॥ ११ ॥

टीका—भोज्ये भोजनकालेऽसम्मतोऽपि यः समागच्छति स सुलभः सुखेन लभ्यते प्रभूत इत्यर्थः। असंमतोऽप्यपूर्वोऽपि यो व्यसने साहाय्यं करोति स मैत्री सामान्योऽपि। हिशब्दो यस्मादर्थे स्फुटार्थः। तथा च वल्लभो देव —

> समृद्धिकाले संप्राप्ते परोऽपि स्वजनायते।
> अकुलीनोऽपि चामात्यो दुर्लभः स महीभुताम् ॥ १ ॥

अथाधीनाहितव्यवहारस्य शुभकरस्य मंत्रिणो दूषणमाह—

किं तस्य भक्त्या यो न वेत्ति स्वामिनो हितोपायमहितप्रतीकारं वा ॥ १२ ॥

टीका—यो न वेत्ति न चिन्तयति। किं? हितोपायं येन राज्ञो वृद्धिर्भवति। तथाऽहितप्रतीकारं शत्रुनाशं। तथा च गुरुः—

> किं तस्य व्यवहारार्थैर्विज्ञानैः शुभकैरपि।
> यो न चिन्तयते राज्ञो धनायाय रिपुक्षय ॥ १ ॥

अथास्त्रज्ञस्य [illegible]

किं तेन सहायेनास्त्रज्ञेन मंत्रिणा यस्यात्मरक्षणेऽप्यस्त्रं न भवति ॥ १३ ॥

टीका—[illegible] किं तेन सहायेना-स्त्रेन मंत्रिणा [illegible] य आत्मनो रक्षां न करोति स [illegible]। तथा च शुक्र —

मार्गचोर्यां च यो वेदशास्त्रविद्यांकुर्दारपि।
स मंत्री पूजितो राज्ञा योऽन्यः शास्त्रात्मरक्षकः ॥ १ ॥

अथोपधास्वरूपमाह—

धर्मार्थकाममयेषु व्याजेन परचित्तपरीक्षणमुपधा ॥ १४ ॥

टीका—या (उपधा) सा किंविशिष्टा ? परचित्तपरीक्षणकारी परराष्ट्रस्तस्य ज्ञायते चित्तं यथा, केन कृत्वा ? व्याजेन कपटेन। कैः, गुप्तचरैः। केषु पदार्थेषु ? धर्मार्थकाममयेषु। पश्चात्परीक्ष्य सन्धिर्विग्रहो वा स्वामिनो मंत्रिणा कारापनीयः। तत्र धर्मवेत्ता गुप्तचरः प्रेष्यस्तत्पुरोधसा सह मित्रत्वे नियोक्तव्यः, स तद्द्वारेण धर्मबुद्धिं यथा वेत्ति कार्यं किं वाहत्यमधर्मः त्वया ज्ञात्वा मम वाच्यः। ततश्च यदि कृत्ये धर्मो भवति स ततः स्वामिविग्रहे तेन सह नियोज्यः अकृत्यमधर्मो भवति तत्संधेयः यतो धर्मस्ततो जयः इति च ज्ञात्वा। अथवार्थोपधा बहुभाद नियोज्यः प्रेष्यः स गत्वा कोशाध्यक्षेन सह मैत्रीभावेन नियोक्तव्यः तद्द्वारेण यथा कोशशुद्धिं वेत्ति यस्तथा वाच्यः। स कंचुकिना सह मैत्री कृत्वा कामशुद्धिं वेत्ति धूतस्त्रीव्यसनेन जितः तदोद्धव्यः, अथवा सन्धेयः। भयोपधा यथा तत्र च शूरः स प्रहेतव्यः स च सेनापतिना सह मैत्री विधाय समये निर्भयं वेत्ति यदि समयमन्तरोद्धव्योऽथवा सन्धेय। एताश्चतस्र उपधा इति। तथा च शुक्रः—

छाया वर्गैः कथितोऽर्थगम्यां
धर्मार्थहीनां विपर्यां गृहीत्वा
पुरोहिताद्याधिपत्ये स्वकीयान्
स्त्रीव्यसनकामस्त्वपन स काये ॥

अथाकुलीनेषु मंत्रिषु दूषणमाह —

अकुलीनेषु नास्त्यपरवादाद्भयम् ॥ १५ ॥

टीका—नास्ति न विद्यते। किं तत्? भयं। केषु? अकुलीनेषु। कस्मात्? अपवादात् अपकीर्त्तेः। तथा च वल्लभदेवः—

> कथंचिदपवादस्य न वेत्ति कुलवर्जितः।
> तस्मात्तु भूभुजा कार्यो मंत्री न कुलवर्जितः॥ १॥

अथ भूयोऽप्यकुलीनानां मंत्रिणां स्वरूपमाह—

अलर्कविषवत् कालं प्राप्य विकुर्वते विजातयः॥ १६॥

टीका—ये मंत्रिणो विजातयः कुलहीना भवन्ति ते कालमापल्लक्षणं दृष्ट्वा प्राप्य भूपतेरपकुर्वते विरुद्धा भवन्ति। कथं? अलर्कविषवत् अलर्कशब्देन वाताभिभूतः श्वा प्रोच्यते तस्य दंष्ट्राविषमपि प्राप्ते काले प्रावृषि भूयोपि दंष्ट्राप्ररूढव्रणमपि नूतनं करोति। तद्वद्विजातयो मंत्रिणः कथमप्यपराधं भूपालकारितं प्रशान्तमपि प्रकटतां नयन्तीति। तस्माद्विजातयो मंत्रिणस्त्याज्याः। तथा च बादरायणः—

> अमात्या कुलहीना ये पार्थिवस्य भवन्ति ते।
> आपत्काले विरुध्यन्ते स्मरन्तः पूर्वदुष्कृतं॥ १॥

अथ कुलीनानां मंत्रिणां स्वरूपमाह—

तदमृतस्य विषत्वं यः कुलीनेषु दोषसम्भवः॥ १७॥

टीका—दोषसंभवं दुर्जनाः कथयन्ति। किं तदमृतस्य विषत्वं कदाचिदेषा न भवति खलु निश्चयेन। तथा च रैभ्यः—

> यदि स्याच्छीतलो वह्निः सोष्णस्तु रजनीपतिः।
> अमृतं च विषं भावि तत्कुलीनेषु विक्रिया॥ १॥

अथ ज्ञानिनो मंत्रिणो ज्ञानं यथा वृथा स्यात्तदाह—

घटप्रदीपवत्तज्ज्ञानं मंत्रिणो यत्र न परप्रतिबोधः॥ १८॥

---

१ कथंचिदपवादं स न वेत्ति कुलवर्जितः इति मु॰ दृश्यते।

यो न प्रहरति स तेन न वध्यते। तथा शास्त्रं पठमानो यो वादिने न प्रत्युत्तरं प्रयच्छति तुष्णीमास्ते स लघुतां याति। यथा च नारदः—

शत्रोर्वा वादिनो वापि शास्त्रेणैवायुधेन वा।
विद्यमानं न हन्याद्यो वेगं स लघुतां व्रजेत्॥ १॥

अथ कापुरुषस्य मूर्खस्य सुखं यद्भवति तदाह—

न हि गलिर्बलीवर्दो भारकर्मणि केनापि युज्यते॥ २१॥

टीका—यः कापुरुषो भवति शस्त्रं न गृह्णाति तथा मूर्खो भवति तं कश्चित्स्वामी युद्धाय न प्रेरयति मूर्खं च वादाय (न) नियोजयति। तथात्र दृष्टान्तेन तदर्थं प्रतिपादयति—न हि गलिर्बलीवर्दो भारकर्मणि युज्यते नारोपितः सुखी स्यात्। तथा च वल्लभदेवः—

गुणानामेव दौर्जन्याद् धुरि धुर्यो नियुज्यते।
असञ्जातकिणस्कन्धः सुखं याति गौर्गलिः[१]॥ १॥

अथ भूपतीनां कार्यारम्भो यादृग्भवति तमाह—

मंत्रपूर्वः सर्वोऽप्यारंभः क्षितिपतीनाम्॥ २२॥

टीका—क्षितिपतीनां राज्ञां यः प्रयोजनारम्भः षाड्गुण्यलक्षणः स मंत्रपूर्वः प्रथमं मंत्रिभिः सह मंत्रयित्वा ततः सर्वः प्रारभ्यते न मंत्रबाह्यः। तथा च शुक्रः—

अमंत्रसचिवैः सार्द्धं यः कार्यं कुरुते नृपः।
तस्य तन्निष्फलं भावि षण्ढस्य सुरतं यथा॥ १॥

मंत्रस्य यत्साध्यं तदाह—

अनुपलब्धस्य ज्ञानमुपलब्धस्य निश्चयो निश्चितस्य बलाधानमर्थद्वैधस्य संशयच्छेदनमेकदेशदृष्टस्याशेषोपलब्धिरिति मंत्रसाध्यमेतत्॥ २३॥

---

१ अदृष्टकिणस्कन्धः।

टीका—एतत् पञ्चपदार्थलक्षणं भूपतीनां मंत्रसाध्यं मंत्र विना न सिद्ध्यतीत्यर्थः । तत्र तावदनुपलब्धस्याज्ञातस्य पदार्थस्य ज्ञानं यच्छत्रुमध्यं न ज्ञायतेऽन्यस्य वा कस्यचित् गुह्यवस्तुनि तन्मन्त्रेण ज्ञायते गुप्तचरैः श्रोष्यते ततो ज्ञायते । ज्ञातस्य निश्चयो निश्चितस्य बलाधानं तस्य क्रमेणार्थद्वैधस्य संशयपरिच्छेदः, । यदेको गुप्तचरो वदति तदन्यो(न्यो)ऽन्यथा ब्रूते स द्वैधीभावो भवति । तृतीय प्रेषयित्वा निःसन्देहं यथा भवति तथा कार्यं । तथा एकदेशदृष्टस्य चौः सर्वस्योपलब्धिः कार्या । तथा च गुरुः—

> अज्ञातं शत्रुसैन्यं च यत्नेनैव विपश्चिता ।
> तस्य विज्ञातमप्यस्य कार्यं सिद्धं न चेति च ॥ १ ॥

अथ मंत्रिणां लक्षणमाह—

अकृतारम्भमारब्धस्याप्यनुष्ठानमनुष्ठितविशेषं विनियोगसम्पदं च ये कुर्युस्ते मन्त्रिणः ॥ २४ ॥

टीका—अकृतस्य पदार्थस्य ये मंत्रबलस्यारम्भं कुर्युः, तथारब्धस्यानुष्ठानं कर्मवृद्धिः, अनुष्ठितस्य विशेषं, विनियोगसम्पदं च कर्म कुर्युस्ते मंत्रिणः कथ्यन्ते । तथा च शुक्रः—

> दर्शयन्ति विशेषं ये सर्वकर्मसु भूपतेः ।
> स्वाधिकारप्रभावं च मन्त्रिणस्तेऽन्यथा परे ॥ १ ॥

अथ मन्त्रस्य लक्षणमाह—

कर्मणामारम्भोपायः पुरुषद्रव्यसम्पद्देशकालविभागो विनिपातप्रतीकारः कार्यसिद्धिश्चेति पंचांगो मंत्रः ॥ २५ ॥

टीका—सर्वेषां कृत्यानां तावदुपाय सामभेदोपप्रदानलक्षण-विनिश्चनीय. अनेनोपायेनेदं कृत्यं सिद्धिं यास्यतीति । उक्तं च यत —

कार्यारंभेषु नोपायं तत्सिद्ध्यर्थं च चिन्तयेत्।
यः पूर्वं तस्य नो सिद्धिं तत्कार्यं याति कर्हिचित् ॥ १ ॥

तथा पुरुषद्रव्यसम्पचिन्तनीया । सम्पच्छब्देन सामर्थ्यमुच्यते ऽनेः पुरुषेणैतेन द्रव्येणैतत्कार्यं सिद्ध्यति । उक्तं च यतः—

समर्थं पुरुषं कृत्ये तदर्हं च तथा धनम्।
योजयेद्यो न कृत्येषु तत्सिद्धिं तस्य नो व्रजेत् ॥ १ ॥

तथा च देशकालविभागो भूभुजा चिन्तनीयः, अस्मिन् देशे यावनसैन्धवे ? अस्मिन् काले वसन्तशरल्लक्षणे मम यात्रासिद्धिर्भविष्यतीति । उक्तं च यतः—

यथात्र सैन्धवस्तोयस्थले मत्स्यो विनश्यति।
शीघ्रं तथा महीपालः कुदेशं प्राप्य सीदति ॥ १ ॥
यथा काको निशाकाले कौशिकश्च दिवा चरन्।
स विनश्यति कालेन तथा भूपो न संशयः ॥ २ ॥

तथा विनिपातप्रतीकारश्चिन्तनीयः विनिपातशब्देनापदभिधीयते तस्याः प्रतीकार उपशमश्चिन्तनीयः कथमेषा यास्यति । उक्तं च यतः—

आपत्काले तु सम्प्राप्ते यो न मोहं प्रगच्छति।
उद्यमं कुरुते शक्त्या स तं नाशयति ध्रुवं ॥ १ ॥

तथा कार्यसिद्धिश्चिन्तनीया ।

सामादिभि (रुपायैं) र्यो कार्यसिद्धिं प्रचिन्तयेद्
न विघ्नं क्वचिद्याति तस्य तत्सिद्ध्यति ध्रुवं ॥ १ ॥

अथ यत्र स्थाने मंत्रं कुर्यात्तदाह—

आकाशे प्रतिशब्दवति चाश्रये मंत्रं न कुर्यात् ॥ २६ ॥

टीका—आकाशे आश्रयरहिते न मंत्रः कार्यः । तथा प्रतिशब्दवति चाश्रये यत्राश्रये स्थाने प्रतिशब्दः सञ्जायते तत्रापि मंत्रो न कार्यः । कदाचित्कश्चिद्गुप्तस्तत्र स्थित्वा आकर्णयति । तथा च गुरुः—

निराश्रयप्रदेशे तु मंत्रः कार्यो न भूभुजा।
प्रतिशब्दो न यत्र स्यान्मंत्रसिद्धिं प्रयान्छता ॥ १ ॥

अथाकारैर्यथा विचक्षणो मंत्रो ज्ञायते तदाह—

मुखविकारकराभिनयाभ्यां प्रतिध्वानेन वा मनःस्थमप्यर्थमभ्यूहन्ति विचक्षणाः ॥ २७ ॥

टीका—यदि किंचिद्वदति राजा तदपि मुखविकारं दृष्ट्वा विचक्षणो दूतः समागत. तन्मंत्रं हृदि स्थितं जानाति। तथा कराभिनयेन हस्तचलनेन जानाति। प्रतिध्वानेन प्रतिशब्देन जानातीति तथा एते विकारा दूतात्र रक्षणीयाः। तथा च वल्लभदेव.—

आकारैरिंगितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च।
नेत्रवक्त्रविकारेण गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ १ ॥

अथ यथा रक्षितव्यो मंत्रस्तदाह—

आ कार्यसिद्धे रक्षितव्यो मंत्रः ॥ २८ ॥

टीका—आङ् पर्यन्तवाचकः यावन्मंत्र कृता कार्यस्य सिद्धिर्न भवति तावद्रक्षितव्यः। तथा च विदुरः—

एकं विषरसो हन्ति शस्त्रेणैकश्च वध्यते।
सराष्ट्रं सप्रजं हन्ति राजानं धर्मविप्लवः ॥ १ ॥

अथापरीक्ष्य मंत्रयमाणस्य यद्भवति तदाह—

दिवा नक्तं वापरीक्ष्य मंत्रयमाणस्याभिमतः प्रच्छन्नो वा भिनत्ति मंत्रम् ॥ २९ ॥

टीका—मंत्रमेतस्मात् दिवा नक्तं च अपरीक्ष्य प्रदेशं मंत्रं कुर्यात् यतः अभिमतः प्रच्छन्नः भिनत्ति आकर्ण्य [illegible] मंत्रं [illegible] मंत्रभेदं कृतवान्। तथा च श्रूयते —

श्रूयते किल रजन्यां वटवृक्षे प्रच्छन्नो वररुचिरप्रशिखेति पिशाचेभ्यो वृत्तान्तमुपश्रुत्य चतुरक्षरार्थैः पादैः श्लोकं चकारेति।

टीका—यन्मंत्रभेदाद्यादृग्व्यसनं जायते तद्दुष्प्रतिविधेयं दुःखेन तस्य प्रतिविधानं नाशः क्रियते [अ] प्रतिविधानं तस्य व्यसनस्य कष्टेनापि न याति तस्मान्मंत्रभेदो रक्षितव्यः । तथा च गर्गः—

मंत्रभेदाच्च भूपस्य व्यसनं संप्रजायते ।
तत्कृच्छ्रात्प्रशममभ्येति कृच्छ्रेणाप्यथवा न वा ॥ १ ॥

अथ मंत्रभेदस्य यानि कारणानि भवन्ति तान्याह—

इङ्गितमाकारो मदः प्रमादो निद्रा च मंत्रभेदकारणानि ॥३५॥

इङ्गितमन्यथावृत्तिः ॥ ३६ ॥

कोपप्रसादजनिता शारीरी विकृतिराकारः ॥ ३७ ॥

पानस्त्रीसंगादिजनितो हर्षो मदः ॥ ३८ ॥

प्रमादो गोत्रस्खलनादिहेतुः ॥ ३९ ॥

अन्यथा चिकीर्षतोऽन्यथावृत्तिर्वा प्रमादः ॥ ४० ॥

निद्रान्तरितः ॥ ४१ ॥

टीका—एतानि पंच मंत्रभेदस्य निमित्तान्युच्यन्ते । प्रथममिङ्गितं तावत्, मंत्रे मंत्रिते इंगितं चेष्टितं पश्यति राज्ञस्तेन गुप्तचरा मंत्रमर्थं जानन्तीति । तथाऽऽकारः शरीरस्य रौद्रत्वेन सौम्यत्वेन वा, तेन मंत्रमध्य जानन्तीति । तथा मदेन, यतो मदेन दर्पेण हृदयस्थमुद्गिरति । तथा प्रमादेन स्खलनेन, (गोत्रस्खलनेन) यन्मंत्रमन्यः शृणोति । तथा निद्रायमाणो निद्रान्तरित पुमान् हृदयस्थमुद्गिरति । तथा च वशिष्ठः—

मंत्रविद्भिर्महीपेन कर्तव्यं सुगुप्तचेष्टितम् ।
आकारश्च शुभः कार्यस्त्याज्या निद्रामदालसाः ॥ १ ॥

१ बुद्धिलक्षणेनावयाति ।

आचार्येर्णेगितादीनां विशेषेण "इङ्गितमन्यथावृत्तिः" इत्यादिभिः सूत्रैर्लक्षणं प्रोक्तं तद्गतार्थत्वान्नोच्यते।

अथ मंत्रे मंत्रिते नृपेण यत्कर्तव्यं तदाह—

उद्धृतमंत्रो न दीर्घसूत्रः स्यात् ॥ ४२ ॥

टीका—यदोद्धृतः कृतो मंत्रस्तदर्थे न दीर्घसूत्रः स्यात् न विलम्बः कार्यस्तत्क्षणादेवानुष्ठीयत इति। तथा च शुक्रः—

यो मंत्रं मंत्रयित्वा तु नानुष्ठानं करोति च।
तत्क्षणात्तस्य मंत्रस्य जायते नात्र संशयः ॥ १ ॥

अथ मंत्रे कृते तत्क्षणान्नानुष्ठिते यद्भवति तदाह—

अननुष्ठाने छात्रवत्किं मंत्रेण ॥ ४३ ॥

टीका—यथा छात्रः शिष्य उपाध्यायसकाशान्मंत्रं गृहीत्वा तदर्हमनुष्ठानं जपादिकं न करोति किं तस्यापि तेन मंत्रेण व्यर्थेनेति। तथा च शुक्रः—

यो मंत्रं मंत्रयित्वा तु नानुष्ठानं करोति च।
स तस्य व्यर्थतां याति च्छात्रस्येव प्रमादिनः ॥ १ ॥

अथ मंत्रस्याननुष्ठितस्य दृष्टान्तमाह—

न ह्यौषधिपरिज्ञानादेव व्याधिप्रशमः ॥ ४४ ॥

टीका—न मंत्रेण मंत्रितेनानुष्ठानरहितेन कार्यसिद्धिर्भवति यथा व्याधिग्रस्तस्य भेषजपरिज्ञानेन केवलेन न सिद्धिर्भवति भक्षणं विना तथा मंत्रेणाप्यनुष्ठानवर्जितेन। तथा च नारदः—

विज्ञाते भेषजे यद्वत् विना भक्षं न नश्यति।
व्याधिस्तथा च मंत्रेऽपि न सिद्धिः कृत्यवर्जिते ॥ १ ॥

अन्यो द्वितीयः प्राणिना यः शत्रुस्तमाह—

नास्त्यविवेकात्परः प्राणिनां शत्रुः ॥ ४५ ॥

टीका—अविवेकादन्यव्यवहाराद् द्वितीयो मनुष्याणां शत्रुर्नास्ति स एव यतः शत्रुवधबन्धार्थं करोति । तथा च गुरुः—

> अविवेकः शरीरस्थो मनुष्याणां महारिपुः ।
> यथानुष्ठानमात्रोऽपि करोति वधबन्धनम् ॥ १ ॥

अथात्मसाध्यमन्यसकाशात्साधयितुर्यद्भवति तदाह—

आत्मसाध्यमन्येन कारयन्नौषधमूल्यादिव व्याधिं चिकित्सति ॥ ४६ ॥

टीका—यो मूर्खं आत्मसाध्ये प्रयोजने अन्यस्य पार्श्वात् कारयेत् । स किं करोति ? भेषजमूल्येन व्याधिचिकित्सां करोति वैद्यकं ? औषधस्य यत्किंचिन्मूल्यं भवति तेनान्यद्गृहीत्वा भक्षयति । समर्थं ? यदि तेन तस्य व्याधिक्षयो भवति तदन्यस्यापि पार्श्वात्कारिते प्रयोजने सिद्धिर्भवति तस्मादात्मसाध्यमात्मनैव क्रियते नान्यस्य पार्श्वात्कारापणीयमिति । तथा च भृगुः—

> आत्मसाध्यं तु यत्कार्यं योऽन्यपार्श्वात्तु मन्दधीः ।
> कारापयति स व्याधिं नयेद्भेषजमूल्यतः ॥ १ ॥

अथ भृत्यस्वामिनोर्यद्भवति तदाह—

यो यत्प्रतिबद्धः स तेन सहोदयव्ययी ॥ ४७ ॥

टीका—यो यस्मिन् स्वामिनि भृत्य प्रतिबद्ध स्वामिनोऽभ्युदयेन तस्याभ्युदयः, व्ययेन नाशो विनाश इति । तथा च भागुरिः—

> स्वस्वामिसमो राजा भृत्यः पद्माकरोपम ।
> तद्वृद्धया वृद्धिमभ्येति तद्विनाशे विनश्यति ॥ १ ॥

अथ स्वाम्यधिष्ठितस्य यद्भवति तदाह

स्वामिनाधिष्ठितो मेषोऽपि सिंहायते ॥ ४८ ॥

टीका—स्वामिनाधिष्ठितः कातरोऽपि [illegible] नाशयते । तथा च रैभ्यः—

स मंत्री शत्रुर्यो नृपेच्छयाकार्यमपि कार्यरूपतयानुशास्ति ॥ ५२ ॥

टीका—स मंत्री न भवति स शत्रुः सचिवरूपेण । यः किं कुर्यात् ? यो नृपेच्छया स्वच्छंदेनाकार्यमप्यकृत्यमपि कार्यतया कृत्यरूपया अनुशास्ति तत्तस्य कथयति । तथा च भागुरिः—

> अकृत्यं (कृत्य) रूपं च कार्यं चाकृत्यसंशितां ।
> निवेदयति भूपस्य स वैरी मंत्रिरूपधृक् ॥ १ ॥

अथ भूपस्य कृत्याकृत्यनिवेदने यथा मंत्रिणा भाव्यं तदाह—

वरं स्वामिनो दुःखं न पुनरकार्योपदेशेन तद्विनाशः ॥५३॥

टीका—मंत्रिणा नृपस्य वरं कठोरवचनैर्दुःखमुत्पादितं यत्परिणामे सुखावहं न पुनः कर्णाल्हादकरं परिणामविनाशकारि वक्तव्यं । तथा च नारदः—

> वरं पीडाकरं वाक्यं परिणामसुखावहं ।
> मंत्रिणा भूमिपालस्य न मृष्टं यद्भयानकम् ॥ १ ॥

अथ बलात्कारेणापि नृपस्य यत्क्रियते तदाह दृष्टान्तद्वारेण—

पीयूषमपिबतो बालस्य किं न क्रियते कपोलहननं ॥ ५४ ॥

टीका—पीयूषं स्तनदुग्धं यो न पिबति तस्य किं जननी न कुरुते कपोलहननं तद्धिताय । एवं मंत्रिणापि नृपनिहिताय कठोरमपि वाच्यम् । तथा च गर्ग —

> जननी बालकं यद्वत्बलात् स्तन्यं प्रपाययेत् ।
> तथमुन्मार्गगो राजा धार्यते मंत्रिणा पथि ॥ १ ॥

अथ मंत्रिभिर्यत्कर्तव्यं तदाह —

मंत्रिणो राजद्वितीयहृदयत्वान्न केनचित्सह संसर्गं कुर्युः ॥५५॥

टीका—न कस्यचित्तैर्मिलनीयं । तथा च शुक्रः—

मंत्रिणः पार्थिवेन्द्राणां विशिष्टं हृदयं ततः ।
ततोऽन्येन न संसर्गः कार्यो नृपगुह्यके ॥ १ ॥

तथा राज्ञो मंत्रिणा सह यद्भवति तदाह—

राज्ञोऽनुग्रहविग्रहावेव मंत्रिणामनुग्रहविग्रहौ ॥ ५६ ॥

टीका—यो राज्ञोऽनुग्रहः समृद्धिभावः स मंत्रिणामप्यनुग्रहः समृद्धिलक्षणः । यश्च पुना राज्ञो विग्रहो व्यसनं तन्मंत्रिणामपि । तथा च हारीतः—

राज्ञः पुष्ट्या भवेत्पुष्टिः सचिवानां महत्तरा ।
व्यसनं व्यसनेनापि तेन तस्य हिताश्च ये ॥ १ ॥

अथ मंत्रिणा नृपकार्योद्यतानां यत्कार्यं न सिद्ध्यति तदर्थमाह—

स दैवस्यापराधो न मंत्रिणां यत्सुघटितमपि कार्यं न घटते ॥ ५७ ॥

टीका—पूर्वोक्तसूत्रार्थेन मंत्रिणः सदैव नृपकृत्ये सावधाना भवन्ति यत्सावधानानामपि तेषां न सिद्ध्यति स दैवस्य प्राक्तनकर्मणो दोषः, न तेषां, ते पुनः सावधाना नृपकृत्येषु । तथा च भार्गवः—

मंत्रिणां सावधानानां यत्कार्यं न प्रसिद्ध्यति ।
तत्स दैवस्य दोषः स्यान्न तेषां सुहितैषिणाम् ॥ १ ॥

अथ राज्ञः स्वरूपमाह—

स खलु नो राजा यो मंत्रिणोऽतिक्रम्य वर्तेत ॥ ५८ ॥

टीका—यो राजा मंत्रिभिरुक्तानि वचनानि न करोति तान्यतिक्रामति स खलु निश्चयेन राजा न भवति नश्यतीत्यर्थः । तथा च भारद्वाजः—

यो राजा मंत्रिणा वाक्य न करोति हितैषिणां ।
न स तिष्ठेचिरं राज्ये पितृपैतामहेऽपि च ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि मंत्र माहात्म्यमाह—

गुरुदेवपिताम्बंधानां ... कार्यसिद्धिर्यदि स्वामिनो न [illegible] स्यात् ॥ ५९ ॥

टीका—यदि [illegible] [illegible] न [illegible] [illegible] स्यात् । [illegible] [illegible] [illegible] । तथ [illegible] —

[illegible] [illegible] [illegible] ।
यदि [illegible] [illegible] पार्थिवः ॥ १ ॥

अथ [illegible] [illegible] —

अविप्रमत्तो राज्ये [illegible] ॥ ६० ॥

टीका—यथा [illegible] [illegible] । तथा च [illegible] —

[illegible] राजा [illegible] ।
न [illegible] [illegible] यथा ॥ १ ॥

अतः [illegible] —

निर्विघ्न[illegible]मर्थमुपलभ्यते ॥ ६१ ॥

टीका—[illegible] [illegible] । तथा च [illegible] —

[illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥ १ ॥

[illegible] —

हिताहितप्राप्तिपरिहारौ पुरुषकारायत्तौ ॥ ६२ ॥

[illegible] परिहारस्यापि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । तथा च [illegible] —

टीका—किं बहुना राज्ञा यद्बहुगुणं कार्यं भवति तत्कार्यं । पुनरपि विशिनष्टि । अल्पायबहुलं अल्पायो विनाशः न अल्पायबहुलं अल्पायबहुलं बहुलाभयुक्तमित्यर्थः । तथा च जैमिनिः—

यद्बहुगुणमर्थं कार्यं तत्कार्यं महीभुजा ।
अल्पायासो भवेद्यत्र तत्कार्यं विपुलमिच्छता ॥ १ ॥

अथ राज्ञा कार्यं तदाह—

तदेव भुज्यते यदेव परिणमति ॥ ७६ ॥

टीका—सुगमार्थमेतत् ।

अथ यादृक् मन्त्रिणो दोषो न स्यात् तमाह—

यथोक्तगुणसमवायिन्येकस्मिन् युगले वा मन्त्रिणि न कोऽपि दोषः ॥ ७७ ॥

टीका—यद्यपि प्रागेको मन्त्री निषिद्धो द्वावपि निषिद्धौ तथापि यद्येकस्मिन् युगले वा यथोक्तगुणसमवायिनि, कोऽर्थः ? गुणे तत्र कोऽपि दोषः कार्ये इति ।

अथ बहूनां मन्त्रिणां मूर्खाणां निषेधे दृष्टान्तमाह—

न हि महानप्यन्धसमुदायो रूपमुपलभेत ॥ ७८ ॥

टीका—हि यस्मात्कारणात् महानपि प्रौढोऽपि अन्धसमुदायो मिलितो न रूपमुपलभेत जानातीति ।

अथ मन्त्रियुगलस्य दोषपरिहारार्थं दृष्टान्तमाह—

अवार्यवीर्यौ धुर्यौ किम्न महति भारे नियुज्येते ॥ ७९ ॥

टीका—अवार्यं असाध्य वीर्यं बलं ययोस्तौ अवार्यवीर्यौ तौ द्वावपि किं न नियुज्येते । कस्मिन् महति भारे । एवं मन्त्रिणौ द्वावपि यथोक्तगुणसमवायिनौ द्वावपि मन्त्रयितव्याविति ।

अथ बहुसहायं राज्ञि यद्भवति तदाह—

बहुसहाये राज्ञि प्रसीदन्ति सर्वे एव मनोरथाः ॥ ८० ॥

टीका—यो बहुसहायो राजा भवति तस्य सर्वे मनोरथा हृदयस्थिता अभीष्टाः पदार्थाः प्रसीदन्ति सिद्धिं यान्ति । तथा च वर्गः—

मदहीनो यथा नागो दंष्ट्राहीनो यथोरगः ।
असहायस्तथा राजा तत्कार्यो यदयश्च ते ॥ १ ॥

यथैकस्य मंत्रिणो यद्भवति तदाह—

एको हि पुरुषो केषु नाम कार्येष्वात्मानं विभजते ॥ ८१ ॥

टीका—हि यस्मात्कारणादेको नामाहो केषु कार्येषु आत्मानं विभजते आत्मानं नियोजयति यतो भूपतीनां बहूनि कार्याणि भवन्ति तस्माद्राज्ञा बहवो मंत्रिणः कार्याः । तथा च जैमिनिः—

एकं यः कुरुते राजा मंत्रिणं मन्दबुद्धिमान् ।
तस्य भूरीणि कार्याणि सीदन्ति च तदाश्रयात् ॥ १ ॥

अथैकमात्यस्य राज्ञो दृष्टान्तमाह—

किमेकशाखस्य शाखिनो महती भवति च्छाया ॥८२॥

टीका—महावृक्षोऽपि यद्येकशाखो भवति तत् किं तस्य च्छाया महती भवति, अपि तु न भवतीत्यर्थः । एवं मंत्रिणाप्येकेन कार्यं न सिद्ध्यतीत्यर्थः । तथा चात्रिः—

यथैकशाखवृक्षस्य नैव च्छाया प्रजायते ।
तथैकमंत्रिणो राज्ञः सिद्धिः कृत्येषु नो भवेत् ॥ १ ॥

अथ कार्ये समुत्पन्ने सहायसमुदायो यादृग्भवति तदाह—

कार्यकाले दुर्लभः पुरुषसमुदायः ॥ ८३ ॥

टीका—कार्यकाले आपत्काले दुर्लभः पुरुषसमुदायस्तस्मात्पूर्वमेव सहायाः कर्तव्याः । उक्तं च—

---

१ एकमंत्र पाठेन मन्त्री ।

अग्रे अग्रे प्रकर्तव्याः सहायाः सुविवेकिभिः ।
आपन्नाशाय ते यस्माद्दुर्लभा व्यसने स्थिते ॥ १ ॥

अथानागतैर्न कृतैः सहायैर्यद्भवति तदाह—

दीप्ते गृहे कीदृशं कूपखननम् ॥ ८४ ॥

टीका—यदा गृहं प्रदीप्तं भवति तदा तोयार्थं कूपखननं न युक्तं किं तत्काले कूपो भवति । एवं य सहायान् पूर्वं न करोति तस्यापत्काले न भवन्ति तस्मात्सहायाः पूर्वमेव कार्याः । तथा च चाणिक्यः—

विपदानां प्रतीकारं पूर्वमेव प्रचिन्तयेत् ।
न कूपखननं युक्तं प्रदीप्ते सहसा गृहे ॥ १ ॥

अथ पुरुषधनाभ्यां विशेषमाह—

न धनं पुरुषसंग्रहाद्बहु मन्तव्यं ॥ ८५ ॥

टीका—न बहु मन्तव्यं नोत्कृष्टं ज्ञेयं । किं तत् ? धनं । कस्मात् ? पुरुषसंग्रहसकाशात् । तस्माद्धनार्थिभि पुरुषसंग्रहो भूपैः कार्यः । तथा च शुक्रः—

न यादृं पुरुषेन्द्राणां धनं भूपस्य जायते ।
तस्माद्धनार्थिना कार्यः सर्वदा वीरसंग्रहः ॥ १ ॥

अथ सत्पुरुषे दत्ते धने यद्भवति तदाह—

सत्क्षेत्रे बीजमिव पुरुषेषूप्तं कार्यं शतशः फलति ॥ ८६ ॥

टीका—अनेकधा फलं प्रयच्छति । किं तत् ? कार्यं प्रयोजनं । किंविशिष्टं ? उप्तं क्षिप्तं । केषु ? सत्पुरुषेषु । किमिव ? बीजमिव । किंविशिष्टं ? उप्तं । क्व ? सत्क्षेत्रे उत्तमभूभागे यथा सस्यपया हीनमत्र भवति एवं प्रयोजनं धनलक्षणं तथा फलति । तथा च जैमिनि —

सत्पात्रे योजितं कार्यं धनं च शतधा भवेत् ।
[illegible] ॥ १ ॥

बुद्धावर्थे युद्धे च ये सहायास्ते कार्यपुरुषाः ॥ ८७ ॥

टीका—ये बुद्धौ बुद्धिं प्रयच्छन्ति, तथाऽर्थेऽर्थे कृत्ये जाते धनं प्रयच्छन्ति, तथा युद्धे शत्रुभिः सजाते सहायत्वं कुर्वन्ति ते कार्यपुरुषा उच्यन्ते। तथा च शौनकः—

मोहे यच्छन्ति ये बुद्धिमर्थे कृच्छ्रे तथा धनं।
वैरिसंघे सहायत्वं ते कार्यपुरुषा मताः ॥ १ ॥

अथ यस्मिन् काले यः सहायो भवति तदर्थमाह—

खादनवारायां को नाम न सहायः ॥ ८८ ॥

टीका—खादनवारायां भोजनसमये को नाम अहो न सहायः। यदा सम्पद्भवति तदा सर्वोऽपि जनः सहायः स्यात्। तथा च वर्गः—

यदा स्यान्मंदिरे लक्ष्मीस्तदान्योऽपि सुहृद्भवेत्।
वित्तक्षये तथा बन्धुस्तत्क्षणाद्दुर्जनायते ॥ १ ॥

अथ यादृक् पुरुषस्य नाधिकारो भवति तमाह—

श्राद्ध इवाश्रोत्रियस्य न मंत्रे मूर्खस्याधिकारोऽस्ति ॥८९ ॥

टीका—(मंत्रे[1] मूर्खस्य मन्त्रिणो नाधिकारोऽस्ति। किमिव ?) श्राद्धे अश्रोत्रियस्येव। एतदुक्तं भवति, यथा सद्नुष्ठानवर्जितस्य ब्राह्मणस्य श्राद्धकर्मणि अनर्हत्वं तथा मंत्रे मूर्खो मंत्री सदोभूता।

अथ मूर्खमन्त्रिणां दोषमाह—

किं नामान्धः पश्येत् ॥ ९० ॥

टीका—नामाहो जनः किमन्धश्चक्षुर्विकलः पश्येत् निरीक्ष्यते, अपि तु न किंचित्। एतदुक्तं भवति, अन्धेन सदृशो मूर्खो भवति तथापि घटपटादीनन्धः पश्यति तन्मूर्खो मंत्री मंत्रं। तथा च शौनकः—

---

१ इदं सूत्र पुस्तकेऽपूर्णं तत्तु मुद्रितपुस्तकात् पूर्णीकृत्य संयोजितं। २ कंसस्थः पाठः पुस्तके न विद्यते परं कल्पितोऽस्ति।

यद्यन्धो वीक्ष्यते किंचिद् घटं वा पटमेव च।
तदा मूर्खोऽपि यो मंत्री मंत्रं पश्येत्स भूभृताम्॥ १॥

अथ मूर्खनृपतेर्मूर्खमंत्रिणो यद्भवति तदाह—

किमन्धेनाकृष्यमाणोऽन्धः समं पन्थानं प्रतिपद्यते ॥ ९१ ॥

टीका—किं प्रतिपद्यते किं पश्यति। कं? पन्थानं मार्गं। किंविशिष्टं? समं गर्तपाषाणादिरहितं। कोऽसावन्धः। किंविशिष्टः? आकृष्यमाणो नीयमानः। केन? अन्धेन। यदि मूर्खो राजा मूर्खेण मन्त्रिणा सह मंत्रं करोति स किं मंत्रसाध्यानि प्रयोजनानि जानातीत्यर्थः। तथा च शुक्रः—

अन्धेनाकृष्यमाणोऽत्र चेदन्धो मार्गवीक्षकः।
भवेत्तन्मूर्खभूपोऽपि मंत्रं वेत्त्यज्ञमंत्रिणः॥ १॥

अथ मूर्खमंत्रिणः सकाशात् कार्यसिद्धिर्यादृक् भवति तदाह—

तदन्धवर्तकीयं काकतालीयं वा यन्मूर्खमंत्रात्कार्यसिद्धिः ॥ ९२ ॥

टीका—मूर्खमंत्राद्यदि तावत्कार्यसिद्धिर्भवति न यदि कथंचित्पुनर्भवति तदन्धवर्तकीयं, कोऽर्थः? वर्तकाशब्देन चटिकाभिधीयते, सा अन्धस्य शिरसि पतति तां सोऽपि भुजाभ्यां गृह्णाति किमेतन्मम शिरसि पतितमिति मत्वा यथा तस्य तस्या ग्रहणमन्धस्यापि तथाचक्षुष्मत, तथा मूर्खमंत्रस्यापि दैवयोगात्कार्यसिद्धि। अथवा काकतालीय यन्मूर्खमंत्रात्कार्यसिद्धि। कोऽर्थः? तालवृक्षस्य तालफलं पतितेन फलं भवति काकस्य सर्वथा पक्षिणा सकाशाद्दर्शीयाविश्वासी भवति स तस्याधो गच्छन् तत्फलेन पतता यदि हन्यते स मूर्खमंत्रात्सिद्धिरिति। तथा च गुरु—

अन्धवर्तकयमेवैतत् काकतालीयमेव च।
[illegible]

अथ मूर्खमंत्रिणोऽपि यन्मंत्रपरिज्ञानं तत्स्वरूपमाह—

स घुणाक्षरन्यायो यन्मूर्खेषु मंत्रपरिज्ञानम् ॥ ९३ ॥

टीका—घुणः कृमिविशेषः स शनैः काष्ठं भक्षयति तेन तस्य भक्ष्यमाणस्य विचित्रा रेखा भवन्ति तासां मध्यात्काचिद्रेखाऽक्षराकारा भवति। एवं मूर्खेषु मंत्रपरिज्ञानं घुणाक्षरन्यायवत् कदाचित्सिद्धिं याति। तथा च गुरुः—

> यन्मूर्खेषु परिज्ञानं जायते मंत्रसम्भवम्।
> स हि घुणाक्षर न्यायो न तज्ज्ञानं प्रकीर्तितं ॥ १ ॥

अथ शास्त्ररहितस्य मनसो यद्भवति तदाह—

अनालोकं लोचनमिवाशास्त्रं मनः कियत्पश्येत् ॥ ९४ ॥

टीका—अशास्त्रं यन्मनो भवति जडात्मकं तन्मनः कियत्पश्यति न [illegible] । [illegible] लोचनमिव नेत्रमिव । [illegible] [illegible] आलोकरहितं यन्नेत्रं यथा न पश्यति तस्माच्छास्त्ररहित [illegible] तथा । तथा च गर्गः—

> आलोकरहितं नेत्रं यथा किंचिन्न पश्यति।
> तथा शास्त्रविहीनं यन्मनो मंत्रं न पश्यति ॥ १ ॥

अथ मंत्रिणामन्येषां वा य सम्पदं जनयति तदाह—

स्वामिप्रसादः सम्पदं जनयति न पुनराभिजात्यं पाण्डित्यं वा ॥ ९५ ॥

टीका—मंत्रिणामन्येषां स्वामिप्रसादः सम्पदं जनयति नाभिजात्यं [illegible] न पाण्डित्यं [illegible] । [illegible] भवति यस्य राजप्रसादः तस्य [illegible] [illegible] करोति [illegible] । [illegible] [illegible] । न कुलीनस्य पण्डितस्य वा कश्चित्पूजां करोति । तथा [illegible] —

कुलीना पण्डिता दुःस्था दृश्यन्ते बहवो जनाः।
मूर्खाः कुलविहीनाश्च धनाढ्या राजवल्लभाः॥ १॥

अथ मूर्खमन्त्रिणः स्वरूपमाह—

हरकण्ठलग्नोऽपि कालकूटः काल एव ॥ ९६ ॥

टीका—यद्यपि महेश्वरस्य कण्ठे श्वेततरे लग्नस्तथापि कालकूटः विषसंज्ञः काल एव कृत(ष्ण)त्वात् पुन शुक्लत्व न जनयति। एवं यद्यपि मूर्खो मंत्री भूपेन गुरुस्थानं निरूपितस्तथापि मूर्ख एव विद्वान्न भवति तस्मान्मूर्खो मंत्री न कार्यः। तथा च सुन्दरसेन —

स्वभावेनोपदेशेन शक्यते कर्तुमन्यथा।
सुतप्तान्यपि तोयानि पुनर्गच्छन्ति शीततां॥ १॥

अथ मूर्खमन्त्रिषु राज्यभारेणार्पितेन यद्भवति तदाह—

स्ववधाय कृत्योत्थापनमिव मूर्खेषु राज्यभारारोपणम्॥९७॥

टीका—यद्रूपेन मूर्खमंत्रिषु राज्यकारभारः समर्प्यते तत्कृत्योत्थापनं कृत्याशब्देनाथर्वणमंत्रैः पावके होमविधानेन कृतेन पुरुषो यो निष्कामति स कर्तुं शत्रुं व्यापादयति यदि वा शत्रुर्बलवान् भवति जपहोमदानैस्तदा सा येनोत्थापिता तमेव विनाशयति तथा तस्याः कृत्यायाः स्ववधायात्मवधायोत्थापनं क्रियते तथा मूर्खमंत्रिषु राज्यभारावरोपणं।

तथा च शुक्र —

मूर्खमंत्रिषु यो भारं राज्योत्थं संप्रयच्छति।
आत्मनाशाय कृत्या स उत्थापयति भूमिप॥ १॥

अथाकार्यवेदिनो भूपस्य यत्स्यात्तदाह —

अकार्यवेदिनः किं बहुना शास्त्रेण ॥ ९८ ॥

टीका—यो राजाकार्यवेदी स्यात न कार्यं वेत्ति तस्य किं प्रभूतेनापि ... तथा च रैभ्य —

न कार्ये यो निजं वेत्ति शास्त्राभ्यासेन तस्य किं।
बहुनापि वृद्धात्येण ? यथा भस्महुतेन च ॥ १ ॥

अथ गुणहीनस्य राज्ञो यद्भवति तदाह —

गुणहीनं धनुः पिंजनादपि कष्टम् ॥ ९९ ॥

टीका—गुणशब्देन ज्याभिधीयते। यस्मिन् धनुषि ज्या न भवति तत्पिंजनादपि व्यर्थं कष्टमिति एवं राजापि यः शारीरिकगुणैर्युक्तो न भवति स कापुरुषवत् कष्टो व्यर्थमित्यर्थः। तथा च जैमिनिः—

गुणहीनश्च यो राजा स व्यर्थश्चापयष्टिवत्।
यथा कापुरुष............राभूमेः परं पदे ॥ १ ॥

अथ मंत्रिणः स्वरूपमाह—

चक्षुष इव मंत्रिणोऽपि यथार्थदर्शनमेवात्मगौरवहेतुः॥१००॥

टीका—मंत्रिणोऽमात्यस्य किं आत्मनो गुरुत्वे हेतुः कारणं यथार्थदर्शनं प्रयोजनविषये यथार्थदर्शनं कार्यसाधिका मंत्रिदृष्टिः तदा नृपपूज्यो भवति। कस्येव गौरवहेतुर्भवति ? लोचनस्येव यथा पुरुषो यथार्थदर्शनं पदार्थस्य। तथा च गुरुः—

सूक्ष्मालोकस्य नेत्रस्य यथा शंसा प्रजायते।
मंत्रिणोऽपि सुमंत्रस्य तथा सा नृपसंभवा ॥ १ ॥

अथ यादृशो मंत्रिणः कार्यस्तानाह—

शस्त्राधिकारिणो न मंत्राधिकारिणः स्युः ॥ १०१ ॥

टीका—न स्युर्न भवेयुः, के ? एते शस्त्राधिकारिणः क्षत्रियाः। किं विशिष्टा न स्युः ? मंत्राधिकारिणो मंत्रस्थानिनो। तथा च जैमिनिः—

मंत्रस्थाने न कर्तव्याः क्षत्रियाः पृथिवीभुजा।
यतस्ते केवलं मंत्रं प्रपद्यन्ति रणोद्भवम् ॥ १ ॥

अथ क्षत्रियो येन कारणेन मंत्री न क्रियते तदाह—

क्षत्रियस्य परिहरतोऽप्यायात्युपरि भंडनं ॥ १०२ ॥

टीका—यः क्षत्रियो भवति तस्य परिहारोऽपि त्यजतोऽपि अवश्यं निश्चितं आपान्यागच्छति, किं तत् भंडनं कलहमिति । एतेन कारणेन क्षत्रिया मंत्रिणो न कार्याः । तथा च गर्गः—

म्रियमाणमपि प्रायः क्षात्रं तेजो विवर्धते ।
युद्धार्थं तेन संत्याज्यः क्षत्रियो मंत्रकर्मणि ॥ १ ॥

अथ शस्त्रोपजीविनां स्वरूपमाह—

शस्त्रोपजीविनां कलहमन्तरेण भक्तमपि भुक्तं न जीर्यति ॥ १०३ ॥

टीका—तस्मात्ते मंत्रिणो न कार्या एतत्तात्पर्यमिति । तथा च भागुरिः—

शस्त्रोपजीविनामन्नमुदरस्थं न जीर्यति ।
यावत्केनापि नो युद्धं साधुनापि समं भवेत् ॥ १ ॥

अथ पुरुषस्य ये पदार्था गर्वं जनयन्ति तानाह—

मंत्राधिकारः स्वामिप्रसादः शस्त्रोपजीवनं चेत्येकैकमपि पुरुषमुत्सेकयति किं पुनर्न समुदायः ॥ १०४ ॥

टीका—मंत्राधिकार स्वामिप्रसाद. शस्त्रजीवने एतेषां त्रयाणां एकोऽपि पदार्थः संजातः पुरुषं उत्सेकयति सगर्वं करोति किं पुनः सर्वेषां समवायो मेलापको नोत्सेकयति । तथा च शुक्रः—

नृपप्रसादो मंत्रित्वं शस्त्रजीव्यं समं त्रियात् ।
एकैकोऽपि नरस्यात्र किं पुनर्यत्र ते त्रयः ॥ १ ॥

अथाधिकारिणः स्वरूपमाह—

नालम्पटोऽधिकारी ॥ १०५ ॥

टीका—योऽलम्पटो भवति निःस्पृहः स्यात् सोऽधिकारं न करोति तथा च वल्लभदेवः—

निःस्पृहो नाधिकारी स्यान्नाकामी मण्डनप्रियः।
नाविदग्धः प्रियं ब्रूयात्स्फुटवक्ता न वंचकः ॥ १ ॥

अथ मंत्रिणि अर्थलुब्धे यद्राज्ञो भवति तदाह—

मंत्रिणोऽर्थग्रहणलालसायां मतौ न राज्ञः कार्यमर्थो वा ॥ १०६ ॥

टीका—मंत्रिणः सचिवस्य यस्यार्थग्रहणलालसा लम्पटा मतिर्भवति तदा तस्य यो राजा तस्य कार्यसिद्धिर्न भवति अर्थो न भवति। तथा च गुरुः—

यस्य संजायते मंत्री वित्तग्रहणलालसः।
तस्य कार्यं न सिध्येत भूमिपस्य कुतो धनं ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि वित्तग्रहणलालसस्य मंत्रिणः स्वरूपं निरूपयन्नाह दृष्टान्तद्वारेण—

वरणार्थं प्रेषित इव यदि कन्यां परिणयति तदा वरयितुस्तप एव शरणम् ॥ १०७ ॥

टीका—यदि कन्यावरणार्थं प्रेषितो दूतः स्वयमेव कन्यां परिणयति तदा परिणयितुर्येन प्रेषितस्तस्य तपश्चरणं शरणं स्थाने यतः कलत्रं विना ततः कार्यं। एवं यदि मंत्री ग्रहणलम्पटो भवति तत्पार्थिवस्यापि तपश्चरणं शरणं यतो वित्तनाशे राज्यं न भवति वित्तं पुनर्मंत्रीद्वारेण स्यात्। तथा च शुक्रः—

निरुणद्धि सतां मार्गं स्वयमाश्रित्य शंकितः।
द्वाराकारः सचिवो यस्य तस्य राज्यस्थितिः कुतः ॥ १ ॥

पुनरपि मन्त्रिस्वरूपमन्यदृष्टान्तेनाह—

स्थाल्येव भक्तं चेत्स्वयमश्नाति कुतो भोक्तुर्भुक्तिः ॥१०८॥

टीका—स्थालीशब्देन उखा। उच्यते यदि भक्तमन्नं स्वयं अश्नाति भक्षयति तर्हि कुतो भोक्तुर्जनादिनः पुंसां भुक्तिः भोजनं भवतीत्यर्थः। एवं यो

मैत्री राजद्रव्यग्राहको भवति तस्य स्वामिनः कुतो राज्यवृद्धयानि स्युः। तथा च विदुरः—

> दुग्धमात्रस्य चान्येन पीतं वत्सेन गो यदा।
> तदा तस्याः कुतस्तस्याः स्वामिनस्तुष्टये भवेत् ॥ १ ॥

अथ पुरुषाणां स्वरूपमाह—

तावत्सर्वोऽपि शुचिर्निःस्पृहो यावन्न परवरस्त्रीदर्शनमर्थागमो वा ॥ १०९ ॥

टीका—सर्वोऽपि जनः तावच्छुचिर्निर्लोभो निःस्पृहो यावत्परवरनारीं नावलोकयति, तावच्च निस्पृहो यावत्परवित्तं न पश्यति। तथा च वर्गः—

> तावच्छुचिरलोभः स्यात् यावन्नैवान्यपरस्त्रियं।
> वित्तं च दर्शनाभ्यां द्वितीयं तत्प्रपश्यति ॥ १ ॥

अथादुष्टस्य दूषणेन कृतेन यद्भवति तदाह—

अदुष्टस्य दूषणं सुप्तव्यालप्रबोधनमिव ॥ ११० ॥

टीका—दोषरहितस्य पुरुषस्य यत्पुरुषेण दूषणं दीयते। तत्किमिव? सुप्तव्यालप्रबोधनमिव सुप्तस्य सर्पस्य व्याघ्रस्य वा बोधनं बोधयितुः मरणाय भवति। तथा च गुरुः—

> सुप्तसुप्तमहिं मूर्खो व्याघ्रं वा यः प्रबोधयेत्।
> स साधोर्दूषणं दद्यादिदोषस्यात्ममृत्यवे ॥ १ ॥

अथ वैरं कृत्वा वैरिणा सह सन्धानं करोति तस्य यद्भवति तदाह—

सकृद्विघटितं चेतः स्फटिकवलयमिव कः सन्धातुमीश्वरः ॥ १११ ॥

---

१ अस्मादग्रे " येन सह चित्तविनाशोऽभूत् स सन्निहितो न कर्तव्यः " सूत्रमुपलभ्यतेऽन्यत्र।

टीका— क ईश्वरः कः समर्थो भवति । किं कर्तुं ? सन्धातुं । किं तत् ? चेतः मनः सकृद्विघटित । किमिव ? स्फटिकवलयमिव पाषाणकंकणमिव यथा पाषाणवलयस्य भग्नस्य सन्धिर्न भवति। तथा च जैमिनिः—

पाषाणघटितस्यात्र संधिर्भग्नस्य नो यथा ।
कंकणस्येव चित्तस्य तथा वै दूषितस्य च ॥ १ ॥

अथ चित्तविरागो महान् यथा भवति तदाह—

न महताप्युपकारेण चित्तस्य तथानुरागो यथा विरागो भवत्यल्पेनाप्यपकारेण ॥ ११२ ॥

टीका—चित्तस्य मनसस्तथा महताप्युपकारेण दानादिनानुरागः स्नेहो न भवति यथा स्वल्पेनाप्यपकारेण विरुद्धेन कृतेन विरागः स्नेहनाशो भवति । विरुद्धं स्वल्पमपि कस्यापि (न) चा (च) रणीयं । तथा च बादरायणः—

न तथा जायते स्नेहः प्रभूतैः सुकृतैर्बहुः ।
स्वल्पेनाप्यपकारेण यथा वैरं प्रजायते ॥ १ ॥

सूचीमुखसर्प इव नापकृत्य विरमन्त्यपराधाः ॥ ११३ ॥

टीका—न विरमन्ति न तिष्ठन्ति । के ? अपराधाः। किं कृत्वापकृत्य यावन्न वैरनिर्गमः कृतः । क इव ? सूचीमुखसर्प इव। सूचीमुखा दृष्टिविषाः। तथा च भृगुः—

यो दृष्टिविषः सर्पो दृष्टस्तु विकृतिं भजेत् ।
तथापराधिनः सर्वे न स्युर्विकृतिवर्जिताः ॥ १ ॥

अथातिवृद्धस्य कामस्य स्वरूपमाह—

अतिवृद्धः कामस्तन्नास्ति यन्न करोति ॥ ११४ ॥

टीका—कामः कामदेवः शरीरेऽतिवृद्धिं गतः सन् तन्नास्त्यकृत्यं यन्न करोति—अपि तु सर्वं करोतीत्यर्थः ।

श्रूयते हि किल कामपरवशः प्रजापतिरात्मदुहितरि, हरिर्गोपवधूषु, हरः शान्तनुकलत्रेषु, सुरपतिर्गौतमभार्यायां, चन्द्रश्च बृहस्पतिपत्न्यां मनश्चकारेति ॥ ११५ ॥

टीका—एतत्कामचेष्टितं देवानां पुराणेषु श्रोतव्यमिति ।

अथ पुण्याः साभिलाषा यथा भवन्ति तथाह—

अर्थेषूपभोगरहितास्तरवोऽपि साभिलाषाः किं पुनर्मनुष्याः॥

टीका—अर्थेषु धनेषु साभिलाषाः सानन्दास्तरवोऽपि वृक्षा अपि भवन्ति येषामुपभोगो विलासो न भवति किं पुनर्मनुष्या ये विलासज्ञाः । कथं तरवोऽर्थेषु साभिलाषा भवन्ति, उक्तं च यतो वास्तुशास्त्रे विश्वकर्मणा—

> बिल्वाद्दर्भपलाशाद्वा निधानं चेदधो भवेत् ।
> अधोमुखाः प्ररोहाः स्युर्नाभ्यां गच्छन्ति तत्र यत् ॥ १ ॥

तथा च जैमिनिः—

> अर्थं तेऽपि च वाञ्छन्ति ये वृक्षा आत्मचेतसा ।
> उपभोगैः परित्यक्ताः किं पुनर्मनुष्याश्च ये ॥ १ ॥

तथा लोभस्वरूपमाह—

कस्य न धनलाभाल्लोभः प्रवर्तते ॥ ११७ ॥

टीका—कस्य न धनलाभसकाशाल्लोभो भवति, अपि तु सर्वस्यापि जनस्य भवतीत्यर्थः । तथा च वर्गः—

> तावच्च जायते लोभो यावल्लाभो न विद्यते ।
> मुनिर्यदि धनकणोऽपि दत्तं गृह्णाति नान्यथा ॥ १ ॥

[illegible] —

स खलु प्रत्यक्षं दैवं यस्य परस्वेष्विव परस्त्रीषु निःस्पृहं चेतः ॥ ११८ ॥

कार्यदोषान् विचिन्वन्तो सदा कापुरुषाः स्वयं ।
शुभं भाव्यान्यपि यत्ना न कार्याणि प्रकुर्वते ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि कापुरुषानुद्दिश्य दृष्टान्तद्वयेन सूत्रद्वयमाह—

मृगाः सन्तीति किं कृषिर्न क्रियते ॥ १२२ ॥
अजीर्णभयात् किं भोजनं परित्यज्यते ॥ १२३ ॥

टीका—सुगमार्थमेतत् ।

अथ कार्यारम्भमुद्दिश्य प्रोच्यते—

स खलु कोऽपीहाभूदस्ति भविष्यति वा यस्य कार्यारम्भेषु प्रत्यवाया न भवन्ति ॥ १२४ ॥

टीका—अपि भवन्तीति निश्चयः । तथा च भागुरिः—

यस्योद्यमो भवति तं समुपैति लक्ष्मी-
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः ॥ १ ॥

अथ दुष्टाशयानां कार्यारम्भो यादृग् भवति तदाह—

आत्मसंशयेन कार्यारम्भो व्यालहृदयानाम् ॥ १२५ ॥

टीका—ये व्यालहृदया भवन्ति व्यालौ श्वापदभुजंगौ । तौ स्वभावेन दुष्टौ भवतस्ताभ्यां सदृशं हृदयं यस्य सः । आत्मसन्देहेन कार्यारम्भो भवति । एवमुक्तं, सर्वे श्वापदाः क्षुधार्ता भयं त्यक्त्वा सुरक्षितमपि पदार्थं भक्षयन्ति तत्र कदाचिद्वधमाप्नुयुः । एवमन्येऽपि ये दुष्टहृदया भवन्ति तानि कानिचिद्दुष्कर्माणि भवन्ति ये (षां) व्यालानामिवात्मसन्देहो भवति । तथा च शुक्रः—

१ कालहृदयानामिति मुद्रितपुस्तके पाठान्तरम् । व्यालानामिति मूलपाठः टीकानुसारेण परिवर्तितः ।

मयूरः सर्पान् सदर्पानपि, मधुरस्वरात्रानयति तथा राजापि मधुरः सदर्पानपि शत्रूनानयति । तथा च शुक्रः—

यो राजा मृदुवाक्यः स्यात्सदर्पानपि विद्विषः ।
स निहन्ति न सन्देहो मयूरो भुजगानिव ॥ १ ॥

अथ महानुभावा यथा स्वहृदयं न प्रकटयन्ति तथाह—

नाविज्ञाय परेषामर्थमनर्थं वा स्वहृदयं प्रकाशयन्ति महानुभावाः ॥ १२९ ॥

टीका—ये महानुभावा उत्तम पुरुषा भवन्ति ते न प्रकाशयन्ति । किं तत् ? आत्मीयहृदयं । किं कृत्वा ? अविज्ञाय अज्ञात्वा । कं ? अर्थं प्रयोजनं अनर्थं वा । केषां ? परेषामन्यलोकानां । तथा च भृगुः—

अज्ञात्वा परकार्यं च शुभं वा यदि वाशुभं ।
अन्येषां न प्रकाशेयुः सन्तो नैवं निजाशयं ॥ १ ॥

अथ महापुरुषाणामालापो यादृग्भवति तादृगाह—

क्षीरवृक्षवत् फलसम्पादनमेव महतामालापः ॥ १३० ॥

टीका—महतां महापुरुषाणां योऽसौ आलापः स फलसम्पादनं करोति । क इव ? क्षीरवृक्ष इव । यथा क्षीरवृक्षः फलसम्पादनं करोति तथा महापुरुषाणामालापा एव । तथा च वर्गः—

आलापः साधुलोकानां फलदः स्यादसंशयम् ।
अचिरेणैव कालेन क्षीरवृक्षो यथा तथा ॥ १ ॥

अथ नीचप्रकृतेः स्वरूपमाह—

दुरारोहपादप इव दण्डाभियोगेन फलप्रदो भवति नीचप्रकृतिः ॥ १३१ ॥

टीका—नीचा निकृष्टा प्रकृतिः स्वभावो यस्यासौ नीचप्रकृतिः स फलप्रदो भवति दण्डाभियोगेन लगुडप्रहारेण । क इव ? दुरारोह-

---

१ एवं इति सुभाति एकवकारस्यानर्थक्यात् अन्यथा अर्थविरोधः स्यात् ।

वृथालापैर्न भाव्यं न (च) भूमिपालैः कदाचन ।
यथा शरद्घना कुर्युस्तोयवृष्टिविवर्जिताः ॥ १ ॥

अथ सुन्दरासुन्दरं यद्वस्तु भवति तदाह—

न स्वभावेन किमपि वस्तु सुन्दरमसुन्दरं वा यस्य यदेव प्रतिभाति तस्य तदेव सुन्दरम् ॥ १३५ ॥

टीका—अस्मिन् किमपि वस्तु स्वभावेन सुन्दरमुत्तमं नास्ति असुन्दरं निकृष्टं वा नास्ति किन्तु यदेव प्रतिभाति तदेव तस्य सुन्दरं तन्निकृष्टमपि, यत्र मनसः प्रतिभाति तत्सुन्दरमपि निकृष्टं । तथा च जैमिनिः—

सुन्दरासुन्दरं लोके न किंचिदपि विद्यते ।
निकृष्टमपि तच्छ्रेष्ठं मनसः प्रतिभाति यत् ॥ १ ॥

अथोक्तसूत्रापेक्षया दृष्टान्तमाह—

न तथा कर्पूरेण प्रीतिः केतकीनां यथामेध्येन ॥ १३६ ॥

टीका—केतकीना पुष्पजातिविशेषाणां तथा प्रीतिर्वृद्धिर्न भवति यथा अमेध्येन दोहदेन दत्तेन । गतार्थमेतत् ।

अथातिक्रोधनस्य यद्भवति तदाह—

अतिक्रोधनस्य प्रभुत्वमग्नौ पतितं लवणमिव शतधा विशीर्यते । १३७ ॥

टीका—अतिक्रोधनस्य पुरुषस्य प्रभुत्वं ऐश्वर्यं, किंविशिष्टं भवति ? शीर्यते विनाशं याति । कथं ? शतधा अनेकधा । किमिव ? लवणमिव । किंविशिष्टं ? पतितं अग्नौ वैश्वानरे । यथा वैश्वानरे पतितं लवणं शतधा विनाशमुपयाति । तथा चर्षिपुत्रकः —

अतिक्रोधो महीपाल. प्रभुत्वस्य विनाशकः ।
लवणस्य यथा वह्निर्मध्ये निपतितस्य च ॥ १ ॥

तस्मान्महीश्वरेणातिक्रोधो न कार्य ।

अथ सर्वान् गुणान् यथा पुरुषो निहन्ति तदाह—

सानन्दः पादाग्रेण भूमिमखनत् । अथ तस्य खनतः केनापि प्राक् तत्स्थाने स्थापितः खड्गः प्रकटीभूतः स तेन पथिकेन शस्त्ररहितेन तमेव खड्गमादाय छागो व्यापादितो भक्षितश्चैतदजाकृपाणीयं । अन्योऽपि यो लौल्यात् शत्रोर्विश्वासं गच्छति स केनाप्युपायेन तेन हन्यते तस्माद्विश्वासः शत्रोर्न कार्यः । तथा च चाणिक्यः —

> न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्तेऽपि न विश्वसेत् ।
> विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलादपि निकृन्तति ॥ १ ॥

अथ क्षणिकचित्तस्य यद्भवति तदाह—

क्षणिकचित्तः किंचिदपि न साधयति ॥ १४१ ॥

टीका—क्षणिकं चित्तं यस्यासौ क्षणिकचित्तः सदैव चलित इत्यर्थः । स पुरुषः किंचिदपि स्तोकमपि प्रयोजनं न साधयति । तस्य किंचित्प्रयोजनं सिद्धिं न गच्छतीत्यर्थः । तथा च हारीतः—

> चलचित्तस्य नो किंचित् कार्यं किंचित्प्रसिद्ध्यति ।
> सुसूक्ष्ममपि तत्तस्मात्स्थिरं कार्यं यशोऽर्थिभिः ॥ १ ॥

अथ स्वतंत्रस्य राज्ञो यद्भवति तदाह—

स्वतंत्रः सहसाकारित्वात् सर्वं विनाशयति ॥ १४२ ॥

टीका—यो राजा स्वतंत्रः केवलः भवति सचिवान् न करोति स सहसाकारित्वादात्माहं कृत्वा कुर्वाणोऽनर्थानि, सर्वं राज्यं विनाशयति । तस्माद्राज्ञा स्वतन्त्रेण न भाव्यम् । तथा च नारदः —

> यः स्वतन्त्रो भवेद्राजा सचिवांश्च न पृच्छति ।
> स्वयं कृत्यानि कुर्वाणः स राज्यं नाशयेद्ध्रुवम् ॥ १ ॥

अथालस्यसमेतस्य यद्भवति तदाह—

अलसः सर्वकर्मणामनधिकारी ॥ १४३ ॥

टीका—यः पुरुषः [illegible] भवति स नीतु [illegible] दीयो इति [illegible]
तथा च [illegible]—

[illegible] योऽत्र [illegible]।
[illegible] न [illegible] ॥ १ ॥

अथ [illegible]—

प्रमादवान् [illegible] ॥ १४४ ॥

टीका—[illegible] भवति [illegible]
[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥ १ ॥

[illegible]

[illegible] न कुर्यात् ॥ १४५ ॥

टीका—[illegible]
[illegible]—

[illegible] ।
[illegible] ॥ १ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ १४६ ॥

[illegible]

टीका—अथ प्रत्यवायशब्देन गुह्यमुच्यते तद्गुह्यं प्राणादपि जीवितव्यादपि रक्षणीयं यतः सूक्ष्ममपि छिद्रं विज्ञाय शत्रवः प्रविशन्ति तस्मात्तद्रक्षणीयं। तथा च भागुरिः—

आत्मच्छिद्रं प्ररक्षेत जीवादपि महीपतिः।
यतस्तेन प्रलब्धेन प्रविश्य घ्नन्ति शत्रवः ॥ १ ॥

आत्मशक्तिमजानतो विग्रहः क्षयकाले कीटिकानां पक्षोत्थानमिव ॥ १४७ ॥

टीका—आत्मशक्तिं अजानन् यो विग्रहं करोति स आत्मक्षयं करोति। किमिव ? कीटिकानां पक्षोत्थानमिव। कस्मिन् ? क्षयकाले विनाशकाले। यथा कीटिकानां क्षयो भवति तथा पक्षोत्थानं सम्भवति। पार्थिवस्यापि क्षयकालो यदा भवति तदा बलवता सह विग्रहं करोति। तथा च गुरुः—

अचलं प्रोन्नतं योऽत्र रिपुं याति यथाचलम्।
दर्शितदन्तो निवर्तेत स यथा मत्तवारणः ॥ १ ॥

अथापद्ग्रस्तेन भूभुजा यत्कर्तव्यं तदाह—

कालमलभमानोऽपकर्तरि साधु वर्तेत ॥ १४८ ॥

टीका—कालं राज्यसमयलक्षणं कर्तुमलभमानोऽपकर्तरि शत्रौ साधु वर्तेत छन्दानुवृत्तिं कुर्यादिति। यदा शत्रुर्मम सकाशात् बलवान् भवति तदा तस्योपचारः कार्यः। तथा च भागुरिः—

बलयन्तं रिपुं दृष्ट्वा तस्य छन्दोऽनुवर्तयेत्।
पश्चात्तस्य पुनस्तं च भिन्द्यात् कुम्भमिवाश्मना ॥ १ ॥

अथ शत्रोरुपचारविषये दृष्टान्तमाह—

किन्नु खलु लोको न वहति मूर्ध्ना दग्धुमिन्धनं ॥ १४९ ॥

टीका—किन्नु खलु [illegible] यदुपचारं [illegible] दग्धुं [illegible] इन्धनं [illegible] वहति। किन्तु अहो जनाः [illegible] निधनं न वह

उपायान्) जानाति तस्य शत्रुविनाशं कुर्वतो नाल्पं न स्तोकं, न महद्वा प्रभूतं वा, सर्वमपि उपायी (उपायेन) व्यापादयति। तथा च गुरुः—

> यथोपायान् विजानाति शत्रूणां पृथिवीपतिः।
> तस्याग्रे च महान् शत्रुस्तिष्ठते न कुतो लघु ॥ १ ॥

अथ यथोपायज्ञस्य नृपतेर्दृष्टान्तमाह—

नदीपूरः सममेवोन्मूलयति तीरजतृणांह्रिमान् ॥ १५३ ॥

टीका—नदीवेग समागमपत सम एककालमुन्मूलयति नाशयति। कान्? तीरजतृणांह्रिमान्। एवं राजापि बहूपायेन शत्रून् लघून् गुरूनपि नाशयति। तथा च गुरुः—

> पार्थिवो मृदुवाक्यैर्यः शत्रूनाल्पयेत्सुधीः।
> नाशं नयेच्छनैस्तांश्च तीरजान् सिन्धुपूरवत् ॥ १ ॥

अन्यदपि भूभुजा यत्कर्तव्यं तदाह—

युक्तमुक्तं वचो बालादपि गृह्णीयात् ॥ १५४ ॥

टीका—ग्राह्य, किं तत्? युक्तं उक्तं न्यायगर्भं वचः। कस्मात्? बालादपि शिशोरपि। एतदुक्तं भवति, बालोऽपि यदि युक्तं व्याहरति तद्ग्राह्यं न च बालप्रलपितमिति मत्वा त्याज्यं। तथा च विदुरः—

> लघुं मत्वा प्रलापं न बालस्यापि विशेषतः।
> यत्सारं भवति तद्धास्य शिलायां शिलं यथा ॥ १ ॥

अथैतदपि प्रलपितं ग्राह्यमिति दृष्टान्तमाह —

स्वैरविषये किन्न दीपः प्रकाशयति ॥ १५५ ॥

टीका—रवेरादि यस्याविषये सूर्येऽस्तमिते किं न प्रकाशयति प्रकटीकरोति। कोऽसौ? दीपः ज्योतिष्कः। अनेन न्यायेन बालेनापि युक्तमुक्तं गृह्णीयात्। तथा च वल्लभदेवः—

> तेजसा सम्प्रयुक्तस्याल्पेनार्थो नापि सिद्ध्यति।
> कार्यं सूर्ये प्रणष्टे तु ज्योतिष्केन यथा निशि ॥ १ ॥

अथाश्रोतुः पुरतो वदन् यथा पुरुषो जनैर्मन्यते तदाह—

स खलु पिशाचकी वातकी वा यः परेऽनर्थिनि वाचमुदीरयति ॥ १५९ ॥

टीका—परे जनेऽनर्थिनि अश्रोतुकामे य उदीरयति वदति । कां ? वाचं वाणीं । स किंविशिष्टो जनैर्मन्यते ? खलु निश्चयेन पिशाचकी संजातभूतग्रहः, वातकी वा सन्निपातयुक्तो वा, तस्मादश्रोतुः पुरतो विदुषा न वक्तव्यं । तथा च भागुरिः—

> अश्रोतुः पुरतो वाक्यं यो वदेदविचक्षणः ।
> अरण्यरुदितं सोऽत्र कुरुते नात्र संशयः ॥ १ ॥

अथ नयहीनस्य या वृद्धिस्तस्याः स्वरूपमाह—

विध्यायतः प्रदीपस्येव नयहीनस्य वृद्धिः ॥ १६० ॥

टीका—नयहीनस्य पुरुषस्य चौर्यादिभिरन्यायैर्या वृद्धिर्भवति । सा किंविशिष्टा ? प्रदीपस्येव । किंविशिष्टस्य ? विध्यायतो विनाशं गच्छतः । यथा दीपस्य विनाशकालेऽधिका वृद्धिर्भवति तथा पुरुषस्यान्यायोपार्जिता समृद्धिः । तथा च नारदः—

> चौर्यादिभिः समृद्धिर्या पुरुषाणां प्रजायते ।
> ज्योतिष्कस्येव सा भूतिर्नाशकाल उपस्थिते ॥ १ ॥

अथ स्वामिपदमभिलषतां भृत्यानां यद्भवति तदाह—

जीवितमरणः स्वामिपदमभिलषतामेव ॥ १६१ ॥

टीका—स्वामिनः पदं स्वामि[illegible] ।
विनाश एव तस्मात्स्वामिन [illegible]

> स्वामिस्थानं च यो मूर्खो वाञ्छति स्वयमुद्धतः ।
> स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥ १ ॥

तासां सकाशात् लोकेन विविधानि तथा तासां विरागकारणं न कार्यं येन विरागो भवतीति । तथा च वसिष्ठः—

हस्ते लोभो विरागश्च प्रकृतीनां न शस्यते ।
यतस्तासां प्रद्वेषेण राज्यवृद्धिः प्रजायते ॥ १ ॥

अथ प्रकृतीनां कोपो बाधां करोति तदाह—

सर्वकोपेभ्यः प्रकृतिकोपो गरीयान् ॥ १६५ ॥

टीका—ये चान्ये कोपाः शत्रुप्रभृतीनां सकाशात् प्रकृतिकोपो गरीयान् महान् (क) ह्यतः । तथा च राजपुत्रः—

यासां छिद्राणि सर्वाणि विदुः प्रकृतयः सदा ।
निवेद्य तानि शत्रुभ्यस्ततो नाशं नयन्ति तम् ॥ १ ॥

अथ ये दोषे कृतेऽप्यपराधेनैव ध्रियन्ते तदाह—

अचिकित्स्यदोषदुष्टान् खनिदुर्गसेतुबन्धाकरकर्मान्तरेषु क्लेशयेत् ॥ १६६ ॥

टीका—येषां दोषा अपराधा अचिकित्स्याः प्रतीकारवर्जितास्तेन (ते.) दोषेण (दोषैः) ये दुष्टा द्रोहिणः, तेषां किं कार्यम्? तान् क्लेशयेत् व्यसनाभिभूतान् कारयेत् । केषु 'खनिदुर्गसेतुबन्धाकरकर्मान्तरेषु' खनिशब्देन तडागादिखननमुच्यते, दुर्गं प्रसिद्धं, सेतुबन्धो नदीपूरबन्धः, आकरो धातूनामुत्पत्तिस्थानं एतेषां यानि कर्माणि तेषां मध्ये नियोजयेत् तत्र स्थिता द्रोहादिकं न कुर्वन्ति । तथा च शुक्रः—

अवध्या ज्ञातयो ये च बहुदोषा भवन्ति च ।
कर्मान्तरेषु नियोज्यास्ते येन स्युर्व्यसनान्विताः ॥ १ ॥

अथ यैः सह गोष्ठीं न कुर्यात्तदाह —

अपराद्धैरपराधकैश्च सह गोष्ठीं न कुर्यात् ॥ १६७ ॥

टीका—ये पुरुषा अपराद्धा भवन्ति ये च अपराधं कारयन्ति तैः सह कदा गोष्ठीं न कुर्यात् । तथा च नारदः —

अप्रतिविधातुरागमनाद्वरमनागमनम् ॥ १७१ ॥

टीका—अप्रतिविधातुरकार्यसाधकस्य पुरुषस्य यद्गृहागमनं तद्वरमनागमनं वरमसमायातः केवलमुपक्षयः स्यात्। तथा च भारद्वाजः—

प्रयोजनार्थमानीतो यः कार्यं तन्न साधयेत्।
आनीतेनापि किं तेन व्यर्थोपक्षयकारिणा ॥ १ ॥

इति मंत्रिसमुद्देशः।

११ पुरोहित-समुद्देशः ।

अथ पुरोहितसमुद्देश, तत्र पुरोहितलक्षणमाह—

पुरोहितमुदितोदितकुलशीलं षडंगवेदे दैवे निमित्ते दंडनीत्यामभिविनीतमापदां दैवीनां मानुषीणां च प्रतिकर्तारं कुर्वीत ॥ १ ॥

टीका—कुशल (?), कस्मिन् ? षडंगे वेदे तथा दैवे ज्योतिःशास्त्रे, निमित्ते उत्पातदर्शने, तथा दण्डनीत्यां च, इत्थंभूतं पुरोहितं कुर्वीत । तथा च शुक्रः —

> दिव्यान्तरिक्षभौमानामुत्पातानां प्रशान्तये ।
> तथा सर्वापदां चैव कार्यो भूपैः पुरोहितः ॥ १ ॥

अथ राज्ञा मन्त्रि-पुरोहिताभ्यां यत्कृत्यं तदाह—

राज्ञो हि मंत्रिपुरोहितौ मातापितरौ, अतस्तौ न केषुचिद्वाञ्छितेषु विस्तरयेत् ॥ २ ॥

टीका—न निरासौ कार्यौ । केषु ? वाञ्छितेषु । किंविशिष्टेषु ? केषुचित् समस्तेष्वपि । हि-यस्मात् तौ मातृपितरौ, अतस्तौ नातिक्रमेत्। तथा च गुरुः —

> समौ मातृपितृभ्यां राज्ञो मंत्रिपुरोहितौ ।
> अतस्तौ वाञ्छितार्थेन कथंचिद्विस्तरयेत् ॥ १ ॥

अथ दैवीनां मानुषीणां चापदां स्वरूपमाह—

अमानुष्योऽग्निरवर्षमतिवर्षं मारकी दुर्भिक्षं सस्योपघातो जंतूत्सर्गो व्याधिभूतपिशाचशाकिनीसर्पव्यालमूषकाश्चेत्यापदः ॥३॥

टीका—अमानुष्योऽग्निर्विद्युत्पातः, अकृत्यतिकृष्टी प्रसिद्धे !, मरकः प्रचुरजनमृत्युः, दुर्भिक्षं, सस्योपघातः शलभादिजन्तूत्सर्गः, मानुषविकृतयः, व्याधिप्राचुर्यं, भूतप्राचुर्यं पिशाचप्राचुर्यं, शाकिनीप्राचुर्ये, व्यालाना नखायुधानां च प्राचुर्यं, मूषिकप्राचुर्यं, एता जनव्यापदा दैविका मानुष्यर्थं ।

अथ कुमारो राज्ञा यथा कार्यस्तथाह—

शिष्टालापक्रियाक्षमो राजपुत्रः सर्वासु लिपिषु प्रसंख्याने पदप्रमाणप्रयोगकर्मणि नीत्यागमेषु रत्नपरीक्षायां सम्भोगप्रहरणोपवाह्यविद्यासु च साधु विनेतव्यः ॥ ४ ॥

टीका—सम्यक् शिक्षापणीय. शिष्टालापक्रियासु जनसभाकर्मसु क्षमः समर्थः पूर्वं कृत्वा ततो राजपुत्र. पश्चात्सर्वासु लिपिषु शिक्षापणीयः तथा प्रसंख्याने गणितविषये, तथा पदप्रमाणप्रयोगकर्मणि पदकर्म साहित्यं, प्रमाणकर्म तर्कः प्रोच्यते, प्रयोगकर्म शब्दव्युत्पत्ति कथ्यते, तथा नीत्यागमेषु नीतिशास्त्रेषु, तथा संभोगे वात्स्यायनादिषु, प्रहरणे शस्त्रविद्यायां, उपवाह्ये हस्त्यश्ववाहनविद्यासु शिक्षापणीय इति । तथा च राजपुत्रः—

> कुमारो यस्य मूर्खः स्यान्न विद्यासु विचक्षणः ।
> तस्य राज्यं विनश्येत्तदप्राप्त्या नात्र संशयः ॥ १ ॥

अथ शिष्येण गुरोर्यथा वर्तितव्यं तदाह—

अस्वातन्त्र्यमुक्तकारित्वं नियमो विनीतता च गुरूपासनकारणानि ॥ ५ ॥

टीका—गुरूणामुपासने गुरुसेवा [illegible] शिष्यगृहस्थेन उक्तकारित्वं आदेश कार्यं, नियमो ब्रह्मचर्यं, वि[illegible] गुरुसन्तोषेण शिष्यस्य कारणानि । तथा च [illegible] ।

१ [illegible] टीका नास्ति । प्रति ५०५ ८ ।

युक्तमयुक्तं वा गुरुरेव जानाति यदि न शिष्यः प्रत्यर्थवादी १०

गुरुजनरोषेऽनुत्तरदानमभ्युपपत्तिश्चौषधम् ॥ ११ ॥

शत्रूणामभिमुखः पुरुषः श्लाघ्यो नपुनर्गुरूणाम् ॥ १२ ॥

आराध्यं न प्रकोपयेद्यद्यसावाश्रितेषु कल्याणशंसी ॥ १३ ॥

गुरुभिरुक्तं नातिक्रमितव्यं यदि नैहिकामुत्रिकफलविलोपः ॥ १४ ॥

सन्दिहानो गुरुमकोपयन्नापृच्छेत् ॥ १५ ॥

गुरूणां पुरतो यथेष्टमासितव्यम् ॥ १६ ॥

अथ शिष्येणोपाध्यायसकाशाद्यथा विद्याग्रहणं कर्तव्यं तदाह—

नानभिवाद्योपाध्यायाद्विद्यामाददीत ॥ १७ ॥

टीका—नाददीत न गृह्णीयात्। कां? विद्यां। किं कृत्वा? अनभिवाद्य अनमस्कारं कृत्वा। कस्मात् गृह्णीयात्? उपाध्यायात् सकाशात्। यदा विद्याग्रहणं क्रियते तदोपाध्यायनमस्कारः कार्यः। तथा च वशिष्ठः—

नमस्कारं विना शिष्यो यो विद्याग्रहणं क्रियात्।
गुरोः स तां न चाप्नोति शूद्रो वेदश्रुतिं यथा ॥ १ ॥

अथ शिष्येणाध्ययनकाले यत्कर्तव्यं तदाह—

अध्ययनकाले व्यासङ्गं पारिप्लवमन्यमनस्कतां च न भजेत् ॥ १८ ॥

१ गुरुवचनानुवचने हेतुमाह—। २ 'प्रत्यर्थी वादी वा स्यात्' मुद्रित पुस्तके। ३ गुरुजनानां रोषे सति उपायमाह। ४ सेवा। ५ 'कल्याणमार्गे सति' मुद्रित पुस्तके। ६ गुरुभिरुक्तं मु—पुस्तके। ७ गुरुप्रकोपं मु—पुस्तके। ८ पृच्छेत् मु—पुस्तके। ९ [illegible]। १० [illegible] 'इत्यपि' पाठः मूल पुस्तके। ११ [illegible] पुस्तके पाठः। १२ अध्ययनकालेऽध्यापकेन मु

टीका—न भजेत् न सेवेत । किं तत् ? व्यासंगं अन्यकृत्यं तथा पारिप्लवं चांचल्यं तथान्यमनस्कतामन्यचित्ततां । कस्मिन् ? अध्ययनकाले पाठसमये । तस्मात् पठनसमये अन्यकृत्यं चापल्यं अन्यचित्ततां न कुर्यात् । तथा च गौतमः—

अन्यकार्यं च चापल्यं तथा चैवान्यचित्ततां ।
प्रस्तावे पठनस्यात्र यः करोति जडो भवेत् ॥ १ ॥

अथ शिष्येण सहाध्यायिषु य कर्तव्यं तदाह—

सहाध्यायिषु बुद्ध्यतिशयेन नाभिभूयेत ॥ १९ ॥

टीका—नाभिभूयेत न पराभवं कुर्यात् । केषु ? सहाध्यायिषु सतीर्थेषु । केन ? बुद्ध्यतिशयेन मतिबाहुल्येन यदि पठनात्तस्य बुद्धिरधिका भवति अन्यच्छात्राणां सकाशात्तदा तद्वर्तांश्छात्रान् न पराभवेत् न पराभवयुक्तान् कुर्यात् । तथा च गुरुः—

न सहाध्यायिनः कुर्यात्पराभवसमन्वितान् ।
स्वबुद्ध्यतिशयेनात्र यो विद्यां वाञ्छति प्रभोः ॥ १ ॥

अथ च्छात्रेण गुरोर्यत्कृत्यं तदाह—

प्रज्ञयातिशयानो न गुरुमवज्ञायेत ॥ २० ॥

टीका—नावज्ञायेत नाज्ञालोपेनायुक्तं गुरुं कुर्यात ' ' ? छात्रः । कं ? गुरुं । किंविशिष्टः ? प्रज्ञयातिशयानः गुरो. [illegible] कबुद्धिः संजातः सन, यदि कथंचिद्गुरोः सकाशाच्छात्रस्य प [illegible] बुद्धि-भवति तदा तथा गुरोर्नावलेपः कार्यः । तथा च भृ [illegible]

बुद्ध्याधिकस्तु यश्छात्रो गुरुं पदयेद् [illegible]
स प्रेत्य नरकं याति वाच्यतामिह भृ [illegible] ।

अथ यो मातृपितृभ्यामुपरि पुत्रः शूरो भवति स [illegible] ह—

१ नाभिभूयेत मु-मू-पुस्तके । २. अवज्ञादयेत् मू. ल [illegible] पु. ।

स किमभिजातो मातरि यः पुरुषः शूरो वा पितरि ॥२१॥

टीका—स पुत्रः किमभिजातः कुलीनः स कुलीनो न भवति । यः किंविशिष्टः (?) शूरः उद्धटः । कस्याः ? मातरि । तथा पितुरपि वा [illegible] (?) तस्मात्पुत्रेण मातृपित्रोर्भक्तिः कार्या येन ज्ञायते कुलीनोऽयमिति । तथा च मनुः—

> न पुत्रः पितरं द्वेष्टि मातरं न कदाचन ।
> यस्तयोर्द्वेषसंयुक्तस्तं विद्यादन्यरेतसम् ॥ १ ॥

अथ पुत्रेण मातृपितृभ्यां कुलीनेन कर्तव्य तदाह—

अननुज्ञातो न क्वचिद्व्रजेत् ॥ २२ ॥

टीका—ताभ्यां मातृपितृभ्यामननुज्ञातोऽप्रेषितः सन् न क्वचिद् व्रजेत् । तथा वशिष्ठः—

> पितृमातृसमादेशमवृष्टोन्या करोति यः ।
> सुकृत्यान्यपि कृत्यानि स कुलीनो भवेन्न हि ॥ १ ॥

तथा भूयोऽपि पुत्रेण यत्कर्तव्यं तदाह—

मार्गमचलं जलाशयं च नैकोऽवगाहयेत् ॥ २३ ॥

टीका—नो [illegible] । कोऽसौ ? पुत्र । किंविशिष्ट ? एको मातृपितृविहीन । क न [illegible] ? मार्गे पन्थाने तथाचलं पर्वतं तथा जलाशयं वापीकूपादिकमिति । तथा च [illegible] —

> वापीकूपादिकं यच्च मार्गं वा यदि वाचलम् ।
> नैकोऽवगाहयेत् पुत्र पितृमातृविवर्जित ॥ १ ॥

अथ [illegible] यथा [illegible] तदाह —

१ [illegible] मनुस्मृतौ तु नास्ति । [illegible]
[illegible]
[illegible] । २ [illegible] पुस्तके ।

टीका —स शिष्यो ब्रह्मचारिणि गुरुपुत्रे बान्धव इव स्निह्येत् स्नेहं कुर्यात् । यथा बान्धवो भ्राता भ्रातुः स्नेहं करोति तथा शिष्योऽपि ब्रह्मचारिणः । तथा च मनुः—

यथा भ्रातुः प्रकर्तव्यः स्नेहोऽत्र नियन्धंता ।
तथा स्नेहः प्रकर्तव्यः शिष्येण ब्रह्मचारिणः ॥ १ ॥

अथ ब्रह्मचारिलक्षणमाह—

ब्रह्मचर्यमाषोडशाद्वर्षात्ततो गोदानपूर्वकं दारकर्म चास्य॥२८॥

समविद्यैः सहाधीतं सर्वदाभ्यस्येत् ॥ २९ ॥

गृहदौःस्थित्यमागन्तुकानां पुरतो न प्रकाशयेत् ॥ ३० ॥

परगृहे सर्वोऽपि विक्रमादित्यायते ॥ ३१ ॥

स खलु महान् यः स्वकार्येष्विव परकार्येषूत्सहते ॥ ३२ ॥

परकार्येषु को नाम न शीतलः ॥ ३३ ॥

राजासन्नः को नाम न साधुः ॥ ३४ ॥

अर्थपरेष्वनुनयः केवलं दैन्याय ॥ ३५ ॥

को नामार्थार्थी प्रणामेन तुष्यति ॥ ३६ ॥

आश्रितेषु कार्यतो विशेषकरणं प्रियदर्शनालापाभ्यां सर्वत्र समवृत्तिस्तन्त्रं वर्धयत्यनुरंजयति च ॥ ३७ ॥

तनुधनादर्थग्रहणं मृतमारणमिव ॥ ३८ ॥

अप्रतिविधातरि कार्यनिवेदनमरण्यरुदितमिव ॥ ३९ ॥

१ श्लोकोऽयं मनुस्मृतौ नास्ति । २ स चाक्षरप्रमितोऽयं द्वितीय पादः, अशुद्धश्चाभाति । ३ ततो गोदानं । तस्य चास्य समविद्यैः इत्यादि पाठः मु-पुस्तके । ४ विक्रमादित्यो नाम प्रसिद्धो राजा तद्वदाचरति । ५ 'स्वकार्येष्विव' मु-पुस्तके नास्ति । ६ स्वकार्येषु मु-पुस्तके । ७ नेति लिखितमूल-पुस्तके नास्ति । ८ प्रणयेन मु-पुस्तके । ९ 'विशेषकारणऽपि दर्शनप्रियालापनाभ्यां' मु-पुस्तके । १० अल्पधनात् दरिद्रादित्यर्थः ।

१२ सेनापति-समुद्देशः ।

अभिजनाचारप्राज्ञानुरागसत्त्वशौचशौर्यसम्पन्नः प्रभाववान् बहुबान्धवपरिवारो निखिलनयोपायप्रयोगनिपुणः समभ्यस्तसमस्तवाहनायुधयुद्धलिपिभाषात्मपरस्थितिः सकलतंत्रसामन्ताभिमतः सांग्रामिकाभिरामिकाकारशरीरो भर्तुरभ्युदयदेशहितवृत्तिषु निर्विकल्पः स्वामिनात्मवन्मानार्थप्रतिपत्तिराजचिह्नैः संभावितः सर्वक्लेशायाससहः स्वैः परैश्चाप्रधृष्यप्रकृतिरिति सेनापतिगुणाः ॥ १ ॥

स्त्रीजितत्वमौद्धत्यं व्यसनिता क्षयव्ययप्रवासोपहतत्वं तंत्राप्रतीकारः सर्वैः सह वैरविरोधो परपरिवादः परुषभाषित्वमनुचितज्ञतासंविभागित्वं स्वातंत्र्यात्मसंभावनोपहतत्वं स्वामिकार्यव्यसनोपेक्षा सहकारिकृतकार्यविनाशो राजहितवृत्तिषु चेर्ष्यालुत्वमिति सेनापतिदोषाः ॥ २ ॥

स चिरं जीवति राजपुरुषो यो नगरनापित इवानुवृत्तिपरः सर्वासु प्रकृतिषु ॥ ३ ॥

इति सेनापतिसमुद्देशः ।

---

१ सत्त्वशब्दो मु-पुस्तके नास्ति । २ परज्ञानस्थितिः मु-पुस्तके । ३ भर्तुरादेशाभ्युदय मु-पुस्तके । ४ हितेषु । अस्मात्पूर्वं 'अप्रमादवान्' इति पाठ मु-पुस्तके । ५ वैर शब्दो नास्ति मु-पुस्तके । ६ ज्ञ मु-पुस्तके । ७ आत्मनः मु-पुस्तके । ८ 'चेर्ष्यालुत्व' मु-पुस्तके ।

स्वयमशक्तः परेणोक्तमनिष्टं सहेत ॥ १० ॥

गुरुषु स्वामिषु वा परिवादे नास्ति क्षान्तिः ॥ ११ ॥

स्थित्वापि यास्यतोऽवस्थापनं केवलमपक्षयहेतुः ॥ १२ ॥

वीरपुरुषपरिवारितः शूरपुरुषान्तरितान् परदूतान् पश्येत् ।१३।

श्रूयते हि किल चाणक्यस्तीक्ष्णदूतप्रयोगेणैकं नन्दं जघानेति ॥ १४ ॥

शत्रुप्रहितं शासनमुपायनं च स्वैरपरीक्षितं नोपाददीत ॥१५॥

श्रूयते हि स्पर्शविषवासिताद्भुतवस्त्रोपायनेन करहाटपतिः कैटभो वसुनामानं राजानमाशीविषविषधरोपेतरत्नकरंडकप्राभृतेन च करवालः करालं जघानेति ॥ १६ ॥

महत्यपकारेऽपि न दूतमुपहन्यात् ॥ १७ ॥

उद्धृतेष्वपि शस्त्रेषु दूतमुखा वै राजानः ॥ १८ ॥

तेषामन्त्यावसायिनोऽप्यवध्याः किमङ्ग ! पुनर्ब्राह्मणः॥ १९ ॥

वध्यभावाद्दूताः सर्वमेवं जल्पन्ति ॥ २० ॥

कः सुधीर्दूतवचनात्परोत्कर्षं स्वात्मापकर्षं च मन्येत ॥ २१ ॥

तदाशयरहस्यपरिज्ञानार्थं परदूतः स्त्रीभिरुभयवेतनैस्तद्गुणाचारशीलानुवर्तिभिर्वा प्रणिधातव्यः ॥ २२ ॥

चत्वारि वेष्टनानि खड्गमुद्रा च प्रतिपक्षलेखानाम् ॥ २३ ॥

इति दूतसमुद्देशः ।

---

१ परवादे मु । २ महत्यपकारे दूतमपि हन्येन मु पुस्तके ।—
३ चाण्डाला अपि दूतत्वेनागताश्चेदवध्याः । ४ अवध्यभावाद्दूत मु-पुस्तके । ५ वध्यभावादिति मु पुस्तके । ६ सर्वमेव इति पाठः मु-
६ वचनात् स्वात्मान मु पुस्तके ।

परमर्मज्ञः प्रगल्भश्छात्रः कापटिकः ॥ ९ ॥

यं कंचन समयमास्थाय प्रतिपन्नाचार्याभिषेकः प्रभूतान्तेवासी प्रज्ञातिशययुक्तो राजपरिकल्पितवृत्तिरुदास्थितः ॥ १० ॥

गृहपतिर्वैदेहिको ग्रामकूटश्रेष्ठिनौ ॥ ११ ॥

बाह्यव्रतविद्याभ्यां लोकदंभहेतुस्तापसः ॥ १२ ॥

कितवो द्यूतकारः ॥ १३ ॥

अल्पाखिलशरीरावयवः किरातः ॥ १४ ॥

यमपट्टिको गलत्रोटिकः ॥ १५ ॥

अहितुंडिकः सर्पक्रीडाप्रसरः ॥ १६ ॥

शौंडिकः कल्पपालः ॥ १७ ॥

शौभिकः क्षपायां कांडपटावरणेन नानारूपदर्शी ॥ १८ ॥

पाटच्चरश्चोरो बन्दिकारो वा ॥ १९ ॥

व्यसनिनां प्रेषणाज्जीवी विटः ॥ २० ॥

सर्वेषां प्रहसनपात्रं विदूषकः ॥ २१ ॥

कामशास्त्राचार्यः पीठमर्दकः ॥ २२ ॥

* गीताङ्गपटप्रावरणेन नृत्यवृत्त्याजीवी नर्तको नाटिकाभिनयज्ञ नर्तको वा ॥ २३ ॥

रूपाजीवावृत्त्युपदेष्टा गायकः ॥ २४ ॥

१ प्रत्येक शब्दानां परिभाषामाह । २ राज्ञा मु—पुस्तके । ३ छिद्रज्ञ मु—पुस्तक । कपटमतेन कपटविद्यया च । ४ अधिकशालिकयमगृहिको ग्रहाग्रविग्रह विप्रपटदर्शी मुद्रित पुस्तके पाठ । ५ सूत्रमिदं लिखित-मूल पुस्तके नास्ति । ६ मद्यगृहस्य स्वामी 'कलार' इति भाषायां । ७ नानाविधनामरूपदर्शी मु—पुस्तके । ८ बन्दिकारो वा मू—पुस्तके । बन्दीकारो वा मु—पुस्तके । ९ प्रेषणाजीवी मु पुस्तक । * पुष्पकचमत नि सूत्राणि लिखित मूल पुस्तके न सन्ति मुद्रित पुस्तकात्संयोजितानि । ११ वेश्या ।

१५ विचार-समुद्देशः ।

नाविचार्य किमपि कार्यं कुर्यात् ॥ १ ॥

प्रत्यक्षानुमानागमैर्यथावस्थितवस्तुव्यवस्थापनहेतुर्विचारः ।२।

स्वयं दृष्टं प्रत्यक्षं ॥ ३ ॥

न ज्ञानमात्रात्प्रेक्षावतां प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा ॥ ४ ॥

स्वयं दृष्टेऽपि मतिर्मुह्यति संशेते विपर्यस्यति वा किं पुनर्न परोपदिष्टे ॥ ५ ॥

स खलु विचारज्ञो यः प्रत्यक्षेणोपलब्धमपि साधु परीक्ष्यानुतिष्ठति ॥ ६ ॥

अतिरभसात् कृतानि कार्याणि किं नामानर्थं न जनयंति ॥ ७ ॥

अविचार्याचरिते कर्मणि पश्चात्प्रतिविधानं गतोदके सेतुबन्धनमिव ॥ ८ ॥

कर्मसु कृतेनाकृतावेक्षणमनुमानं ॥ [illegible] ॥

संभावितैकदेशो नियुक्तं दद्यात् ॥ [illegible] ॥

[illegible]

१६ व्यसन-समुद्देशः ।

व्यस्यतीत्यासत्तयत्येनं पुरुषं श्रेयस इति व्यसनं ॥ १ ॥

व्यसनं द्विविधं सहजमाहार्यं च ॥ २ ॥

सहजं व्यसनं धर्मसंभूताद्भुताभ्युदयहेतुभिरधर्मजनितमहाप्रत्यवायप्रतिपादनैरुपाख्यानैर्योगपुरुषैश्च प्रशमयेत् ॥ ३ ॥

शिष्टसंसर्गदुर्जनासंसर्गाभ्यां पुरातनमहापुरुषचरितोत्थिताभिश्च कथाभिराहार्यं व्यसनं प्रतिबध्नीयात् ॥ ४ ॥

स्त्रियमतिभजमानो भवत्यवश्यं तृतीया प्रकृतिः ॥ ५ ॥

सौम्यधातुक्षयः सर्वधातुक्षयं करोति ॥ ६ ॥

पानशौण्डश्चित्तभ्रमान्मातरमप्यभिगच्छति ॥ ७ ॥

मृगयासक्तिः स्तेनव्यालद्विषद्दायादानामामिषं पुरुषं करोति ॥ ८ ॥

नास्त्यकृत्यं द्यूतासक्तस्य मातर्यपि हि मृतायां दीव्यत्येव कितवः ॥ ९ ॥

पिशुनः सर्वेषामविश्वासं जनयति ॥ १० ॥

दिवास्वापः सुप्तव्याधिव्यालानामुत्थापनदण्डः सकलकार्यान्तरायश्च ॥ ११ ॥

न परपरिवादात्परं सर्वविद्वेषणभेषजमस्ति ॥ १२ ॥

तौर्यत्रिकासक्तिः कं नाम न प्राणार्थमानैर्विजयते ॥ १३ ॥

सर्पाद्यानविधायकमप्यनर्थे विस्मयति ॥ १४ ॥

---

१ युक्तिसाद्भि पुरुष । २ पाठ । ३ सनिनिस्ववस०याल० मु-पुस्तके । ४ पुरुषमिति मु-पुस्तके नास्ति । ५ अस्य सूत्रस्य स्थाने इदं सूत्रं मु-पुस्तके 'वृथाट्या नाविधाय कमप्यनर्थं विरमयत्यावश्यानवं'।

अतीवेर्ष्यालुं स्त्रियस्त्यजन्ति निघ्नन्ति वा पुरुषं ॥ १५ ॥

परपरिग्रहाभिगमः कन्यादूषणं वा साहसं दशमुखदाण्डिक्य-विनाशहेतुः सुप्रसिद्धमेव ॥ १६ ॥

यत्र नाहमित्यध्यवसायः साहसं ॥ १७ ॥

अर्थदूषणः कुबेरोऽपि भवति भिक्षाभाजनं ॥ १८ ॥

अतिव्ययोऽपात्रव्ययश्चार्थस्य दूषणं ॥ १९ ॥

हर्षामर्षाभ्यामकारणं तृणाङ्कुरमपि नोपहन्यात् किं पुन-र्मनुष्यं ॥ २० ॥

श्रूयते हि निष्कारणं भूतावमानिनौ वातापिरिल्विलश्चासुरा-पगस्त्यस्यात्यासादनाद्विनेशतुरिति ॥ २१ ॥

यथादोषं कोटिरपि गृहीता न दुःखायते ॥ २२ ॥

अन्यायेन तृणशलाकापि गृहीता प्रजा खेदयति ॥ २३ ॥

तरुच्छेदेन फलोपभोगः सकृदेव ॥ २४ ॥

प्रजाविभवो हि स्वामिनो द्वितीयं भाण्डागारमतो युक्तित-स्तमुपयुञ्जीत ॥ २५ ॥

राज्ञा परिगृहीतं तृणमपि [गृहीतं परेण] काञ्चनीभवति जायते च पूर्वसंचितस्यार्थस्यापहारः ॥ २६ ॥

---

१ परिग्रहादिभिगमः मू—पुस्तके । २ साहसं सुप्रसिद्धमेव दशमुखदाण्डि-क्यविनाशहेतुः गु—पुस्तके पाठः । ३ अर्थदूषणं मु—पुस्तके । ४ अकारणं परं मु—पुस्तके नास्ति । ५ नोपहन्यते मु—पुस्तके । ६ खेदयति मु—पुस्तके । ७ तमपि भुञ्जीत मु—पुस्तके । ८ राजपरिगृहीतं तृणमपि काञ्चनीभवति मु—पुस्तके इत्येव सूत्रं । ९ कसस्थः पाठः पुस्तकस्य एव । नेदं सूत्रं मु—पुस्तके अस्य सूत्रस्य स्थाने 'येन हृदयसन्तापो जायते तद्वचनं हि वाक्पारुष्यं'।

वाक्पारुष्यं शस्त्रपातादपि विशिष्यते ॥ २७ ॥

ज्ञातिवयोवृत्तविद्याविभवानुचितं हि वचनं वाक्पारुष्यं ॥२८॥

स्त्रियमपत्यं भृत्यं वा तथोक्त्या विनयं ग्राहयेद्यथा हृदयप्रविष्टाच्छल्यादिव वचनतो न ते दुर्मनायन्ते ॥ २९ ॥

वधः परिक्लेशोऽर्थहरणं वा क्रमेण दंडपारुष्यं ॥ ३० ॥

एकेनापि व्यसनेनोपहतश्चतुरङ्गवानपि राजा विनश्यति किं पुनर्नाष्टादशभिः ॥ ३१ ॥

इति व्यसन-समुद्देशः।

किं तेन [illegible] यो न [illegible] ॥ १३ ॥
[illegible] सर्वज्ञानाच्छ इव न कस्यापि [illegible] ॥ १४ ॥
[illegible] न सन्ति महान्तः ॥ १५ ॥
[illegible] ॥ १६ ॥
[illegible] स्पन्दते ॥ १७ ॥
अनुग्राहः सर्वे[illegible] ॥ १८ ॥
[illegible]
॥ १९ ॥
[illegible] ॥ २० ॥
[illegible] दृश्यते ॥ २१ ॥
[illegible] ॥ २२ ॥
[illegible] धनम् ॥ २३ ॥
[illegible] दासाः ॥ २४ ॥
[illegible] हि सर्वेषाम[illegible] प्राकाराः ॥ २५ ॥
[illegible] गुरुमपि न सहेत ॥ २६ ॥
[illegible] विशेषो यस्यास्ति नास्ति ॥ २७ ॥

[illegible]

राजाज्ञावरुद्धस्य तदाज्ञाप्रतिदाने उत्तमः साहसदण्डः ॥२८॥

सम्बन्धाभावे तद्दातुश्च ॥ २९ ॥

परमर्मस्पर्शकरमश्रद्धेयमसत्यमतिमात्रं च न भाषेत ॥३०॥

वेषमाचारं वानभिज्ञातं न भजेत् ॥ ३१ ॥

प्रभौ विकारिणि को नाम न विकुरुते ॥ ३२ ॥

अधर्मपरे राज्ञि को नाम नाधर्मपरः ॥ ३३ ॥

राज्ञावज्ञातो यः स सर्वैरवज्ञायते ॥ ३४ ॥

पूजितं हि पूजयन्ति लोकाः ॥ ३५ ॥

प्रजाकार्यं स्वयमेव पश्येत् ॥ ३६ ॥

यथावसरमर्प्रतीहारसंगं द्वारं कारयेत् ॥ ३७ ॥

दुर्दर्शो हि राजा कार्याकार्यविपर्यासमासन्नैः कार्यतेऽतिसंधीयते च द्विषद्भिः ॥ ३८ ॥

वैद्येषु श्रीमतां व्याधिवर्धनादिव नियोगिषु भर्तुर्व्यसनवर्धनादपरो नास्ति जीवनोपायः ॥ ३९ ॥

कार्यार्थिनो लंचो लुञ्चति ॥ ४० ॥

निशाचरगणां भूतबलिं न कुर्यात् ॥ ४१ ॥

लंचो हि सर्वपातकानामागमनद्वारम् ॥ ४२ ॥

---

१ दानेन मु—पुस्तके । २ उत्तमसाहसो दण्डः मु—पुस्तके । ३ दण्डयस्य अपराधसम्बन्धाभावे । ४ वानभिज्ञातु मु—पुस्तके । ' वेषं समाचारं वानभिज्ञानम्र तं भजेत् ' मु—पुस्तके । ५ प्रभवो विकारिणो नाम न विकुरुते मु—पुस्तके । ६ सर्वैरप्यवज्ञायते मु—पुस्तके । ७ ' पूजितं हि ' नि-मू—पुस्तके नास्ति । ८ यथावसरमसंगद्वारं मु—पुस्तके । ९ कार्यविपर्यास मु—पुस्तके । १० कार्यार्तिनः लंचलुंच मू—पुस्तके । ११ लंचचरा मुदित-पुस्तके ।

मातुः स्तनमपि लुनंति लंचोपजीविनः ॥ ४३ ॥

लंचेन कार्यकारिभिरर्थभ्रयत्स्वामी विक्रीयते ॥ ४४ ॥

प्रासादविध्वंसनेन लोहकीलकलाभ इव लंचेन राज्ञोऽर्थलाभः ॥ ४५ ॥

राज्ञो लंचेन कार्यकरणं कस्य नाम कल्याणम् ॥ ४६ ॥

देवतापि यदि चौरेषु मिलति कुतः प्रजानां कुशलम् ॥ ४७ ॥

लंचेनार्थोपायं दर्शयन् देशं कोशं मित्रं तंत्रं च भक्षयति ४८

राज्ञोऽन्यायकरणं समुद्रस्य मर्यादालंघनं, आदित्यस्य तमःपोषणं, मातुः स्वापत्यभक्षणमिति कलिकालविजृंभितानि ॥४९॥

राजा कालस्य कारणं ॥ ५० ॥

न्यायतः परिपालिके राज्ञि प्रजानां कामदुघा भवन्ति सर्वा दिशः, काले च वर्षति मघवान्, सर्वाश्चेतयः प्रशाम्यन्ति ॥५१॥

राजानमनुवर्तन्ते सर्वेऽपि लोकपालास्तेन मध्यममप्युत्तमं लोकपालं राजानमाहुः ॥ ५२ ॥

अव्यसनेन क्षीणधनान् मूलधनप्रदानेन कुटुंबिनः प्रतिसंभावयेत् ॥ ५३ ॥

राज्ञो हि समुद्रावधिर्मही स्वकुटुंबं कलत्राणि तु वंशवर्धनं क्षेत्राणि ॥ ५४ ॥

---

१ लुम्पन्ति मु–पुस्तके। २ कार्याभिरुद्ध स्वामी मु–पुस्तके। ३ प्रमादनेन मू—पुस्तके। ४ लोभ मू—पुस्तके। ५ कार्यकरणे मू—पुस्तके। ६ चौराणां मु—पुस्तके। ७ राज्ञा, लंघनमिव, पाषणमिव भक्षणमिव मु—पुस्तके। ८ शोषणं मु—पुस्तके। ९ इति शब्दो म—पुस्तके नास्ति। १० विशेषः कालस्य मु—पुस्तके। ११ ' भवन्ति सर्वा ' मु-पुस्तके नास्ति। १२ ' कुम्बिनः प्रति ' मु-पुस्तके नास्ति। १३ तुर्नास्ति मु-पुस्तके।

१८ अमात्य-समुद्देशः ।

चतुरंगयुतोऽपि नानमात्यो राजास्ति किं पुनरन्यः ॥ १ ॥

नैकस्य कार्यसिद्धिरस्ति ॥ २ ॥

नह्येकचक्रं परिभ्रमति ॥ ३ ॥

किमवातः सेन्धनोऽपि वह्निर्ज्वलति ॥ ४ ॥

स्वकर्मोत्कर्षापकर्षयोर्दानमानाभ्यां सम्पत्तिविपत्ती येषां तेऽमात्याः ॥ ५ ॥

आयो व्ययः स्वामिरक्षा तंत्रपोषणं चामात्यानामधिकारः ॥ ६ ॥

आयव्ययमुखयोर्मुनिकमण्डलुर्निदर्शनमेव ॥ ७ ॥

आयो द्रव्यस्योत्पत्तिमुखम् ॥ ८ ॥

यथास्वामिशासनमर्थस्य विनियोगो व्ययः ॥ ९ ॥

आयमनालोच्य व्ययमानो वैश्रवणोऽप्यवश्यं श्रमणायत एव ॥ १० ॥

राज्ञः शरीरं धर्मः कलत्रमपत्यानि च स्वामिशब्दार्थाः ॥ ११ ॥

तंत्रं चतुरङ्गबलम् ॥ १२ ॥

---

१ पुनरेके मु पुस्तके । २ अस्ति मु पुस्तके नास्ति । ३ किं प्रवातः मु-पुस्तके । ४ कदान्या मु पुस्तके । ५ यथा पृथुमुखाल्पप्रीवा विस्तृतमुखश्च मुनिकमण्डलुर्जलस्य ग्रहं करोति [illegible] सूक्ष्मनलिकारूपेण तेन मुखेन [illegible] निःसरति तथा महता प्रमाणेनायं कृत्वा अल्पप्रमाणेन व्ययं कार्य इत्यर्थः । ६ अवश्यं [illegible] मु-पुस्तके नास्ति । श्रमणायते श्रमणा निष्पुत्रदरिद्राचरति [illegible] ७ वाक्यं राज्ञः मु-पुस्तके ।

सम्बन्धस्त्रिविधः श्रौतो मौखो यौनश्चेति ॥ २६ ॥

सहदीक्षितः सहाध्यायी वा श्रौतः ॥ २७ ॥

मुखेन परिज्ञातो मौखः ॥ २८ ॥

योनेर्जातो यौनः ॥ २९ ॥

वाचिकसम्बन्धे नास्ति सम्बन्धान्तरानुवृत्तिः ॥ ३० ॥

न तं कमप्यधिकुर्यात् सत्यपराधे यमुपहत्यानुशयीत ॥३१॥

मान्योऽधिकारी राजाज्ञामवज्ञाय निरवग्रहश्चरति ॥ ३२ ॥

चिरसेवको नियोगी नापराधेष्वाशंकते ॥ ३३ ॥

उपकर्ताधिकारस्थ उपकारमेव ध्वजीकृत्य सर्वमवलु-
म्पति ॥ ३४ ॥

सहपांसुक्रीडितोऽमात्योऽतिपरिचयात् स्वयमेव राजा-
यते ॥ ३५ ॥

अन्तर्दुष्टो नियुक्तः सर्वमनर्थमुत्पादयति ॥ ३६ ॥

शकुनिशकटालावत्र दृष्टान्तौ ॥ ३७ ॥

सोऽधिकारी चिरं नन्दति यः स्वामिप्रसादेन नोत्सेक-
यति ॥ ३८ ॥

सुहृदि नियोगिन्यवश्यं भवति धनमित्रत्वनाशः ॥ ३९ ॥

मूर्खस्य नियोगे भर्तुर्धर्मार्थयशसां सन्देहो निश्चितौ चानर्थ-
नरकपातौ ॥ ४० ॥

---

१ स बन्धु मु । २ मैत्रा मु । ३ [illegible] मु । ४ [illegible] मैत्र मु । ५ मुखमात्र [illegible] मु । ६ वाचिके [illegible] मु । ७ [illegible] मु । ८ [illegible] मु । ९ [illegible] मु । १० [illegible] मु । ११ [illegible] अधिकारी मु । १२ [illegible] मु । [illegible]

आयव्ययविप्रतिपत्तौ कुशलकरणकार्यपुरुषेभ्यस्तद्विनिश्चयः ॥ ५४ ॥

नित्यपरीक्षणं कर्मविपर्ययः प्रतिपत्तिदानं च नियोगिष्वर्थग्रहणोपायाः ॥ ५५ ॥

नापीडिता नियोगिनो दुष्टव्रणा इवान्तःसारमुद्वमन्ति ॥५६॥

पुनः पुनरभियोगो नियोगिषु महीपतीनां वसुधारा ॥५७॥

सकृन्निष्पीडितं स्नानवस्त्रं किं जहाति मार्द्रताम् ॥ ५८ ॥

देशमापीडयन् बुद्धिपुरुषकाराभ्यां पूर्वनिबन्धमधिकं कुर्वन्नर्थमानौ लभेत ॥ ५९ ॥

यो यत्र कर्मणि कुशलस्तं तत्र नियोजयेत् ॥ ६० ॥

न खलु स्वामिप्रसादः सेवकेषु कार्यसिद्धिनिबन्धनं किन्तु बुद्धिपुरुषकारौ वा शास्त्रविदप्यदृष्टकर्मा कर्मसु विषादं गच्छेत् ॥ ६१ ॥

अनिवेद्य भर्तुर्न कंचिदारंभं कुर्यादन्यत्रापत्प्रतीकारेभ्यः। ६२।

सहसोपचितार्थो मूलधनमात्रेणावशेषयितव्यः ॥ ६३ ॥

परस्परकलहो नियोगिषु भूभुजां निधिः ॥ ६४ ॥

नियोगिषु लक्ष्मीः क्षितीश्वराणां द्वितीयः कोशः ॥ ६५ ॥

सर्वसंग्रहेषु धान्यसंग्रहो महान् ॥ ६६ ॥

यन्निबन्धनं जीवितम् ॥ ६७ ॥

न खलु मुखे प्रक्षिप्तं सत्करोति द्रविणं प्राणत्राणं यथा धान्यम् ॥ ६८ ॥

---

१ बोधयति मू पुस्तक [illegible] । २ [illegible] । ३ [illegible] मु [illegible] मुद्रित-पुस्तके ' मूल-धनाद्द्विगुणाधिको [illegible] बणिजा भवति [illegible] ' ।
४ अस्मादग्रे ' [illegible] इत्यधिक पाठ मु—पुस्तके । ५ अस्य स्थाने [illegible]

सर्वधान्येषु चिरंजीविनः कोद्रवाः ॥ ६९ ॥
अनवं नवेन वर्धयितव्यं व्ययितव्यं च ॥ ७० ॥
लवणसंग्रहः सर्वरसानामुत्तमः ॥ ७१ ॥
सर्वरसमप्यलवणमन्नं गोमयायते ॥ ७२ ॥

इत्यमात्य-समुद्देशः ।

जनपद–समुद्देशः ।

पशुधान्यहिरण्यसम्पदा राजते शोभते इति राष्ट्रं ॥ १ ॥

भर्तुर्दण्डकोशवृद्धिं दिशति ददातीति देशः ॥ २ ॥

विविधवस्तुप्रदानेन स्वामिनः सद्मनि गजान् वाजिनश्च विसिनोति बध्नातीति विषयः ॥ ३ ॥

सर्वकामदुघात्वेन पतिहृदयं मंडयति भूषयतीति मण्डलं ॥४॥

जनस्य वर्णाश्रमलक्षणस्य द्रव्योत्पत्तेर्वा पदं स्थानमिति जनपदः ॥ ५ ॥

निर्जेपतेरुत्कर्षजनकत्वेन शत्रुहृदयं दारयति भिनत्तीति दरंत् ॥ ६ ॥

आत्मसमृद्धया स्वामिनं सर्वव्यसनेभ्यो निगमयति निर्गमयतीति निगमः ॥ ७ ॥

अन्योन्यरक्षकः खन्याकरद्रव्यनागधनवानतिवृद्धनातिहीनग्रामो बहुसारविचित्रधान्यपण्योत्पत्तिरदेवमातृकः पशुमनुष्यहितः श्रेणिशूद्रकर्षकप्राय इति जनपद... विपन्न... [illegible]

जी... [illegible]

शु... [illegible]

---

१ राजा मु । २ दुघत्वेन मु । ३ नरपति मु । ४ जनपदो मु । ५ दारक मु । ... अर्थ मु-पुस्तके नास्ति । ७ निगम मु । ८ नातिवृद्धहीनग्रामो बहुसारविचित्रा धान्यहिरण्यपण्योत्पत्ति० मु । ९ कनाधार मु ।

मर्यादातिक्रमो यस्यां भूमौ राज्ञः प्रजायते ।
समृद्धापि च सा दुर्भिक्षोपनेऽरण्यसन्निभा ॥ १ ॥

अथ प्रजानां वर्धनोपायो यथा भवति तदाह—

क्षीणजनसम्भावनं तृणशलाकाया अपि स्वयमग्रहः कदाचित्किंचिदुपजीवनमिति परमः प्रजानां वर्धनोपायः ॥ २० ॥

टीका—वर्धनोपाय वृद्धिकारी उपाय । केषां ? प्रजानां । क्षीणजनसम्भावनं तावत् क्षीणो दुर्बलो य. कुटुम्बी, सम्भावनं उद्धारकदानं प्रतिपालनरूपया । तथाग्रहोऽग्रहणं कस्यास्तृणशलाकाया अपि । आस्तां तावत्, कदाचित्कस्मिन् काले किंचिदुपजीवनं दण्डग्रहं स्तोक ग्राह्यं येन स्वयमुपजीवनं निर्वाहणं भवति इत्यनेन त्रिविधेन परम उत्कृष्टो वर्द्धनोपायः प्रजानामिति । तथा च नारद.—

चिन्तनं क्षणपूक्तानां स्वयमादस्य विवर्जनम् ।
पुरस्कारं च लोकानां परमं वृद्धिकारणं ॥ १ ॥

अथ न्यायेन रक्षिता पिण्ठा राज्ञो यादृग्भवति तदाह—

न्यायेन रक्षिता पण्यपुटभेदिनी पिण्ठा राज्ञां कामधेनुः २१

टीका—कामधेनुर्भवति वाञ्छितप्रदात्री भवति। कासौ ? पिण्ठा शुल्कस्थानं। किंविशिष्टा पिण्ठा ? पण्यपुटभेदिनी पण्यानि वणिग्जनानां कुंकुमहिंगुवस्त्रादीनि क्रयाणकानि तेषां पुटा स्थानानि भिद्यन्ते यस्यां सा पण्यपुटभेदिनी । किंविशिष्टा सती स्यात्कामधेनुः ? (रक्षिता) परिपालिता सती । केन कृत्वा ? न्यायेन नीत्या, किंविशिष्टं रक्षणं तस्या अधिकशुल्कग्रहण तथा चौरादिभिर्यद्धृतं तस्या न स्वयमेव दातव्य। तथा च शुक्रः—

प्राप्त नैयायिकं शुल्कं चौरैर्यद्धाहृतं भवेत् ।
पिण्डाया भूभुजा देयं वणिजां तत्स्वकोशतः ॥ १ ॥

अथ राज्ञां चतुरंगबलहेतवो ये भवन्ति तानाह—

अथान्येषां भूदानानां स्वरूपमाह

क्षेत्रवप्रखण्डगृहधर्मायतनानामुत्तरः पूर्वं बाधितः (घ्नते) पुनरुत्तरं पूर्वः ॥ २५ ॥

टीका—एतेषां पंचप्रकाराणां भूदानानां योऽयं स्याद्भूदानविषयस्योत्तरो *द्वितीयः स पूर्वं प्रथमं आबाधयेत् लघुतां नयेदित्यर्थः । न प्रथमो द्वितीयं ।* एतदुक्तं भवति क्षेत्रदानात्परं तडागदानं तस्मात्खंडदानं तस्माद्गृहदानं तस्माद्धर्मायतनदानं, तत्सारदानां देवायतनकरमित्यर्थः (?) । तथा नोत्तमत् पूर्वं । सर्वेषामुत्तरः प्रासादः तस्मात्स्यर्धगृहं ताप्या(?) (तस्मादुत्तरं गृहं) । तस्मात्खण्डं तस्माद्वप्रः तस्मात्कोऽपुः (क्षेत्रं) चाशब्दः समुच्चये ।

इति जनपदसमुद्देशः ।

प्रविशन्ति नरा यत्र दुर्गे मुद्राविवर्जिताः ।
अमुद्रा निःसरन्ति वा तद्दुर्गं लघु नश्यति ॥ १ ॥

अत्र दुर्गविषये दृष्टान्तमाह —

श्रूयते किल हूणाधिपतिः पण्यपुटवाहिभिः सुभटैः चित्रकूटं जग्राह ॥ ८ ॥

टीका—एतत् किल श्रूयते हूणाधिपतिर्नाम राजा स जग्राह, किं तत् ? चित्रकूटं । कैः कृत्वा ? सुभटैः । किंविशिष्टैः ? पण्यपुटवाहिभिः पण्यपुटं विक्रयवस्तूनां स्थापनिका प्रोच्यते तासां मध्ये प्रक्षिप्य सुभटान् प्रचुरान् तेषु राज्ञो विज्ञापयित्वा दुर्गमपि तं स्ववशं जग्राह । तथा च गुरुः —

भिन्दाग्रवर्तिनो यो राजा वणिग्व्याजसमायतः ।
स्थापिता वणिजाकार्या वा तस्य दुर्गं स नश्यति ॥ १ ॥

अथान्यदपि दृष्टान्तमाह —

खेटखड्गधरैः सेवार्थं शत्रुणा भद्राख्यं कांचीपतिमिति ॥ ९ ॥

टीका—तथा खेटखड्गधरा ये पुरुषा निर्भयकाः सेवैकाभ्यासेन ये कंई धरन्ति ते, सेवार्थं कल्पितवन्तः शत्रुणा प्रहिता तैर्भद्राख्यं कांचीपतिं व्यापाद्य स्ववशानि कार्याणि कृत्वा एवं वा अन्ये परदेशागता सेवकास्ता विश्वासो न कार्यः । तथा च जैमिनिः —

परदेशागतेषु भृत्येषु विश्वासं यो नृपो व्रजेत् ।
स दुर्गं नाशमायाति जैमिनिस्त्विदमब्रवीत् ॥ १ ॥

इति दुर्गसमुद्देशः ।

---

१ पण्यपात्रवाहकवेषेण स्वसैनिकान् प्रवेशयित्वा चित्रकूट स्ववशं प्रापितवान् ।

टीका—कोशवृद्धिं नयन् उत्पन्नमर्थमुपयुञ्जीत। एतदुक्तं भवति कोशस्थाने यदुत्पाद्यते धनं तद्दृष्ट्वा किंचित्किंचिद्रक्षणीयं न कोशस्तन्यमपि भाव्यं। तथा च वशिष्ठः—

कोशवृद्धिः सदा कार्या नैव हानिः कथंचन।
आपत्काले हते प्राप्तेर्यत्कोशो राज्यरक्षकः॥ १॥

अथ कोशमवर्धयतो राज्ञो यद्भवति तदाह—

कुतस्तस्यायत्यां श्रेयांसि यः प्रत्यहं काकिण्यापि कोशं न वर्धयति॥ ४॥

टीका—कुतस्तस्यायत्यां परिणामे आगामिनि काले श्रेयांसि कल्याणानि पार्थिवस्य भवन्ति। कस्मात्र कदाचिदेव। यः किं करोति? न वर्धयति न वृद्धिं नयति। कं? कोशं। कया? काकिण्यापि नित्यमेव। तस्माद्भुजा सदैव कोश आपद्विनाशनिमित्तं वृद्धिं नेयः। तथा च गुरुः—

काकिण्यापि न वृद्धिं यः कोशं नयति भूमिपः।
आपत्काले तु सम्प्राप्ते शत्रुभिः पीड्यते हि सः॥ १॥

अथ कोशो महीपतीनां यादृशस्तमाह—

कोशो हि भूपतीनां जीवितं न प्राणाः॥ ५॥

टीका—योऽयं कोशः, स किंविशिष्टः? जीवितं। केषां? महीपतीनां। यतस्तस्य क्षये सञ्जाते कृत्यभावात् सेवकैर्मुच्यते ततः शत्रुभिर्विध्यत इति। तथा च भार्गुरिः।

कोशहीनं नृपं भृत्याः कुलीना अपि चोन्नत।
संत्यज्यान्यत्र गच्छन्ति शुष्कं वृक्षमिवाण्डजाः॥ १॥

अथ कोशहीनो राजा यत्करोति तदाह—

क्षीणकोशो हि राजा पौरजनपदानन्यायेन ग्रसते ततो राष्ट्रशून्यता स्यात्॥ ६॥

१ पुस्तकेऽयं पाठो वर्तते न चास्य स्वारस्यास्ति। २ कुत्रचिदपि पुस्तके।

२२ बल-समुद्देशः ।

अथ बलस्वरूपमाह—

द्रविणदानप्रियभाषणाभ्यामरातिनिवारणेन यदि हितं स्वामिनं सर्वावस्थासु बलते संवृणोतीति बलम् ॥ १ ॥

टीका—प्रयोजनावस्थासु दशासु बलते बलं ददाति संवृणोतीति केनारातिनिवारणेन शत्रुनिषेधेन तद्बलं सैन्यमुच्यते । तथा च गुरुः—

धनेन प्रियसंभाषणेनापि पुरार्जितम् ।
आपत्सु यः स्वामिनं रक्षेत्तद्बलमिति स्मृतम् ॥ १ ॥

अथ बलस्य स्वरूपमाह—

बलेषु हस्तिनः प्रधानमङ्गं स्वैरवयवैरष्टायुधा हस्तिनो भवन्ति ॥ २ ॥

टीका—चतुर्भिः पादैः [illegible] दन्तयुगलेन च शुण्डया पुच्छेन च शत्रून् विनाशयतीति न चान्यद्बलं [illegible] इति । तथा च [illegible]—

अष्टायुधो [illegible] वर्ण्यते ।
तथा च [illegible] ॥ १ ॥

अथ [illegible]

हस्तिप्रधानो विजयी राजा [illegible]
[illegible] प्रहारसहस्रेणापि । ३

[illegible]

[illegible]

अथ गजैर्यद्भवति तदाह—

सुखेन यानमात्मरक्षा परपुरावमर्दनमरिव्यूहविघातो जलेषु सेतुबन्धो वचनादन्यत्र सर्वविनोदहेतवश्चेति हस्तिगुणाः ॥ ६ ॥

टीका—एते हस्तिनां गजानां गुणाः । एकं तावत् सुखेन यानं गजैः क्रियते । तथात्मरक्षा भवति । परपुरावमर्दनं शत्रुपुरभङ्गः । तथारिव्यूहविघातः शत्रुसमुदायविघातः । तथा जलेषु नदीसंभवेषु सेतुबन्धाः क्रियन्ते । तथा वचनादन्यत्र सर्वविनोदहेतवः संभाषणं मुक्त्वान्ये सर्वे विनोदा हस्तिनां सकाशाद्भवन्तीति हस्तिगुणाः । तथा च भागुरिः—

> सुखयानं सुरक्षा च शत्रोः पुरविभेदनम् ।
> शत्रुव्यूहविघातश्च सेतुबन्धो गजैः स्मृतः ॥ १ ॥

अथाश्वसैन्येन यद्भवति तदाह—

अश्वबलं सैन्यस्य जंगमं प्रकारः ॥ ७ ॥

टीका—यदश्वबलं । किंविशिष्टं ? प्रकारलक्षणं। पुनरपि कथंभूतं ? जंगमं बलं । यत्र स्थाने वाञ्छा क्रियते तत्र याति । कस्य प्रकारभूतं ? सैन्यस्य । एतदुक्तं भवति, यत्र स्थाने सैन्यं गच्छति तत्र परिवर्जं (र्य) रक्षां करोति । तथा च नारदः—

> तुरंगमबलं यच्च तत्प्रकारो बलं स्मृतं ।
> सैन्यस्य भूभुजा कार्यं तस्मात्तद्वेगवत्तरम् ॥ १ ॥

अथाश्वबलस्य माहात्म्यमाह—

अश्वबलप्रधानस्य हि राज्ञः कदनकन्दुकक्रीडाः प्रसीदन्ति, भवन्ति दूरस्था अपि करस्थाः शत्रव आपत्सु सर्वमनोरथसिद्धयस्तुरंगमा एव शरणमवस्कन्दः परानीकभेदने च तुरंगमसाध्यमेतत् ॥ ८ ॥

समा भूमिर्धनुर्वेदविदो रथारूढाः प्रहर्तारो यदा तदा किमसाध्यं नाम नृपाणां ॥ ११ ॥

टीका—यदा धनुर्वेदविदो महाधानुष्का रथारूढा भवन्ति तथा समा गर्तपाषाणरहिता भूमिर्भवति । किंविशिष्टा धानुष्काः ? प्रहर्तारो युद्धशौण्डास्तदा किं नामाहो असाध्यं भवति । केषां ? नृपाणां । सर्वमेव साध्यमित्यर्थः । तथा च शुक्रः —

रथारूढाः सुधानुष्का भूमिभागे समे स्थिताः ।
युध्यन्ते यस्य भूपस्य तस्यासाध्यं न किंचन ॥ १ ॥

अथ भूपोऽपि रथमारुह्यमाह—

रथैरवमर्दितं परबलं सुखेन जीयते मौल-भृत्यक-भृत्य-श्रेणी-मित्राटविकेषु पूर्वं पूर्वं बलं यतेत ॥ १२ ॥

टीका—रथैरवमर्दितं परबलं[1] परराजा सुखेन जीयते व्यापादयते साम्परायिकं समाहि(?) व्यापादयितुं यत्नेन च न कुर्यात् । तत्तु मौलभृत्यकभृत्यश्रेणीमित्राटविकेषु, मूले भवा मौला ये पोष्यार, तथा भृत्यक नियोगिनः, तथा भृत्याः सामान्यसेवकाः, तथा श्रेणिसंज्ञा ये [illegible] [illegible], तथा मित्रसंज्ञा ये सुहृदः [illegible] ये [illegible] कुर्वन्ति, तेषु मध्यादपि बहुले तेन पूर्वं प्रथमं बहुले [illegible] वि-जिगीषुणा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । तथा च [illegible] —

रथैर्विमर्दितं पूर्वं परसैन्यं जयेन्नृप ।
पश्चाद्भृत्यैः समादिष्टैर्मौलाद्यैः सगुणैश्च ॥ १ ॥

[illegible]

अथान्यः [illegible] [illegible] [illegible]

[1] [illegible]

अथ स्वामिप्रसादस्य यो गुणः सेवकानां तमाह—

न तथार्थः पुरुषान् योधयति यथा स्वामिसम्मानः ॥ १६ ॥

टीका—न तथार्थः पुरुषान् योधयति संग्रामं कारयति यथा प्रभुसम्मानं योधयति । तथा च नारायणः—

> न तथा पुरुषानर्थः प्रभूतोऽपि महाहवे ।
> कारापयति योद्धॄणां स्वामिसंभावना यथा ॥ १ ॥

अथ सैन्यस्य विरक्ति कारणान्याह—

स्वयमनवेक्षणं देयांशहरणं कालयापना व्यसनाप्रतीकारो विशेषविधावसंभावनं च तंत्रस्य विरक्तिकारणानि ॥ १७ ॥

टीका—एतानि पंच तंत्रस्य सैन्यस्य विरक्तिकारणानि । कानि तानि ? स्वयमनवेक्षणं तावत् स्वयमात्मनैव यन्नित्यमेव नावेक्ष्यते । तथा देयांशहरणं देयं वृत्तिलक्षणं यत् तस्य मध्यादंशहरणं विभागग्रहणं । तथा कालयापना दानकाले यासौ वृत्तिः दानलक्षणा तस्य यासौ यापना विलम्बलक्षणा तस्या अभ्यासनं मेरनं व्यसने आपत्काले प्रतीकारचिंता न क्रियते । (विशेषैर्विधौ विशिष्टे काले पुत्रोत्सवादिसमये असंभावनं किंचिद्दानं)। तथा च भारद्वाजः—

> यः सैन्यं वीक्षते नैव वृत्तिभंगं करोति च ।
> न काले यच्छते वृत्तिं न विशेषं करोति च ॥ १ ॥
> विशेषदर्शिते लोके न विशेषं करोति च ।
> व्यसने च प्रतीकारं यः स्वामी न करोति च ॥ २ ॥
> तस्य तंत्रं प्रयात्येव विरक्तं सर्वता दिशं ।
> तस्मात्सर्वप्रयत्नेन तोष्यं तत्र महीभुजा ॥ ३ ॥

अथ सैन्यमनाराधयन् क्षितिपतेर्यद्भवति तदाह—

---

१ नारस्यायं कंगदयः पाठः पुस्तके किन्तु कल्पितः ।

स्वयमवेक्षणीय सन्य परैरवेक्षयन्नर्थतंत्राभ्यां परिहीयते॥१८॥

टीका—परिहीयते हीनो भवति। काभ्यां? अर्थतंत्राभ्यां। किं कुर्वन्? स्वयमवेक्षणीयमात्मनावेक्षणीयं यत्सैन्यं तदन्येषां पार्श्वादवलोकयन्। तत-स्तत्सीदति तस्माद्भुजा स्वयमेव सैन्यमवलोकनीयं। तथा च जैमिनिः—

> स्वयं नालोकयेत्तंत्रं प्रमादाद्यो महीपतिः।
> तदन्यैः प्रेक्षितं धूर्तैर्विनश्यति न संशयः ॥ १ ॥

अथ येषु येषु पदार्थेषु प्रतिहस्ता न क्रियन्ते तानाह—

आश्रितभरणे स्वामिसेवायां धर्मानुष्ठाने पुत्रोत्पादने च खलु न सन्ति प्रतिहस्ताः ॥ १९ ॥

टीका—एतेषु चतुर्षु पदार्थेषु न सन्ति न विद्यन्ते न क्रियन्त इत्यर्थः। के ते? प्रतिहस्ताः। केभ्यित्याह, आश्रितभरणे तावत् ये आश्रिता सेवका भवन्ति तेषां स्वयं दृष्ट्वा भक्तकं देयं न परहस्तेन। तथा स्वामिसेवायां यत्प्रयोजनं भवति तत्स्वयमेव विज्ञाप्य स्वामिने (ना) नान्यस्य मुखेन। तथा धर्मानुष्ठाने धर्मकृत्यं यद्भवति तत्स्वयमेव कार्यं नान्यपार्श्वात्कारापनीयं। तथा च शुक्रः—

> भृत्यानां पोषणं हस्ते स्वामिसेवाप्रयोजनं।
> धर्मकृत्यं सुतोत्पादं परपार्श्वान्न कारयेत् ॥ १ ॥

अ[illegible]आश्रितानां [illegible]

तावदयं यावदाश्रिताः सम्पूर्णतामाप्नुवन्ति ॥ २० ॥

टीका—आश्रितानां सेवकानां [illegible] भवन्ति तेषां तावदेव [illegible] [illegible]सम्पूर्णतामनुभवन्ति न केनापि सीदन्ति। तथा च शुक्रः—

> आश्रिता यस्य सीदन्ति बान्धवाश्च महीपतेः।
> स सर्वैर्देहजं [illegible] [illegible] ॥ १ ॥

१ अयं [illegible] नास्ति पुस्तके।

अथ राज्ञो वृत्तिमयच्छतो भृत्यस्य यत्कृत्यं तदाह—

न हि स्वं द्रव्यमव्ययमानो राजा दण्डनीयः ॥ २१ ॥

टीका—सेवकानां यदि राजा वृत्तिं न प्रयच्छति तद्दृष्टान्त मार्ग भवति साम्नैव त्याज्यः । तथा च शुक्रः—

वृत्त्यर्थं कलहः कार्यो न भृत्यैर्भूभुजा समं ।
यदि यच्छति नो वृत्तिं नमस्कृत्य परित्यजेत् ।' १ ॥

को नाम सचेताः सगुडं चौर्यात्खादेत ॥ २२ ॥

टीका—गतार्थमेतत् ।

अथ सतृष्णस्य राज्ञो दृष्टान्तमाह—

किं तेन जलदेन यः काले न वर्षति ॥ २३ ॥

टीका—गतार्थमेतत् ।

स किं स्वामी य आश्रितेषु व्यसने न प्रविधत्ते ॥ २४ ॥

टीका—गतार्थमेतत् ।

अथाविशेषज्ञस्य राज्ञो यद्भवति तदाह—

अविशेषज्ञे राज्ञि को नाम तस्यार्थे प्राणव्ययेनोत्सहेत ॥ २५ ॥

टीका—विशेषरहिते राजनि यो विशेषं न जानाति तस्यार्थे को नामाहो कः प्राणव्ययेन प्राणनाशेनोत्सहेत उत्साहं करोति, अपि तु न कोऽपि । तथा चाङ्गिराः—

काचो मणिर्मणिः काचो यस्य सम्भावनेदृशी ।
कस्तस्य भूपतेरग्रे संग्रामे निधनं व्रजेत् ॥ १ ॥

इति बलसमुद्देशः ।

---

१ मुद्रित–पुस्तके त्वयं पाठो नास्ति न चास्य व्याख्यापि अस्य प्रयो मपि किंचिन्न दृश्यते ।

> दानस्नेहो निजार्थेन्यमुपेक्षा व्यसनेषु च ।
> वैरिसंगोऽप्रशंसा च मित्रदोषाः प्रकीर्तिताः ॥ १ ॥

अथ मैत्रीभेदकारणान्याह—

स्त्रीसंगतिर्विवादोऽभीक्ष्णयाचनमप्रदानमर्थसम्बन्धः परोक्षदोषग्रहणं पैशुन्याकर्णनं च मैत्रीभेदकारणानि ॥ ७ ॥

टीका—स्त्रीसंगतिस्तावन्मित्रभार्यासंगमं संदृश्यते । विवादं यः करोति तथाभीक्ष्णं याचनं । तथाऽप्रदानं न किंचित्कदाचिदपि ददाति । तथार्थसम्बन्धोऽर्थव्यवहारः । तथा परोक्षे दोषग्रहणं । तथा पैशुन्याकर्णनं च यदि कश्चिन्मित्रपैशुन्यं करोति तदा तदाकर्णयति । एतानि [illegible] मैत्रीभेदकारणानीति । तथा च शुक्रः—

> स्त्रीसंगतिर्विवादोऽथ सदार्थित्वमदानता ।
> [illegible] तथा निन्दा पैशुन्यं मित्रवैरिता ॥ १ ॥

अथ क्षीरस्य प्रशंसामाह—

न क्षीरात्परं महदस्ति यत्संगतिमात्रेण करोति नीरमात्मसमं ॥ ८ ॥

टीका—क्षीरादन्यदद्वितीयं न महदस्ति न विद्यते । यत् किं कुर्यात् ? यत् संगतिमात्रेणैव करोति । किं तत् ? नीरं पानीयं । [illegible] [illegible] क्रियते [illegible] । [illegible] । तथा च गौतमः—

> [illegible] करोति [illegible] ।
> [illegible] यथा पयः ॥ १ ॥

अथ नीरस्य [illegible]—

न नीरात्परं महदस्ति यन्मिलितमेव संवर्धयति रक्षति च स्वक्षयेण क्षीरम् ॥ ९ ॥

[illegible]

२४ राजरक्षा-समुद्देशः ।

अथ राजरक्षासमुद्देशो व्याख्यायते । तत्रादावेव राजरक्षाकारण-माह—

राज्ञि रक्षिते सर्वं रक्षितं भवत्यतः स्वेभ्यः परेभ्यश्च नित्यं राजा रक्षितव्यः ॥ १ ॥

टीका—रक्षितव्यो रक्षणीयः । कोऽसौ ? राजा । केभ्यः ? स्वेभ्य आत्मीयेभ्यः सकाशात् तथा परेभ्यः । कथं ? नित्यमेव (तस्मिन् रक्षिते सर्वं रक्षितं भवति यतः) । तथा च रैभ्यः—

> रक्षिते भूमिनाथे तु आत्मीयेभ्यः सदैव हि ।
> परेभ्यश्च यतस्तस्य रक्षा देशस्य जायते ॥ १ ॥

अथ राज्ञो रक्षा यथा भवति तथाह—

अत एवोक्तं नयविद्भिः–पितृपैतामहं महासम्बन्धानुबद्धं शिक्षितमनुरक्तं कृतकर्मणा च जनं आसन्नं कुर्वीत ॥ २ ॥

अथ राज्ञो रक्षा यथा भवति तथाह—

टीका—अत एवोक्तमस्मात् कारणात् । कैः ? नयविद्भिः नीतिविद्भिः । किं-वृत्तमित्याह—पितृपैतामहं जनं आत्मसमीपे कुर्वीत कुर्यादित्यर्थः । किं-विशिष्टं जनं ? महासम्बन्धानुबद्धं महान् योऽसौ परिणयन् सम्बन्धेना-बद्धं दक्षितं । तथा शिक्षितं विचक्षणं । तथानुरक्तं कृतकर्माणं येन कर्माणि कृतानि । तथा पितृपैतामहमन्वयागतं समासन्नं कुर्यात् । तथा च गुरुः—

> वंशजं च सुसम्बन्धं शिक्षितं राजसंयुतं ।
> कृतकर्म जनं पार्श्वे रक्षार्थं धारयेन्नृपः ॥ १ ॥

अथ यादृशं जनं समीपगं न कुर्वीत तादृशमाह—

अन्यदेशीयमकृतार्थमानं स्वदेशीयं चापकृत्योपगृहीतमासन्नं न कुर्वीत ॥ ३ ॥

टीका—अन्यदेशीयमकृतार्थमानं स्वदेशीयं चापकृत्योपगृहीतं जनं समीपे न धारयेन्न स्थापयेत् । कं जनं कथंभूतं ? अन्यदेशीयं । तथा अपकृत्योपगृहीतं अपकृत्य दण्डयित्वोपगृहीतं स्वस्थाने स्थापितं यतस्तस्य चित्तभ्रतिः स्यात् । तथा च गुरुः—

> नियोगिनं समीपस्थं दंडयित्वा न धारयेत् ।
> दण्डको यो न वित्तस्य बाधा चित्तस्य जायते ॥ १ ॥
> अन्यदेशोद्भवं लोकं समीपस्थं न धारयेत् ।
> अपूजितं स्वदेशीयं वा विरुद्धं प्रपूजितं ॥ २ ॥

अथ दण्डयित्वा यः स्थाप्यते तत्स्वरूपमाह—

चित्तविकृतेर्नास्त्यविषयः किन्न भवति मातापि राक्षसी ॥४॥

टीका—चित्ते विकृतिर्विकारो यस्य स तथा तस्य चित्तविकृतेः पुरुषस्य नास्ति कोऽप्यविषयो गोचरं पापं कुर्वाणस्य । यतः किल भवति राक्षसी [illegible] माता । [illegible] [illegible] यदा माता शाकिनी धर्मानुतिष्ठति तदा पुत्रमपि [illegible] । [illegible] च गुरुः —

> यस्य चित्ते विकारः स्यात् सर्वं पापं करोति सः ।
> जातं हन्ति स्वपुत्रं माता शाकिनीमार्गमाश्रिता ॥ १ ॥

अथ [illegible]—

अस्वामिकाः प्रकृतयः समृद्धा अपि निस्तरीतुं न शक्नुवन्ति ॥ ५ ॥

स्त्रीसुखकृते क्लिश्यति स्त्रीसुखार्थं क्लेशं करोति येन स्त्रीसुखवाञ्छो भवति ।
तथा च गर्गः—

कृषिं सेवां विदेशं च युद्धं वाणिज्यमेव च ।
सर्वं स्त्रीणां सुखार्थाय स तथा कुरुते जनः ॥ १ ॥

अथ स्त्रीसंगरहितस्य पुरुषस्य यद्भवति तदाह—

निवृत्तस्त्रीसंगस्य धनपरिग्रहो मृतमण्डनमिव ॥ ९ ॥

टीका—स्त्रीसंगरहितस्य यः सम्पल्लक्षणो विभवः । स किंविशिष्टः ? मृतमण्डनमिव यथा मृतमण्डनं वृथा न किंचित्सुखमुत्पादयति तथा प्रभूतोऽप्यर्थो व्यर्थो वनितासंगरहितस्य । तथा च वल्लभदेवः—

प्रभूतमपि चेद्वित्तं पुरुषस्य स्त्रियं विना ।
मृतस्य मण्डनं यद्वत् तत्तस्य व्यर्थमेव हि ॥ १ ॥

अथ स्त्रीणां स्वरूपमाह—

सर्वाः स्त्रियः क्षीरोदवेला इव विषामृतस्थानम् ॥ १० ॥

टीका—या एता स्त्रियः ताः सर्वा विषामृतस्थानं । किंविशिष्टा इव ? क्षीरोदवेला इव दुग्धसमुद्रलहर्य इव । तथा च वल्लभदेवः—

नामृतं न विषं किंचिदेकां मुक्त्वा नितम्बिनीम् ।
विरक्ता मारयेद्यस्मात्सुखायत्यनुरागिणी ॥ १ ॥

भूयोऽपि स्त्रीस्वरूपमाह—

मकरदंष्ट्रा इव स्त्रियः स्वभावादेव वक्रशीलाः ॥ ११ ॥

टीका—एता स्त्रियो यास्ता सर्वा वक्रशीला वक्रं शीलं यासां ता [illegible] मकरदं[illegible] वक्रशीला । कस्मात् स्वभावादेव नियमनात् [illegible] इव वक्रशीला
इव । तथा च [illegible]—

स्त्रियोऽतिवक्रा गुरुता यथा दंष्ट्रा झषोद्भवा ।
[illegible] तीक्ष्णत्वादतिभीषणाः ॥ १

अथ भूयोऽपि स्त्रीणां स्वरूपमाह—

न मोहो लज्जा भयं स्त्रीणां रक्षणं किन्तु परपुरुषादर्शनं संभोगः सर्वसाधारणता च ॥ १५ ॥

टीका—स्त्रीणां तावत् कुटुम्बमोहो रक्षणं न करोति, भयं न करोति, लज्जा न करोति। तर्हि कथं रक्षणं भवतीत्याह तासां परपुरुषादर्शनं तावत् अन्यपुरुषदर्शनं यदि न स्यात् । तथा संभोगः कामसेवनं । तथा सर्व-साधारणत्वं च पत्युः सकाशात्सर्वं वाञ्छितं लभते । सर्वसाधारणत्वं, ईर्ष्याधर्मं यदि भर्ता न करोति । एतत्त्रयं स्त्रीणां रक्षणं नान्यत् तथा च जैमिनिः—

> अन्यस्यादर्शनं कोपात् प्रसादः कामसंभवः ।
> सर्वासामेव नारीणामेतद्रक्षत्रयं मतम् ॥ १ ॥

अथ यथा न विरज्यन्ते भर्तुः स्त्रिय तथाह—

दानदर्शनाभ्यां समवृत्तौ हि पुंसि नापराध्यन्ते स्त्रियः ॥१६॥

टीका—नापराध्यन्ते न विरोधं कुर्वन्ति। काः स्त्रियः। कस्मिन् ? पुंसि भर्तरि । किंविशिष्टे ? समवृत्तौ समप्रसादे । काभ्यां ? दानदर्शनाभ्यां । एतदुक्तं भवति यस्य पुरुषस्य बह्व्यः स्त्रियो भवन्ति स यदा तुल्यवृत्तो तुल्यचेष्टितो भवति काभ्यां दानमानाभ्यां विशेषं न करोति तदा ताः सानुरागा भवन्ति । तथा च नारदः —

> दानदर्शनसंभोगं समं स्त्रीषु करोति यः ।
> प्रसादेन विशेषं च न विरज्यन्ति तस्य ताः ॥ १ ॥

अथ परिगृहीतासु स्त्रीषु पुरुषेण यत्कर्तव्यं तदाह—

परिगृहीतासु स्त्रीषु प्रियाप्रियत्वं न मन्येत ॥ १७ ॥

अथ ऋतुस्नातां स्त्रियं न भजति तस्य यद्भवति तदाह—

ऋतावपि स्त्रियमुपेक्षमाणः पितॄणामृणभाजनं ॥ २० ॥

टीका—ऋणभाजनं भवति, केषां ? पितॄणां पूर्वजानां । योऽसौ ऋणभाजनं भवति ? उपेक्षमाणोऽगच्छन् पुरुषः । कां ? ऋतुस्नातां स्त्रियं । तथा च गर्गः—

ऋतुं यच्छति नो योऽत्र भार्यायाः स्नानजे दिने ।
तस्य देया न गृह्णन्ति हव्यं कव्यं च पूर्वजाः ॥ १ ॥

अथ स्त्रीणामृतुप्रदातुः पुरुषस्य यद्भवति तदाह—

अवरुद्धाः स्त्रियः स्वयं नश्यन्ति स्वामिनं वा नाशयन्ति ॥ २१ ॥

टीका—याः स्त्रियोऽवरुद्धा रक्षिता भवन्ति ऋतुमात्रेणापि न सम्भाव्यन्ते ता द्वाभ्यामेकतमं कुर्वन्ति । किं वा स्वयं नश्यन्ति अथवा पतिं नाशयन्ति । तस्मात्पुरुषेणापि देयं स्त्रीणामृतुर्दैवः । तथा च गर्गः-

ऋतुकाले च सम्प्राप्ते न भजेद्यस्तु कामिनीं ।
सा दुःखार्ता प्रणश्येत स्वयं वा नाशयेत्पतिम् ॥ १ ॥

अथर्तुकाले स्त्रियो वर्जिता यत्कुर्वन्ति तदाह—

न स्त्रीणामकर्तव्ये मर्यादास्ति वरमविवाहो नोढोपेक्षणं ॥ २२ ॥

टीका—नास्ति न विद्यते । काऽसौ ? मर्यादा । कासां ? स्त्रीणां । क्व ? अकर्तव्ये । तस्मात् [illegible] विवाहितानामुपेक्षणं [illegible] । तथा च [illegible]

[illegible] स्त्रीणाम[illegible] न [illegible] ।
[illegible] गृहाणां [illegible] ॥ १ ॥

अथ स्त्रीणां [illegible] तदाह—

अकृतरक्षस्य किं कलत्रेणाकृषतः किं क्षेत्रेण ॥ २३ ॥

टीका—गतार्थमेतत्।

सपत्नीविधानं पत्युरसमंजसं च विमाननमपत्याभावश्च चिरविरहश्च स्त्रीणां विरक्तिकारणानि ॥ २४ ॥

टीका—एतानि पंच स्त्रीणां विरक्तिकारणानि । तस्मान्न कार्याणि । एकं सपत्नीविधानं तावत् यदन्या भार्या न विशेषः कार्यः । पत्युरसमंजसं पत्युर्मनोमलिनता । विमाननमपमाननं (?) कार्यं । अपत्याभावो वन्ध्यता । तथा चिरविरहश्च । चिरकाले देशान्तरगमनं पत्युः । तथा च जैमिनिः—

सपत्नी वा समानत्वमपमानमपत्यता ।
देशान्तरगतिः पत्युः स्त्रीणां रागं हरन्त्यमी ॥ १ ॥

अथ स्त्रीणां भूयोऽपि स्वरूपमाह—

न स्त्रीणां सहजो गुणो दोषो वास्ति किंतु नद्यः समुद्रमिव यादृशं गतिमाप्नुवन्ति तादृश्यो भवन्ति स्त्रियः ॥ २५ ॥

टीका—आसां स्त्रीणां सहजो गुणो दोषो वा नास्ति भर्तृगुणेन गुणा भवन्ति, दोषेण दोषाः । केन दृष्टान्तेन ? यादृशं पतिमाप्नुवन्ति तादृश्यो भवन्ति । का इव नद्य इव यथा नद्य समुद्रं पतिं प्राप्य तादृग्रूपा भवन्ति । तथा च शुक्रः—

गुणो वा यदि वा दोषो न स्त्रीणां सहजो भवेत् ।
भर्तुः सदृशतां यान्ति समुद्रस्यापगा यथा ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि स्त्रीस्वरूपमाह—

स्त्रीणां दौत्यं स्त्रिय एव कुर्युस्तैरश्चोऽपि पुंयोगः स्त्रियं दूषयति किं पुनर्मानुष्यः ॥ २६ ॥

टीका—स्त्रीणां विरुद्धं यदौत्य तत्स्त्रीसकाशात् कारापनीयं न पुन

श्वसमुत्थोऽपि दृष्टोऽपि दूषयति सदोषं करोति स्त्रियं किं पुनर्मानुष्यसंभवः संयोगः । तथा च गुरुः—

स्त्रीणां दौत्यं नरेन्द्रेण प्रेष्या नार्यो नरो न वा ।
तिर्यंचोऽपि च पुंयोगो दृष्टो दूषयति स्त्रियं ॥ १ ॥

अत्रि च—

पतिव्रतापि या नारी दृष्ट्वान्यपुरुषसंनिभं ।
गुप्तरां कुरुते वाञ्छां न मैथुनस्य गुरूपम् ॥ १ ॥

अथ स्त्रियो यदर्थं रक्ष्यन्ते तदाह—

वंशविशुद्ध्यर्थमनर्थपरिहारार्थं स्त्रियो रक्ष्यन्ते न भोगार्थं ॥ २७ ॥

टीका—एताः स्त्रियः कस्माद्रक्ष्यन्ते ? वंशविशुद्ध्यर्थं येन वंशस्यान्वयस्य विशुद्धिर्भवति । अनर्थपरिहारार्थं च रक्ष्यन्ते । न भोगार्थं गतार्थं च । तथा च गुरुः—

वंशस्य च विशुद्ध्यर्थं तथानर्थक्षयाय च ।
रक्षितव्याः स्त्रियो विद्वन् भोगाय च केवलम् ॥ १ ॥

अथ पण्याङ्गनानां स्वरूपमाह—

भोजनवत्सर्वसमानाः पण्याङ्गनाः कस्तासु दर्पामर्षयोरवसरः ॥ २८ ॥

टीका—पण्याङ्गना वेश्या समाना [illegible] । [illegible] भोजनवत् यथा भोजनं [illegible] दर्पामर्षा [illegible] तथा वेश्याप [illegible] दर्पामर्षौ वा प्राप्तोपभोग[illegible] च गुरुः—

सर्वसाधारणा वेश्या यथा भोजनमौक्ति [illegible] ।
न प्रत्यया कार्यं [illegible] कोपो न [illegible] ॥ १ ॥

प्रविष्टो हि यथा भेको बिलं सर्पस्य मृत्युभाक् ।
तथा संजायते राजा प्रविष्टो वेश्मनि स्त्रियः ॥ १ ॥

अथ राज्ञा स्त्रीणां विषये यत्कर्तव्यं तदाह—

न हि स्त्रीगृहादायातं किंचित्स्वयमनुभवनीयम् ॥ ३२ ॥

टीका—नानुभवनीयं न भक्षणीयमित्यर्थः । किंचिदपि स्वल्पमपि वस्तु, किंविशिष्टं वस्तु ? आयातं प्राप्तं । कस्मात् ? स्त्रीगृहात् । कथं न भक्षणीयं ? स्वयमात्मना—अधीशेन । तथा च बादरायणः—

स्त्रीणां गृहात् समायातं भक्षणीयं न भूभुजा ।
किंचित्स्वल्पमपि प्राणान् रक्षितुं योऽभिवाञ्छति ॥ १ ॥

नापि स्वयमनुभवनीयेषु स्त्रियो नियोक्तव्याः ॥ ३३ ॥

टीका—स्वयमनुभवनीयेषु स्वयं सेव्येषु भोजनादिषु स्त्रियो न नियोक्तव्या न प्रेरणीया यतो विषादिदोषैर्दूषयन्ति । तथा च भृगुः—

भोजनादिषु सर्वेषु नात्मीयेषु नियोजयेत् ।
स्त्रियो भूमिपतिः क्वापि मारयन्ति यतश्च ताः ॥ १ ॥

अथ स्त्रियो यत्कुर्वन्ति तदाह—

संवननं स्वातंत्र्यं चाभिलषन्त्यः स्त्रियः किं नाम न कुर्वन्ति ॥ ३४ ॥

टीका—एताः स्त्रियः किमपि न कुर्वन्ति, अपि तु सर्वं कुर्वन्ति। संवननं कार्मणमित्यर्थः, [illegible] तथा स्वातंत्र्य [illegible] वर्तेन वाञ्छन्ति । [illegible]

कार्मणं [illegible] सदा [illegible] योषितः ।
[illegible] न विश्वासं [illegible] बन्धनम् ॥ १ ॥

[illegible]

श्रूयते हि किल [illegible] विषविदूषितगण्डूषेण [illegible] जघान गजानमङ्गराजम् । ३५ ॥

टीका—गतार्थमेतत् । एतन्मतविधानकं बृहत्कथायां ।

अथान्यासामपि दुष्टस्त्रीणां [illegible] लिख्यन्ते ।

विषालक्तकदिग्धेनाधरेण वसन्तमतिः शूरसेनेषु सुरतविलासं, विषोपलिप्तेन मणिना वृकोदरी दशार्णेषु मदनार्णवं, निशितनेमिना मुकुरेण मदिराक्षी मगधेषु मन्मथविनोदं, कबरीनिगूढेनासिपत्रेण चन्द्ररसा पाण्ड्येषु पुण्डरीकमिति ॥ ३६ ॥

टीका—[illegible] बृहत्कथायां ज्ञेयानि ।

अथ स्त्रीणां माहात्म्यमाह—

अमृतरसवाप्य इव श्रीज्ञसुखोपकरणं स्त्रियः ॥ ३७ ॥

टीका—[illegible] श्रीज्ञसुखोपकरणं श्रीड-
[illegible] समसुखद्रव्यं च । का [illegible] स्त्रियः । [illegible] कारिण्य इत्यर्थः ।
तथा च शुक्रः—

> लक्ष्मीस्मभवसौख्यस्य कथिता वामलोचनाः ।
> यथा पीयूषवाप्यश्च मनआल्हादिका सदा ॥ १ ॥

अथ तासामेव माहात्म्यमाह-

कस्तासां कार्याकार्यविलोकनेऽधिकारः ॥ ३८ ॥

टीका—[illegible] कोऽधिकारः किं प्रयोजनं [illegible] सर्वदेवता । तथा च [illegible]—

---

१ मेखलामणिनेति पाठान्तरं मु[illegible] सम्बन्ध [illegible] कीडासुखोपकरणमिति लिखितपुस्तके मुद्रितपुस्तके च [illegible] टीकानुसारेण परिवर्तितः ।

स्त्रीणां दुश्चरितं किञ्चिन्न विचार्यं विचक्षणैः ।
नाभिप्रायो न जीवोऽतः यतस्ता अमृतोपमाः ॥ १ ॥

अथ स्त्रीणां येषु येषु कृत्येषु स्वातंत्र्यं दीयते तान्याह—

अपत्यपोषणे गृहकर्मणि शरीरसंस्कारे शयनावसरे स्त्रीणां स्वातंत्र्यं नान्यत्र ॥ ३९ ॥

टीका—आसां स्त्रीणां स्वातंत्र्यं स्वच्छन्दता, एतेषु चतुर्षु स्थानेषु दीयते नान्यत्र । अपत्यपोषणे तावत् बालपुष्टिकरणे, । तथा गृहकर्मणि गृहकृत्ये । तथा शरीरसंस्कारे निजकायमण्डने । तथा शयनावसरे शयनप्रस्तारे । तथा च भागुरिः—

स्वातंत्र्यं नास्ति नारीणां मुक्त्वा कर्मचतुष्टयम् ।
बालानां पोषणं कृत्यं शयनं च विभूषणं ॥ १ ॥

अथातिसक्तस्य स्त्रीषु पुरुषस्य यद्भवति तदाह—

अतिप्रसक्तेः स्त्रीषु स्वातंत्र्यं करपत्रमिव पत्युर्नाविदार्य हृदयं विश्राम्यति ॥ ४० ॥

टीका—अतिप्रसक्तेरतिप्रसंगात् स्त्रीषु यत्स्वातंत्र्यं, तत्किं करोति न विश्राम्यति न विश्रामं गच्छति । किं कृत्वा ? अविदार्य । किं तत् ? हृदयं । कस्य ? पत्युः भर्तुः । किमिव ? करपत्रमिव । तथा च गर्गः—

स्वातंत्र्यं यद्भवेत्स्त्रीणां पुरुषेषु यथेच्छया ।
मर्मच्छेदकक्रकचेन ? हृदयं पुरुषस्य च ॥ १ ॥

अथ स्त्रीवशगतस्य पुरुषस्य यद्भवति तदाह—

स्त्रीवशपुरुषो नदीप्रवाहपतितपादप इव न चिरं नन्दति ॥४१॥

टीका—न दीर्घकालं नन्दति वर्धते । कोऽसौ ? पुरुषः । किंविशिष्टः ? स्त्रीवशगः । क इव ? पादप इव । किंविशिष्टः पादपः ? नदीप्रवाह-

स्त्रीणां दुश्चरितं किंचिन्न विचार्यं विचक्षणैः ।
नाभिप्रायं न जीवोऽतः यतस्ता अमृतोपमाः ॥ १ ॥

अथ स्त्रीणां येषु येषु कृत्येषु स्वातंत्र्यं दीयते तान्याह—

अपत्यपोषणे गृहकर्मणि शरीरसंस्कारे शयनावसरे स्त्रीणां स्वातंत्र्यं नान्यत्र ॥ ३९ ॥

टीका—अत्रा स्त्रीणां स्वातंत्र्यं स्वच्छन्दता, एतेषु चतुर्षु स्थानेषु दीयते नान्यत्र । अपत्यपोषणे तावत् बालपुष्टिकरणे, । तथा गृहकर्मणि गृहकृत्ये । तथा शरीरसंस्कारे निजकायमण्डने । तथा शयनावसरे शयनप्रस्तावे । तथा च भागुरिः—

स्वातंत्र्यं नास्ति नारीणां मुक्त्वा कर्मचतुष्टयम् ।
बालानां पोषणं कृत्यं शयनं च विभूषणं ॥ १ ॥

अथातिसक्तस्य स्त्रीषु पुरुषस्य यद्भवति तदाह—

अतिप्रसक्तेः स्त्रीषु स्वातंत्र्यं करपत्रमिव पत्युर्नाविदार्य हृदयं विश्राम्यति ॥ ४० ॥

टीका—अतिप्रसक्तेरिति [illegible] स्त्रीषु स्वातंत्र्यं, तत् किं करोति न विश्राम्यति न विश्रामं करोति । किं कृत्वा अविदार्य । किं तत् हृदयं । कस्य [illegible] । [illegible] । तथा च [illegible] —

[illegible] ।
[illegible] ॥

अथ [illegible]

[illegible] न [illegible]

टीका [illegible]

[illegible] [illegible]

पतितः। यथा नदीप्रवाहे पतितो वृक्षश्चिरं कालं न वृद्धिं याति तथा पुरुषो स्त्रीवशगतः। तथा च शुक्रः—

न चिरं वृद्धिमाप्नोति यः स्त्रीणां वशगो भवेत्।
नदीप्रवाहपतितो यथा भूमिसमुद्भवः॥ १॥

अथ स्त्रीमाहात्म्यमाह—

पुरुषमुष्टिस्था स्त्री खड्गयष्टिरिव कमुत्सवं न जनयति॥४२॥

टीका—कमुत्सवं न जनयति, अपि सर्वमपि करोति। का सा? स्त्री। केव? खड्गयष्टिरिव करवालवल्लीव। या स्त्री पुरुषमुष्टिस्था भवति पतिव्रतत्वसहिता भवति सा भर्तुः कं न कुर्यान्मनोरथमिति।

या नारी वशगा पत्युः पतिव्रतपरायणा।
सा स्वपत्युः करोत्येव मनोराज्यं हृदि स्थितम्॥ १॥

अथ स्त्रीणां पुरुषेण यत्कर्तव्यं तदाह—

नातीव स्त्रियो व्युत्पादनीयाः स्वभावसुभगोऽपि शास्त्रोपदेशः स्त्रीषु, शस्त्रीषु पयोलव इव विषमतां प्रतिपद्यते॥ ४३॥

टीका—स्त्रियः पत्या पुरुषेण नातीव व्युत्पादनीया नातिशयेन कामशास्त्रपंडिताः कर्तव्या यतः स्वभावसुभगोऽपि कामशास्त्रोपदेशो विषमतां प्रतिपद्यते विरूपतां प्रतिपद्यते करोति। कासु? स्त्रीषु। कास्विव? शस्त्रीष्विव च्छुरिकास्विव। यथा पयोबिन्दुः छुरिकाया निमग्नाया विषमतामुत्पादयति विरूपतां नयति एव कुलस्त्रीणां स्वभावसुभगोऽपि कामशास्त्रोपदेशः कुलस्त्रीणां धर्मं दूषयति। तथा च भारद्वाजः—

न कामशास्त्रतत्त्वज्ञाः स्त्रियः कार्याः कुलोद्भवैः।
यतो वैरूप्यमायान्ति यथा शस्त्र्यं दुसंगमः॥ १॥

---

१ वृक्षः

अथ वेश्याधिरं यथा पुरुषमनुभवंति तदाह—

अध्रुवेन साधिकोऽप्यर्थेन वेश्यामनुभवति ॥ ४४ ॥

टीका—यः पुरुषः अध्रुवेन चलेनार्थेन साधिकेनापि वेश्यामनुभवति स चिरं प्रभूतं कालं तं सेवते यः पुनर्नित्यदानेन स्वल्पेनापि सेवते तस्य त्रुटिर्भवति । तस्माद्वेश्याया नित्यमर्थो न देयः । स्वल्पोऽपि प्रभूतोऽपि कालान्तरेण देयः । येन साऽविद्यमानेऽप्यर्थे कृताशाया न त्यजति । तथा च शुक्रः—

> वेश्यानां नित्यदानं यत् तद्धि दानं शुभं न हि ।
> अपि स्तोकं प्रभूतं च चिरदत्तं सुसिद्धये ॥ १ ॥

अथ वेश्याना नित्यमेवाकारणविसर्जनादनर्थो भवत तदाह—

विसर्जनाकारणाभ्यां तदनुभवे महाननर्थः ॥ ४५ ॥

टीका—एता वेश्याः सर्वसामान्या भवन्ति तद्गृहद्वारो वा गृहादागच्छन्त्यो वा यदि कश्चिद्द्वारतदनुभवं करोति तां अभिलषति । तदनलोभेन सं भजते तनश्च तेन सह प्राणान्तिकं युद्धं भवति स महाननर्थः । तस्माद्वेश्यानामकारणविसर्जनं न कार्यं किं वा गृहेषु धर्तव्यं, अथ कौतुकमात्र मसेव्य मोचनीयाः । तथा च गुरुः—

> किं वा गुप्ताः प्रवर्तव्याः किं वा कौतुकमात्रकं ।
> आनीय ताः प्रमोक्तव्या वेश्याः पुंभिर्विचक्षणैः ॥ १ ॥

अथ वेश्याना स्वरूपमाह—

वेश्यासक्तिः प्राणार्थहानिं कस्य न करोति ॥ ४६ ॥

टीका—वेश्यासु [illegible] यो [illegible] सक्तिं करोति [illegible] तत्कस्य प्राणहानिं न करोति । [illegible] तथा च नारद —

प्राणार्थहानिरेव स्याद्वेश्यायां सक्तितो नृणाम् ।
यस्मात्तस्मात्परित्याज्या वेश्या पुंभिर्धनार्थिभिः ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि वेश्यास्वरूपमाह—

धनमनुभवन्ति वेश्या न पुरुषं ॥ ४७ ॥

टीका—या एता वेश्या उच्यन्ते ता धनमनुभवन्ति न पुरुषं । मूर्खः पुनरेव जानाति ममैषा सानुरागा । यदि पुनर्धनं न प्रयच्छति तत्तत्समुखमपि नावलोकयन्ति । तथा च भारद्वाजः—

न सेवन्ते नरं वेश्याः सेवन्ते केवलं धनम् ।
धनहीनं यतो मर्त्यं संत्यजन्ति च तत्क्षणात् ॥ १० ॥

अथ भूयोऽपि वेश्यानां स्वरूपमाह—

धनहीने कामदेवेऽपि न प्रीतिं बध्नन्ति वेश्याः ॥ ४८ ॥

टीका—न बध्नन्ति कुर्वन्ति। कां? प्रीतिं स्नेहं। काः? वेश्याः। क? धनहीने। किंविशिष्टे? कामदेवेऽपि। तथा च भागुरिः—

न सेव्यते धनैर्हीनः कामदेवोऽपि चेत्स्वयं ।
वेश्याभिर्धनलुब्धाभिः कुष्ठी चापि निषेव्यते ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि वेश्यास्वरूपमाह—

स पुमानानायतिगुर्वी यस्य सानुशयं वेश्यासु दानं ॥४९॥

टीका—स [illegible] भवति। कस्या? आप-त्या [illegible] दानं। किंविशिष्टं? सानुशयं सखेदं। कासु? [illegible]। यस्य पुरुषस्य वेश्यासु विषये सानुशयं दानं भवति स आयत्या परिणामे दुःखी भवति। तथा च नारदः—

प्रदानं यस्य वेश्यासु सखेदं सानुशयं सदा ।
परिणामे सुखाभावोऽस्य जायते नात्र संशयः ॥ १ ॥

अथ वेश्यादानप्रसक्तस्य पुरुषस्य यद्भवति तदाह—

स पशोरपि पशुः यः स्वधनेन परेषामर्थवन्तीं करोति वेश्यां ॥ ५० ॥

टीका—स पुरुषः सर्वेषां पशूनां मध्ये प्रधानः पशुः । यः किं करोति ? योऽर्थवतीं महार्घां । कां ? वेश्यां । केन ? स्वधनेन निजार्थेन । केषां ? परेषामन्येषां । आत्मनोऽपि तावद्वित्तक्षयं करोति, अन्येषामपि । तथा च वल्लभदेवः—

आत्मवित्तेन यो वेश्यां महार्घां कुरुते कुधीः ।
अन्येषां वित्तनाशाय पशूनां पशुः स्मृतः ॥ १ ॥

अथ पुरुषस्य वेश्यासंग्रहो यथा श्रेयःप्रदो भवति तदाह—

आचित्तविश्रान्ते वेश्यापरिग्रहः श्रेयान् ॥ ५१ ॥

टीका—आङ् शब्दो मर्यादायां । आचित्तविश्रान्तेः चित्तविश्रान्ति यावत् पुरुषेण वेश्यासंग्रहः कार्यो न सदैव । एतदुक्तं भवति, वेश्यां दृष्ट्वा यदि चित्तं चलति तत्सेवनीया ततो मोचनीया । एवं कुर्वतः श्रेयः सौख्यं सदैव भवति । तथा च राजपुत्रः—

वेश्यादर्शनतश्चित्तं यदि वाञ्छां करोति च ।
तत्र सेव्याः प्रमोक्तव्या नैव नित्यं कदाचन ॥ १ ॥

अथ पुरुषस्य वेश्यासंग्रहात् यद्भवति तदाह—

सुरक्षितापि वेश्या स्वां प्रकृतिं न मुञ्चति ॥ ५२ ॥

टीका—न मुञ्चति । कासौ ? वेश्या । कां ? प्रकृतिं । किंविशिष्टां स्वां पुरुषान्तरसेवनलक्षणां । लोभोपहता सती पुरुषविशेषान् भजति तस्मात्तया संग्रहो न कार्यः । अथवा नास्ति तस्या दोषः सर्वेऽपि प्राणिनः स्वां प्रकृतिं भजन्ते । तथा च गुरुः—

यद्वेश्या लोभसंयुक्ता स्वीकृतापि नरोत्तमैः ।
सेवयेत्पुरुषानन्यान् स्वभावो दुस्त्यजो यतः ॥ १ ॥

[illegible]

[illegible] परिहरति ॥ ५५ ॥

[illegible] —

[illegible]

न खलु [illegible] नायकस्य परिहरति ॥ ५६ ॥

[illegible]

[illegible] न नायकस्य [illegible] ।
[illegible] कर्तुमन्यथा ॥ [illegible] ॥

अथ मुग्धाऽपि [illegible]माह—

[illegible]

इक्षुरसेनापि सिक्तो निम्बः कटुरेव ॥ ५६ ॥

टीका—निम्बो वृक्षविशेषः स कटुरेव । किंविशिष्टः ? सिक्तः । केन ? इक्षुरसेनापि । तथा च गर्गः—

पिशुनं दानमाधुर्यैः संगतापि कथंचन ।
सिक्तोऽपीक्षुरसेनापि दुस्त्यजा प्रकृतिर्निजा ॥ १ ॥

अथ कुल्यानां पोषणे यद्भवति तदाह—

सन्मानदिवसादायुः कुल्यानामपरिग्रहहेतुः ॥ ५७ ॥

टीका—कुल्यानां सजातीयानां दायादानां सन्मानदिवसादारभ्य यः आयुः तत्प्रदानं तत्प्रग्रह. (?) हेतुर्विनाशकारणं । तथा च शुक्रः

कुल्यानां पोषणं यत्र क्रियते मूढपार्थिवैः ।
आत्मनाशाय तज्ज्ञेयं तस्मात्याज्यं सुदूरतः ॥ १ ॥

अथ दायादानां कोशतन्त्रवृद्धया यद्भवति तदाह—

तंत्रकोशवर्धिनी वृत्तिर्दायादान् विकारयति ॥ ५८ ॥

टीका—विकारयति विकारं नयति । काऽसौ ? वृत्तिर्वर्तनलक्षणा । कान् ? दायादान् । किंविशिष्टा ? कोशतन्त्रवर्द्धिनी । तंत्रं हस्त्यश्वादिकं । कोशो भाण्डागारं । या वृत्तिर्वर्तमान [illegible] सती दायादान् सविकारान् करोति । तथा च गुरुः—

वृत्तिः [illegible] कुल्यानां यथा [illegible] विवर्धते ।
[illegible] ॥ १ ॥

अथ [illegible]

भक्तिविश्रम्भादव्यभिचारिणं कुल्यं पुत्रं वा संवर्धयेत् ॥५९॥

टीका—[illegible] अव्यभिचारिणं । [illegible] । कस्मात् भक्तिविश्रम्भात् [illegible] । तथा च [illegible]—

धर्षणीयोऽपि दायादः पुत्रो वा भक्तिमाग्यदि।
न विकारं करोतिस्म ज्ञात्वा साधुस्ततः परं॥ १॥

अथ दायादस्य पुत्रस्य साधुवृत्तस्य यत्कर्तव्यं तदाह—

विनियुञ्जीत उचितेषु कर्मसु ॥ ६० ॥

टीका—ततोऽविकारं ज्ञात्वोचितेषु कर्मसु विनियुञ्जीत योजयेत्। केषु? कर्मसु अधिकारेषु। किंविशिष्टेषु उचितेषु योग्येषु। तथा च वल्लभदेवः—

स्थानेष्वेव नियोज्यन्ते भृत्या आभरणानि च।
न हि चूडामणिः पादे प्रभवामीति बध्यते॥ १॥

अथ भृत्येन भर्तुः यत्कर्तव्यं तदाह—

भर्तुरादेशं न विकल्पयेत् ॥ ६१ ॥

टीका—भर्तुः स्वामिनो योऽसावादेशस्तं यः सद्भृत्यो भवति स न विकल्पयति। तथा च गुरुः—

स्वाम्यादिष्टस्तु यो भृत्यो न विकल्पपरो भवेत्।
समुद्रतरणार्थाय प्रविशेद्वा हुताशनम्॥ १॥

अथ भृत्येन स्वाम्यादेशो न कार्यस्तदाह—

अन्यत्र प्राणबाधाबहुजनविरोधपातकेभ्यः ॥ ६२ ॥

टीका—प्राणबाधा प्राणविनाशो न तमादेशं मुक्त्वा (बहुजनानां विरोधः पातकं च एतान् मुक्त्वा) नान्यादेशं विकल्पयेत्।

अथ—बलवान् यस्य दायादस्य पक्षो भवति तस्य वशीकरणं यथा भवति तदाह—

बलवत्पक्षपरिग्रहेषु दायिष्वाप्तपुरुषपुरःसरो विश्वासो वशी-

टीका—आप्ता निजा ये पुरुषास्तैरप्रेषितैः प्रजल्पमानैर्यो विश्वासः समुत्पद्यते तद्वशीकरणं तेषु *अन्यत्र गूढचरगुप्तप्रणिधिस्तेषु वशीकरणं* मन्त्रेषां सर्वं चेष्टितं निवेदयतीति । तथा च शुक्रः—

> यद्यप्यत्र दायादा आसन्नारेण चद्यगाः।
> भवन्ति चातिगुप्तैश्च चरैः सम्यग्विशोधिताः ॥ १ ॥

अथ दुर्बोधे सुते दायादे वा यत्कर्तव्यं तदाह—

दुर्बोधे सुते दायादे वा सम्यग्युक्तिभिर्दुरभिनिवेशमवतारयेत् ॥ ६४ ॥

टीका—अवतारयेत् स्फोटयेत् । किं? दुरभिनिवेशं मूर्खाग्रहं । कस्मिन् सति? दुर्बोधे सति मूर्खत्वयुक्ते सति । कस्मिन्? सुते पुत्रे दायादे वा दुरभिनिवेशमवतारयेत् । काभिः कृत्वा? युक्तिभिः प्रपंचैः । एतदुक्तं भवति यदा तु पुत्रो बान्धवो वा विरुद्धो भवति तदा युक्तिभिः सन्तोषः कार्यः । तथा च रैभ्यः—

> पुत्रो वा बान्धवो वापि विरुद्धो जायते यदा ।
> तदा सन्तोषयुक्तस्तु सत्कार्यो भूतिमिच्छता ॥ १ ॥

अथ साधूनां सुचाराणां यो विहतिं करोति तस्य यद्भवति तदाह—

साधूपचर्यमाणेषु विकृतिभजनं स्वहस्ताङ्गाराकर्षणमिव ॥ ६५ ॥

टीका—साधुषु लोकेषूपचर्यमाणेषूपकारं क्रियमाणेषु यद्विकृतिभजनं विरुद्धं क्रियते । तत्किंविशिष्टमिव? स्वहस्ताङ्गाराकर्षणमिव स्वहस्तेन यावदङ्गाराणां कर्षणं क्रियते । तथा च भागुरिः—

> साधूनां विनयाढ्यानां विरुद्धानि करोति यः ।
> स करोति न सन्देहः स्वहस्तेनाग्निकर्षणम् ॥ १ ॥

अथ मातृपितृभ्यामनुज्ञाभ्यामपरवानि धाराणि भवति तदाह—

क्षेत्रबीजयोर्वैकृत्यमपत्यानि विकारयति ॥ ६६ ॥

टीका—तथा च—

यथा पुत्र समाचष्टे मातुः शील स्वकर्मणैः ।
तथा स्याद् जल [illegible] ाति शुभाशुभम् ॥ १ ॥

[illegible] तदकुलीनता स्यात् [illegible] चोक्तिन मातृपितृ- [illegible]

परभूतान्यपत्यानि तानि स्यु [illegible] ।
तानि [illegible] पितृमातृसमुद्भव ॥ २ ॥

[illegible]

कुलविशुद्धिरुभयतः [illegible] प्रसादोऽनुपहतकालसमयश्च श्रीसम्पत्... ...पुत्रोत्तममवतारयन्ति ॥ ६७ ॥

[illegible] गर्भाधा- [illegible] जनयन्ति । [illegible] ताभ्यामुभयतः [illegible] ततश्चानुपहू- [illegible] ानस्यत्वाबा- [illegible] द्वाभ्यामपि ये [illegible] गर्भाधयोगो भक्षणं । [illegible] पुत्रोत्तमो भवतीति । [illegible] —

बीज [illegible] विकृतिमयत ।
तथा मधुसमप्रह [illegible] जायते [illegible] ॥ १ ॥

अथापत्येषु लाभालाभद्वयमाह—

गर्भशर्मजन्मकर्मापत्येषु देहलाभात्मलाभयोः कारणं परमम् ॥ ६८ ॥

टीका—अपत्येषु कर्मसत्येषु एतद्वयाभाव्येन देहलाभात्मलाभयोः कारणमस्ति । कस्य कस्य किं ? देहस्य तावद्गर्भशर्म यदि मातापत्येन शर्मवती तदापत्यस्यापि देहं शरीरं पुष्टमारोग्यं भवति । यदि जन्मकर्म जन्मविधानं शुभं भवति शुभग्रहनिरीक्षितं भवति तदात्मलाभो जीवितलाभ इत्यर्थः । तदपत्यसुखसमुत्पत्तेः कारणमिति । तथा च गुरुः—

गर्भस्थानमपत्यानां यदि सौख्यं प्रजायते ।
तत्स्यैव शुभो देहो जीवितव्यं च जन्मनि ॥ १ ॥

अथ यादृशानां पुत्राणां राज्याधिकारो भवति प्रव्रज्याधिकारश्च तानाह—

स्वजातियोग्यसंस्कारहीनानां राज्यं प्रव्रज्यायां च नास्त्यधिकारः ॥ ६९ ॥

टीका—नास्ति न विद्यते कोऽसावधिकारः । क्व ? राज्ये । केषां ? स्वजातियोग्यसंस्कारहीनानां स्वकीया जातिः स्वजातिस्तया योग्यो योऽसौ संस्कारोऽनुष्ठानं तेन हीना ये तेषामधिकारो नास्ति राज्ये प्रव्रज्यायां च । तथा च गुरुः—

स्वजात्युचितसंस्कारैर्ये नराः परिवर्जिताः ।
अधिकारो न राज्येषु न च तेषां व्रतेषु च ॥ १ ॥

अथ यस्मिन्न्यथा राज्यं लभ्यते तदाह—

असति योग्येऽन्यस्मिन्नङ्गविहीनोऽपि पितृपदमर्हत्यापुत्रोत्पत्तेः ॥ ७० ॥

[illegible] गोऽपि मार्गोऽपि पुन [illegible] न भिन्न । किंप्रकार [illegible] न जाने मति [illegible] । शुक्रः—

[illegible] ॥ १ ॥

[illegible] भवति तदाह—

[illegible] विनयोऽन्वयमभ्युदयं न च दूषयति ॥ ७१ ॥

[illegible] क ? अन्वयं वंशं [illegible] किंविशिष्टो विनयः ! [illegible] जित । तथा च [illegible]—

विनयः साधुभिर्दत्तो [illegible] ।
न दूषयति वंशं तु न राज्यं न च सम्पदम् ॥ १ ॥

अथा[illegible] भवति तदाह—

घुणजग्धं काष्ठमिवाविनीतं राजपुत्रं राजकुलमभियुक्तमात्रं भज्येत ॥ ७२ ॥

[illegible] राजवंशः । यदि किं ? [illegible] । किंविशिष्टं ? अविनीतं दुराचार [illegible] काष्ठं ? घुणजग्धं कृमि विशेषभक्षितं [illegible] न नियोक्तव्यः । तथा च [illegible]—

राजपुत्रो दुराचारो यदि राज्ये [illegible] ।
तद्राज्यं नाशमायाति घुणजग्धं च दारुवत् ॥ १ ॥

अथ यादृक्षा राजपुत्राः पितरं न द्रुह्यन्ति तेषां स्वरूपमाह—

आप्तविद्यावृद्धोपरुद्धाः सुखोपरुद्धाश्च राजपुत्राः पितरं नाभिद्रुह्यन्ति ॥ ७३ ॥

टीका—ये राजपुत्रा आप्तविद्यावृद्धोपरुद्धा भवन्ति । आप्ता निजा ये विद्यावृद्धा विद्वांसो विद्यया कृत्वा ये वृद्धा न जरया तैर्ये उपरुद्धा वृद्धिं नीताः । तथा सुखोपरुद्धाः सुखेन ये वृद्धिं नीतास्ते कदाचिदेव पितरं न द्रुह्यन्ति न व्यापादयन्ति । तथा च गौतमः—

> आप्तैर्विद्याधिकैर्येऽत्र राजपुत्राः सुशिक्षिताः ।
> वृद्धिं गताश्च सौख्येन जनकं न द्रुह्यन्ति ते ॥ १ ॥

अथ राजपुत्राणां मातापितरौ यादृग्भूतौ तदाह—

मातृपितरौ राजपुत्राणां परमं दैवं ॥ ७४ ॥

टीका—माता च पिता च मातृपितरौ राजपुत्राणां । किंविशिष्टौ भवतः ? परमं श्रेष्ठं दैवं प्राक्तनं कर्म यथा । यदि तैरन्यजन्मनि सुकृतं कृतं भवति तन्मातृपितृभ्यां सकाशात् राज्यप्राप्तिर्भवति । अथवा दुष्कृतं कृतं भवति तत्ताभ्यां पादयोर्विनाशो भवति । तथा च गर्गः

> जननीजनकावेतौ प्राक्तनं कर्म विश्रुतौ ।
> सर्वेषां राजपुत्राणां शुभाशुभप्रदौ हि तौ ॥ १ ॥

अथ मातृपितृणां सकाशात् राजपुत्राणां यद्भवति तदाह—

यत्प्रसादादात्मलाभो राज्यलाभश्च ॥ ७५ ॥

टीका—याभ्यां प्रसादात् [illegible] शरीरलाभो राज्यलाभश्च भवति । तथा च रैभ्य —

> अत एव हि विज्ञेयौ जननीजनकावुभौ ।
> दैवं याभ्यां प्रसादेन शरीरं राज्यसम्पदः ॥ १ ॥

अथ ये राजपुत्रा मातृपितृभ्यामवमानं कुर्वन्ति तेषां यद्भवति तदाह

मातृपितृभ्यां मनमाप्यपमानेष्वभिमुखा अपि श्रियो विमुखा भवन्ति ॥ ७६ ॥

टीका—भवन्ति जायन्ते। काः 'श्रियो लक्ष्म्यः'। किंविशिष्टाः 'विमुखा' वैमुख्येन संयुक्ताः। कीदृश्योऽपि 'सम्मुखा अपि सप्रसादा अपि'। केषु सत्सु। किंभूतेषु 'अपमानेषु अपमानपरेषु'। केन कृत्वा 'मनागपि'। आस्तां तावत् कर्तव्येन। काभ्यां 'मातृपितृभ्यां' तस्माद्राजपुत्रेण मनागपि न मातृपितृभ्यामपमानं कार्यं। तथा च नारायणः—

> मनागप्यपमानं यो राजपुत्रः समाचरेत्।
> तस्य मातृपितृभ्यां च तस्य श्रीः स्यात् पराङ्मुखा ॥ १ ॥

अथ मातृपितृभ्यामपमानेन कृत्वा [illegible] राज्येन [illegible] [illegible]—

किं तेन राज्येन यत्र दुरपवादोपहतं जन्म ॥ ७७ ॥

टीका—[illegible] तेन राज्येन [illegible] [illegible]। यत्र किं [illegible] जन्म। किंविशिष्टं दुरपवादोपहतं दुरपवादो दुरपवादः लोकनिन्दा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। तथा च शुक्रः—

> [illegible] [illegible] [illegible] ।
> [illegible] [illegible] [illegible] राजश्रियं [illegible] ॥ १ ॥

[illegible]—

[illegible] [illegible] पितृराज्ञां नो लंघयेत् ॥ ७८ ॥

टीका—[illegible]। तथा च [illegible]—

> [illegible] [illegible] पिता [illegible] [illegible] ।
> [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥ १ ॥

[illegible]—

किन्तु खलु रामः क्रमेण विक्रमेण वा हीनो यः पितुराज्ञया वनमाविवेश ॥ ७९ ॥

टीका—गतार्थमेतत्।

अथ राजपुत्रस्य यथाविरुद्धं न कर्तव्यं तदाह—

यः खलु पुत्रो मनसितपरम्परया लभ्यते स कथमपकर्तव्यः ॥ ८० ॥

टीका—यः पुत्रो लभ्यते। कथं? मनसितपरंपरया देवानामुपयाचितशतैः स कथमपकर्तव्यः कथं तस्य वधादिकं चिन्तनीयमित्यर्थः।

तथा च गुरुः

> उपयाचितसंघातैर्यः कृच्छ्रेण प्रलभ्यते।
> तस्मादात्मजस्य नो पापं चिन्तनीयं कथंचन ॥ १ ॥

अथाशुभस्यापि कर्मणः करणीयमाह—

कर्तव्यमेवाशुभं कर्म यदि हन्यमानस्य विपद्विधानमात्मनो न भवेत् ॥ ८१ ॥

टीका—अशुभमपि कर्म कर्तव्यं पुरुषेण। यदि किं तस्मात्? यदि विपद्विधाने यत्तस्य क्रियते यादृ रक्षणं तदा ह्यात्मनो न भवेत्। एतदुक्तं भवति, पुत्रे हते यदेतस्य कोपि पक्षपातिस्तस्य वचनाधारो न भवेत्, हन्यमानस्यापरस्य यज्ञातं तदात्मनो यदि न भवेत्। तथा च गर्गः—

> अनिष्टमपि कर्तव्यं कर्म पुंभिर्विचक्षणैः ॥
> तस्य चेद्धन्यमानस्य यज्जातं तत्स्वयं भवेत् ॥ १ ॥

अथ राजपुत्राणां यथा सौख्यं भवति तदाह—

ते खलु राजपुत्राः सुखिनो येषां पितरि राज्यभारः ॥८२॥

---

१ अस्यावतरणिकाप्युभय वर्तेते न सूत्र नापि व्याख्या, सूत्र तु मुद्रितमूलपुस्तकात् संयोजितं इतिच कल्पिता।

टीका—(ते राजपुत्रा भवन्ति । किंविशिष्टाः ? सुखिनः सुखम् प्राप्ताः । येषां किं ? येषां राज्यभारः राज्यसंबंधि कृत्यं वर्तते । ? पितरि)। तथा चात्रिः—

> येषां पिता वहेदत्र राज्यभारं सुदुर्वहम् ।
> राजपुत्राः सुखाढ्याश्च ते भवन्ति सदैव हि ॥ १ ॥

अथ राज्यश्रियो दूषणमाह—

अलं तया श्रिया या किमपि सुखं जनयन्ती व्यासंगपरंपराभिः शतशो दुःखमनुभावयति ॥ ८३ ॥

टीका—अलं तया श्रिया पर्याप्तं व्यर्थया तया लक्ष्म्या । या किमपि सुखं कियन्मात्रं स्तोकं शर्म जनयन्ती व्यासंगपरम्पराभिः क्लेशमालाभिः शतस्य प्रभूततरं दुःखं कष्टं अनुभावयति प्रकटयति। तस्मात् क्लेशेन या श्रीः सा श्रीभण्यते नान्या । तथा च [illegible]—

> अल्पसौख्यकरा या च बहुक्लेशप्रदा भवेत् ।
> वृथा सात्र परिज्ञेया लक्ष्मीः सौख्यफला यतः ॥ २ ॥

अथ निष्फलस्यारम्भस्य स्वरूपमाह—

निष्फलो ह्यारम्भः कस्य नामोदर्केण सुखावहः ॥ ८४ ॥

टीका—फलरहितो य आरम्भः प्रयोजनं न कस्यापि परिणामकाले सुखावहः सुखं जनयेत् न [illegible] तथा च—

> [illegible] ।
> [illegible] ॥ [illegible] ॥

अथ परक्षेत्रं यः कृषति कर्षापयति वा [illegible] तस्य तद्भवति तदाह—

परक्षेत्रं स्वयं कृषतः कर्षापयतो वा फलं पुनस्तस्यैव यस्य तत्क्षेत्रम् ॥ ८५ ॥

---

१ त्रुटितोऽयं श्लोकः कर्तुर्नाम च ।

२५ दिवसानुष्ठान-समुद्देशः ।

अथ सर्वेषां सामान्यो नियमो ... तत्र ...
प्रथमं कर्तव्य सूत्र—

ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थायेति कर्तव्यतायां समाधिमुपेयात् ॥ १ ॥

सुखनिद्राप्रसन्ने मनसि प्रतिफलन्ति यथार्थवादिनः स्वप्नाः ॥ २ ॥

उदयास्तमनशायिषु धर्मकालातिक्रमः ॥ ३ ॥

आत्मवक्त्रमाज्ये दर्पणे वा निरीक्षेत ॥ ४ ॥

न प्रातर्वर्षधरं विकलाङ्गं वा पश्येत् ॥ ५ ॥

सन्ध्यास्वधौतमुखपादं जपन्तं देवता नानुगृह्णन्ति ॥ ६ ॥

नित्यमदन्तधावनस्य नास्ति मुखशुद्धिः ॥ ७ ॥

न कार्यव्यासङ्गेन शारीरं कर्मोपहन्यात् ॥ ८ ॥

न खलु युगैरपि तरङ्गविगमात् सागरे स्नानं ॥ ९ ॥

वेग व्यायाम स्वाप स्नान भोजन स्वच्छन्दवृत्तिं कालान्नोपरुन्ध्यात् ॥ १० ॥

शुक्रमलमूत्रमरुद्वेगसंरोधोऽश्मरी-भगंदरगुल्मार्शसां हेतुः ॥ ११ ॥

गन्धलेपावसानं शौचमाचरेत् ॥ १२ ॥

बहिरागतो नानाचम्य गृहं प्रविशेत् ॥ १३ ॥

गोसर्गे व्यायामो रसायनमन्यत्र क्षीणाजीर्णवृद्धवातकिरूक्ष-मोजिभ्यः ॥ १४ ॥

शरीरायासजननी क्रिया व्यायामः ॥ १५ ॥

शस्त्रवाहनाभ्यासेन व्यायामं सफलयेत् ॥ १६ ॥

आदेहस्वेदं व्यायामकालमुशन्त्याचार्याः ॥ १७ ॥

बलातिक्रमेण व्यायामः कां नाम नापदं जनयति ॥ १८ ॥

अव्यायामशीलेषु कुतोऽग्निदीपनमुत्साहो देहदार्ढ्यं च ॥१९॥

इन्द्रियात्ममनोमरुतां सूक्ष्मावस्था स्वापः ॥ २० ॥

यथासात्म्यं स्वपाद्भुक्तान्नपाको भवति प्रसीदन्ति चेन्द्रि-याणि ॥ २१ ॥

अपठितमपिहितं च भाजनं न गाधयत्यन्नानि ॥ २२ ॥

नित्यस्नानं द्वितीयकमुत्सादनं तृतीयकमायुष्यं चतुर्थकं प्रत्यायुष्यमित्यहीनं सेवेत ॥ २३ ॥

धर्मार्थकामशुद्धिदुर्जनस्पर्शाः स्नानस्य कारणानि ॥ २४ ॥

श्रमस्वेदालस्यविगमः स्नानस्य फलं ॥ २५ ॥

---

१ इन्द्रियात्ममनोगता मु । २ यथासात्म्य मु । ३ अपठित मु । ४ [illegible] नास्ति मु-पुस्तके । ५ [illegible] इत्यादि [illegible] (१) [illegible] इत्यादि पाठः मु-पुस्तके । ६ धर्मार्थ [illegible] मु-पुस्तके ।

जलचरस्येव तज्जलानं यत्र न सन्ति देवगुरुधर्मोपासनानि ॥ २६ ॥

प्रादुर्भवत्क्षुत्पिपासोऽभ्यङ्गस्नानं कुर्यात् ॥ २७ ॥

आतपसंतप्तस्य जलावगाहो दृग्मान्द्यं शिरोव्यथां च करोति ॥ २८ ॥

बुभुक्षाकालो भोजनकालः ॥ २९ ॥

अक्षुधितेनामृतमप्युपभुक्तं च भवति विषं ॥ ३० ॥

जठराग्निं वज्राग्निं कुर्वन्नाहारादौ सदैव वज्रकं चलयेत् ॥ ३१ ॥

निरन्नस्य सर्वं द्रवद्रव्यमग्निं नाशयति ॥ ३२ ॥

अतिश्रमपिपासोपशान्तौ पेयायाः परं कारणमस्ति ॥ ३३ ॥

घृताधरोत्तरभुञ्जानोऽग्निं दृष्टिं च लभते ॥ ३४ ॥

सकृद्भूरि नीरोपयोगो वह्निमवसादयति ॥ ३५ ॥

क्षुत्कालातिक्रमादन्नद्वेषो देहसादश्च भवति ॥ ३६ ॥

विध्याते वह्नौ किं नामेन्धनं कुर्यात् ॥ ३७ ॥

यो मितं भुङ्क्ते स बहु भुङ्क्ते ॥ ३८ ॥

अप्रमितमसुखं विरुद्धमपरीक्षितमसाधुपाकमतीतरसमकालं चान्नं नानुभवेत् ॥ ३९ ॥

[illegible] अधिनमतिक्रूरं च न [illegible] संनिधापयेत् ॥ ४० ॥

[illegible]

अतिमात्रभोजी देहमग्निं च विधुरयति ॥ ४५ ॥

दीप्तो वन्हिर्लघुभोजानाद्बलं क्षपयति ॥ ४६ ॥

अत्यशितुर्दुःखेनान्नपरिणामः ॥ ४७ ॥

श्रमार्तस्य पानं भोजनं च ज्वराय छर्दये वा ॥ ४८ ॥

न जिहत्सुर्न प्रस्रोतुमिच्छुर्नासमञ्जसमनाश्च नानपनीय पिपासोद्रेकमश्नीयात् ॥ ४९ ॥

भुक्त्वा व्यायामव्यवायौ सद्यो व्यापत्तिकारणं ॥ ५० ॥

आजन्मसात्म्यं विषमपि पथ्यं ॥ ५१ ॥

असात्म्यमपि पथ्यं सेवेत न पुनः सात्म्यमप्यपथ्यं ॥५२॥

सर्वं बलवतः पथ्यमिति न कालकूटं सेवेत ॥ ५३ ॥

सुशिक्षितोऽपि विषतंत्रज्ञो म्रियत एव कदाचिद्विषात्॥५४॥

संविभज्यातिथिष्वाश्रितेषु च स्वयमाहरेत् ॥ ५५ ॥

देवान् गुरून् धर्म चोपचरेन्न व्याकुलमतिः स्यात् ॥ ५६ ॥

व्याक्षेपभूमनोनिरोधो मन्दयति सर्वाण्यपीन्द्रियाणि ॥५७॥

स्वच्छन्दवृत्तिः पुरुषाणां परमं रसायनं ॥ ५८ ॥

यथाकामसमीहानाः किल काननेषु करिणो न भवन्त्यास्पदं व्याधीनां ॥ ५९ ॥

सतत सव्यमाने द्वे एव वस्तुनी सुखाय सरस स्वैरालाप स्ताम्बूलभक्षणं च ॥ ६० ॥

चिरायोर्ध्वजानुर्जडयति रसवाहिनीः स्नसाः ॥ ६१ ॥

१ लघ्वदन मु । २ क्षिति मया मु । ३ आहार मु । ४ आकुलमतिः मु । ५ स्मरा[illegible] मु । ६ सुखावेति मु. पुस्तके नास्ति । ७ संमेधेरालापः [illegible] च मु । ८ चिरमूर्ध्वस्थो मु । ९ वाहिनीर्नसा मु पुस्तके ।

सतनमुपविष्टो जठरमाप्याययति प्रतिपद्यते च तुन्दिलतां वायुं मनसि शरीरे च ॥ ६२ ॥

अतिमात्रं खेदः पुरुषमकालेऽपि जरया योजयति ॥ ६३ ॥

नादेवं देहप्रासादं कुर्यात् ॥ ६४ ॥

देवगुरुधर्मरहिते पुंसि नास्ति प्रत्ययः ॥ ६५ ॥

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषो देवः ॥ ६६ ॥

तस्यैवैतानि खलु विशेषनामान्यर्हन्नजोऽनन्तः शम्भुर्बुद्धस्तमोऽन्तक इति ॥ ६७ ॥

आत्मसुखानुरोधेन कार्याय नक्तमहश्च विभजेत् ॥ ६८ ॥

कालानियमेन कार्यानुष्ठानं हि मरणसमं ॥ ६९ ॥

आत्यन्तिके कार्ये नास्त्यवसरः ॥ ७० ॥

अवश्यं कर्तव्ये कालं न यापयेत् ॥ ७१ ॥

आत्मरक्षायां कदाचिदपि न प्रमाद्येत ॥ ७२ ॥

सवत्सां धेनुं प्रदक्षिणीकृत्य धर्मासनं यायात् ॥ ७३ ॥

अनधिकृतोऽनभिमतश्च न राजसभां प्रविशेत् ॥ ७४ ॥

आराध्यमुत्थायाभिवादयेत् ॥ ७५ ॥

देवगुरुधर्मकार्याणि स्वयं पश्येत् ॥ ७६ ॥

कुहकाभिचारकर्मकारिभिः सह न सङ्गच्छेत् ॥ ७७ ॥

प्राण्युपघातेन कामक्रीडां न प्रवर्तयेत् ॥ ७८ ॥

जनन्यापि परस्त्रिया सह रहसि न तिष्ठेत् ॥ ७९ ॥

नातिक्रुद्धोऽपि मान्यमतिक्रामेदवमन्येत वा ॥ [illegible] ॥

[illegible]

[illegible]

नाप्ताशोधितपरस्थानमुपेयात् ॥ ८१ ॥

नाप्तजनैरनारूढं वाहनमध्यासीत ॥ ८२ ॥

न स्वैरपरीक्षितं तीर्थं सार्थं तपस्विनं वाभिगच्छेत् ॥ ८३

नयष्टिकैरविविक्तं मार्गं भजेत ॥ ८४ ॥

न विषापहारौषधमणीन् क्षणमप्युपासीत ॥ ८५ ॥

मंत्रिभिषग्नैमित्तिकरहितः कदाचिदपि न प्रतिष्ठेत् ॥ ८६

वह्नावन्यचक्षुषि च भोज्यमुपभोग्यं च परीक्षेत ॥ ८७ ॥

अमृते मरुति प्रविशति सर्वदा चेष्टेत ॥ ८८ ॥

भुक्तिसुरतसंग्रामार्थी दक्षिणे मरुति स्यात् ॥ ८९ ॥

परमात्मना समीकुर्वन् न कस्यापि भवति द्वेष्यः ॥ ९०

मनःपरिजनशकुनपवनानुलोम्यं भविष्यतः कार्यस्य सिद्धेर्लिंगम् ॥ ९१ ॥

नैको नक्तं दिवा वा हिंडेत ॥ ९२ ॥

नियमितमनोवाक्कायः प्रतिष्ठेत ॥ ९३ ॥

अहनि संध्यामुपासीतानक्षत्रदर्शनात् ॥ ९४ ॥

चतुःपयोधिपयोधरां धर्मवत्सवतीमुत्साहबालधिं 'वर्णाश्रमखुरां कामार्थश्रवणां नयप्रतापविषाणां सत्यशौचचक्षुषं न्यायमुखीमिमां गां गोपयामि, अतस्तमहं मनसापि न सहे योऽपराध्येत्तस्मै इतीमं मंत्रं समाधिना जपेत् ॥ ९५ ॥

[illegible] मु॰ । ४ मणि-
[illegible] न धारयेत्' मु॰ ।
[illegible] -पुस्तके नास्ति ।
[illegible] ऽहिंडेत् मु॰ । १२
[illegible] यमा [illegible] मु॰ । १५
[illegible]

कोकवद्दिवाकामो निशि स्निग्धं भुञ्जीत ॥ ९६ ॥

चकोरवन्नक्तंकामो दिवा च ॥ ९७ ॥

पारावतकामो वृष्यान्नयोगान् चरेत् ॥ ९८ ॥

बष्कयणीनां सुरभीणां पयःसिद्धं माषदलपरमान्नं परो योगः स्मरसंवर्धने ॥ ९९ ॥

नावृषस्यन्तीं स्त्रीमभियायात् ॥ १०० ॥

उत्तरप्रवर्षवान् प्रदेशः परमरहस्यमनुरागे प्रथमप्रकृतीनां ॥ १०१ ॥

स्त्रीपुंसयोर्न समसमायोगात्परं वशीकरणमस्ति ॥ १०२ ॥

प्रकृतिरुपदेशः स्वाभाविकं च प्रयोगवैदग्ध्यमिति समसमायोगकारणानि ॥ १०३ ॥

क्षुत्तर्षपुरीषाभिष्यन्दार्तस्याभिगमो नापत्यमनवद्यं करोति ॥ १०४ ॥

न सन्ध्यासु न दिवा नाप्सु न देवायतने मैथुनं कुर्वीत ॥१०५॥

पर्वणि पर्वणि संधौ उपहते वाह्नि कुलस्त्रियं न गच्छेत् ।१०६।

न तद्गृहाभिगमने कामपि स्त्रियमधिशयीत ॥ १०७ ॥

वंशवयोवृत्तविद्याविभवानुरूपो वेषः समाचारो वा कं न विडम्बयति ॥ १०८ ॥

[illegible]

अपरीक्षितमशोधितं च राजकुले न किंचित्प्रवेशयेन्निष्कास येद्वा ॥ १०९ ॥

श्रूयते हि स्त्रीवेषधारी कुन्तलनरेन्द्रप्रयुक्तो गूढपुरुषः कर्ण निहितेनासिपत्रेण पल्लवनरेन्द्रं हयपतिश्च मेषविषाणनिहितेन विषेण कुशस्थलेश्वरं जघानेति ॥ ११० ॥

सर्वत्राविश्वासे नास्ति काचित्क्रिया ॥ १११ ॥

इति दिवसानुष्ठानसमुद्देशः ।

२६ सदाचार–समुद्देशः

लोभप्रमाद विश्वासैर्बृहस्पतिरपि पुरुषो वध्यते वञ्च्यते वा॥१॥

टीका—........ .. . .।

अविरोधेन यत्कर्तव्यं तदाह—

बलवताधिष्ठितस्य विदेशगमनं तदनुप्रवेशो वा श्रेयानन्यथा नास्ति क्षेमोपायः ॥ २ ॥

टीका—बलवताधिष्ठितस्य गृहीतस्य विदेशवासः परदेशगमनं श्रेयः श्रेयस्करं भवति। अथवा तदनुप्रवेशस्तेन सह संधानं श्रेयस्करमिति। तथा च शुक्रः—

> बलवान् स्याद्यदा शत्रुस्तदा देशं परित्यजेत्।
> तेनैव सह सन्धिं वा कुर्यान्न स्थीयतेऽन्यथा ॥ १ ॥

अथ परदेशस्य दोषमाह—

विदेशवासोपहतस्य पुरुषकारः को नाम येनाविज्ञातस्वरूपः पुमान् स तस्य महानपि लघुरेव ॥ ३ ॥

टीका—विदेशवासोपहतस्य दूषितस्य पुरुषस्य को नामाहो तद्दिक् पुरुषकारः। कस्मात्! येन पुरुषेण न ज्ञायते स महानपि तस्याधमस्यापि लघुर्भवति नादरमाप्नोतीत्यर्थ (१)। तथा चात्रि.—

> महानपि विदेशस्थः स परैः परिभूयते।
> अज्ञानमानैस्तद्देशमाहात्म्यं तस्य पूर्वकं ॥ १ ॥

अथालब्धप्रतिष्ठितस्य यद्भवति तदाह—

अलब्धप्रतिष्ठितस्य निजान्वयेनाहङ्कारः कस्य न लाघवं करोति ॥ ४ ॥

---

१ पुरुषप्रयत्न । २ अज्ञायमानः इति सुमाति।

व्याधिग्रस्तस्य यद्धैर्यं तदेव परमौषधं ।
नरस्य धैर्यहीनस्य किमौषधशतैरपि ॥ १ ॥

अथ महाभागः पुरुषो यथोच्यते तदाह—

स महाभागो यस्य न दुरपवादोपहतं जन्म ॥ ८ ॥

टीका—स पुरुषोऽत्र जगति महाभाग उच्यते । किं तस्य ? दुरपवादोपहतं कुत्सितदोषोपहतं जन्म न भवति । तथा च गर्गः—

आजन्ममरणान्तं च वाच्यं यस्य न जायते ।
सुसूक्ष्मं स महाभागो विज्ञेयः क्षितिमण्डले ॥ १ ॥

अथ मन्दमतीनां यद्भवति तदाह—

परार्धेष्वर्थेषु स्वोत्कर्षसंभावनं मन्दमतीनां ॥ ९ ॥

टीका—मन्दमतीनां दुष्टबुद्धीनां पुरुषाणां स्वोत्कर्षसंभावनं भवति निजाल्हादोत्कर्षो भवति । केषु ? अर्थेषु प्रयोजनेषु । किंविशिष्टेषु पराधी-
यो मूर्खो भवति स आत्मीयानि तानि मन्यमानस्तुष्टिं याति । तथा
[illegible]शिकः—

कार्येषु सिद्ध्यमानेषु परस्य धनगेषु च ।
आत्मीयेष्विव तेष्वेव तुष्टिं याति स मन्दधीः ॥ १ ॥

[illegible]थ भयेषु यथा प्रकारो भवति तदाह—

[illegible] भयेषु विषादः प्रतीकारः किन्तु धैर्यावलम्बनं ॥ १० ॥

[illegible]का—न भयेषु भयस्थानेषु प्रतीकार उपकारको भवति । कोऽसौ ?
[illegible] हृदयक्षोभ, नहि उपकारक को भवति ? धैर्यावलम्बन भवति
[illegible]स्थिति । तथा च भृगु

भयस्थाने विषादं यः कुरुते स विनश्यति ।
तस्य तज्जय द (?) ज्ञेय यच्च धैर्यावलम्बनं ॥ १ ॥

[illegible]थ धानुष्केन तपस्विना च यत्कर्तव्य तदाह—

यन्प्रयच्छति न स्वामी सेवितोऽप्यल्पकं फलं ।
कल्पवृक्षोपमोऽन्येषां तत्फलं पूर्वकर्मणः ॥ १ ॥

अथ सदा दुःखितः पुरुषो यथा भवति तदाह—

स सदैव दुःखितो यो मूलधनमसंवर्धयन्ननुभवति ॥ २० ॥

टीका—स पुरुषः सदैव दुःखितो भवति। यः किं करोति? अनुभवति व्ययं करोति। किं कुर्वन्? असंवर्धयन्। किं सत्? मूलधनं पितृपैतामहं नाम। कथमसंवर्धयन्? केवलं। केवलं भक्षयन् न वृद्धिं नयति सदा दुःखितो दरिद्रो भवतीत्यर्थः। तथा च गौतमः—

न वृद्धिं यो नयेद्वित्तं पितृपैतामहं कुधीः ।
केवलं भक्षयन्नेव स सदा दुःखितो भवेत् ॥ १ ॥

अथ मूर्खदुर्जनपतितैः सह संगेन यद्भवति तदाह—

मूर्खदुर्जनचाण्डालपतितैः सह संगतिं न कुर्यात् ॥ २१ ॥

टीका—न कुर्यान्न विदधीत। कां? संगतिं मैत्रीं। कथं? सह सार्द्धं। कैः? मूर्खदुर्जनपतितचाण्डालैः। तथा च—

मूर्खदुर्जनचाण्डालैः संगतिं कुरुतेऽत्र यः ।
स्वप्नेऽपि न सुखं तस्य कथंचिदपि जायते ॥ १ ॥

अथ क्षणिकचित्तानुरागलक्षणमाह—

किं तेन तुष्टेन यस्य हरिद्राराग इव चित्तानुरागः ॥ २२ ॥

टीका—किं तेन पुरुषेण तुष्टिं गतेन। यस्य किं? यस्य चित्तानुरागो हरिद्राराग इव—क्षणमात्रं सततं न भवति। तथा च जैमिनिः—

आजन्ममरणान्ते यः स्नेहः स स्नेह उच्यते
साधूनां यः खलानां च हरिद्राराग सन्निभः ॥ १ ॥

अथात्मानमजानन् यः पराक्रमं करोति तमाह—

स्वात्मानमविज्ञाय पराक्रमः कस्य न परिभवं करोति ॥ २३ ॥

टीका—कस्य परामत्रं न करोति अपि तु मर्त्यस्यापि जनस्य कोऽसौ? विक्रमः पराक्रमः। किं कृत्वा? अविज्ञाय। किं तत्? आत्मानं तस्मादात्मानं विज्ञाय शत्रोरुपरि विक्रमः कार्यः। तथा च वल्लभदेवः—

यः परं केवलो याति प्रोन्नतं मदमाश्रितः।
विमदः स निवर्तेत शीर्णदन्तो गजो यथा॥ १॥

पराभियोगस्य यदुत्तरं भवति तदाह—

नाक्रान्तिः पराभियोगस्योत्तरं किन्तु युक्तेरुपन्यासः॥२४॥

टीका—न उत्तरं न्यक्कारं। कोऽसौ? आक्रान्तिराक्रमणं। कस्य? पराभियोगस्य शत्रुनिग्रहस्य। किन्तु तर्हि युक्तेरुपन्यासो युक्तिकरणं येन तस्य निग्रहो भवतीति। तथा च गर्गः—

नाक्रान्त्या गृह्यते शत्रुर्यद्यपि स्यात्सुदुर्लभः।
युक्तिद्वारेण संग्राह्यो यद्यपि स्याद्बलोत्कटः॥ १॥

राज्ञोऽस्थाने कुपितस्य कुतः परिजनः॥ २५॥

टीका—गतार्थमेतत्।

अथ मृतेषु विषयेषु यत्कर्तव्य तदाह—

न मृतेषु रोदितव्यमश्रुपातसमा हि किल पतन्ति तेषां हृदयेष्वङ्गाराः॥ २६॥

टीका—मृतेषु पुरुषेषु पाश्चात्यैर्न रोदितव्यं यतो निपतन्ति तेषां मृतानां हृदयेष्वङ्गाराः। किंविशिष्टाः? अश्रुपातसमा अश्रुपाततुल्याः। किलेति कोमलामंत्रणे। एतज्ज्ञात्वा मृतेषु विषये न रोदितव्यं यदि स्नेहो भवति तदूर्ध्वदैहिकद्वारेण रोदितव्यमिति। तथा च गर्गः—

श्लेष्मास्तु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुंक्ते यतो यतः।
तस्मान्न रोदितव्यं स्यात् क्रिया कार्या प्रयत्नतः॥ १॥

अतीते च वस्तुनि यथा शोकः श्रेयस्करो भवति तदाह—

अतीते च वस्तुनि शोकः श्रेयानेव यद्यस्ति तत्समागमः २७

टीका—अतीतेऽतिक्रान्ते वस्तुनि पदार्थे योऽसौ शोकः क्रियते । स श्रेयान् भवति । क्रियतामस्ति दोषः (?) । यदि किं स्यात्? यदि तत्समागमो भवति शोकेन कृतेन तस्य वस्तुनोऽन्यथा दोष एव । तथा च भारद्वाजः—

मृतं वा यदि वा नष्टं यदि शोकेन लभ्यते ।
तत्कार्यमन्यथा कार्यः केवलं कायशोषकृत् ॥ १ ॥

अथ (शोकमात्मनि चिरमनुवासयन् यथा त्रिवर्गं नाशयति तदाह)—

शोकमात्मनि चिरमनुवासयंस्त्रिवर्गमनुशोषयति ॥ २८ ॥

टीका—अनुशोषयत्युद्वासयति । किं? त्रिवर्गं धर्मार्थकामलक्षणं । किं कुर्वन्ननुवासयन् धारयन् । क? आत्मनि निजशरीरे । कथं धारयन्? चिरं प्रभूतकालं । कं? शोकं । शोकमात्मनि धारयंस्त्रिवर्गं नाशयतीति । तथा च कौशिकः—

यः शोकं धारयेद्देहे त्रिवर्गं नाशयेद्धि सः ।
क्रियमाणं चिरं कालं तस्मात्तं दूरतस्त्यजेत् ॥ १ ॥

अथ कापुरुषस्य स्वरूपमाह—

स किं पुरुषो योऽकिंचनः सन् करोति विषयाभिलाषं ।२९।

टीका—स किं पुरुषो न भवति पशुरेव । किंविशिष्टः? अकिंचनो दरिद्रः सन् विषयाभिलाषमिन्द्रियसुखमनुभवितुमिच्छति । तस्मात्पुरुषेण धनोपार्जनमादौ कार्यं ततश्च विषयसौख्यमनुभवनीयं । तथा च नारदः—

दरिद्रो यो भवेन्मर्त्यो हीनो विषयसेवने ।
तस्य जन्म भवेद्व्यर्थं प्राहेदं नारदः स्वयं ॥ १ ॥

अथ स्वर्गाच्युतस्य पुरुषस्य चिन्हमाह—

१ कल्पितोऽयं, पाठः कस्यचित् ।

आत्मसंभावितः परेषां भृत्यानामसहमानश्च भृत्यो हि बहुपरिजनमपि करोत्येकाकिनं स्वामिनं ॥ ४० ॥

टीका—यो भृत्य आत्मसंभावितः सगर्वो भवति स परेषां भृत्यानामसहमानो बहुपरिजनमपि प्रभूतभृत्यमपि स्वामिनमेकाकिनं करोति । एतदुक्तं भवति, यस्य स्वामिनः सगर्वो भृत्योऽन्येषां भृत्यानामसहमानो-ऽप्यहास्यो भवति स स्वामी एकाकी भवति तदपरभृत्यैस्त्यक्त इति । तथा च राजपुत्रः—

प्रमादात्मा भवेद्भृत्यः स्वामिनो यस्य दुर्मतिः ।
स त्यज्यतेऽन्यभृत्यैश्च शुष्को वृक्षोऽण्डजैर्यथा ॥ १ ॥

अथ राज्ञा यथा दण्डः पातयितव्यस्तदाह—

अपराधानुरूपो दण्डः पुत्रेऽपि प्रणेतव्यः ॥ ४१ ॥

टीका—प्रणेतव्यः पातनीयः । कोऽसौ ? दण्डः । किंविशिष्टः ? अपराधानुरूपः । कस्मिन् ? पुत्रेऽपि आस्तां तावदन्येषु । तथा च शुक्रः—

अपराधानुरूपोऽत्र दण्डः कार्यो महीभुजा ।
पुत्रस्यापि किमन्येषां ये स्युः पापपरायणाः ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि भूभुजा यत्कर्तव्यं तदाह—

देशानुरूपः करो ग्राह्यः ॥ ४२ ॥

प्रतिपाद्यानुरूपं वचनमुदाहर्तव्यं ॥ ४३ ॥

आयानुरूपो व्ययः कार्यः ॥ ४४ ॥

सर्वानुरूपो प्रमादो [illegible] ॥ ४५ ॥

[illegible] सन्तोषः ॥ ४६ ॥

१ शुद्धस्य । २ कर्तव्य इति पाठः । ३ विधातव्य इत्यपि

आत्मसंभावितः परेषां भृत्यानामसहमानश्च भृत्यो हि बहुप-
रिजनमपि करोत्येकाकिनं स्वामिनं ॥ ४० ॥

टीका—यो भृत्य आत्मसंभावितः सगर्वो भवति स परेषां भृत्या-
नामसहमानो बहुपरिजनमपि प्रभूतभृत्यमपि स्वामिनमेकाकिनं करोति ।
तदुक्तं भवति, यस्य स्वामिनः सगर्वो भृत्योऽन्येषां भृत्यानामसहमानो-
ऽहंकारो भवति स स्वामी एकाकी भवति तथापरभृत्यैस्त्यज्यत इति ।
तथा च राजपुत्रः—

> प्रमादाढ्यो भवेद्भृत्यः स्वामिनो यस्य दुष्टधीः ।
> स त्यज्यतेऽन्यभृत्यैश्च लुब्धो वृक्षो अंडघैषा ॥ १ ॥

अथ राज्ञा यथा दण्डः पातयितव्यस्तथाह—

अपराधानुरूपो दण्डः पुत्रेऽपि प्रणेतव्यः ॥ ४१ ॥

टीका—प्रणेतव्यः पातनीयः । कोऽसौ ? दण्डः । किंविशिष्टः ? अपरा-
धानुरूपः । कस्मिन् ? पुत्रेऽपि आस्तां तावदन्येषु । तथा च शुक्रः—

> अपराधानुरूपोऽत्र दण्डः कार्यो महीभुजा ।
> पुत्रस्यापि किमन्येषां ये स्युः पापपरायणाः ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि भूभुजा यत्कर्तव्यं तदाह—

देशानुरूपः करो ग्राह्यः ॥ ४२ ॥

प्रतिपाद्यानुरूपं वचनमुदाहर्तव्यं ॥ ४३ ॥

आयानुरूपो व्ययः कार्यः ॥ ४४ ॥

ऐश्वर्यानुरूपो प्रमोदो विधेयः ॥ ४५ ॥

स पुमान् सुखी यस्यास्ति सन्तोषः ॥ ४६ ॥

---

१ प्रतिपाद्यानुरूपम् इति पाठान्तरम् । २ कर्तव्यम् इति पाठः । ३ विधातव्य इत्यपि
पाठः । ४ विधातव्य इत्यपि पाठः ।

अप्रियकर्तुर्न प्रियकरणात्परममाचरणं ॥ ६३ ॥

अप्रयच्छन्नर्थिनो न परुषं ब्रूयात् ॥ ६४ ॥

स स्वामी मरुभूमिर्यत्रार्थिनो न भवन्तीष्टकामाश्च ॥ ६५ ॥

प्रजापालनं हि राज्ञो यज्ञो न पुनर्भूतानामालम्भः ॥ ६६ ॥

प्रभूतमपि नानपराधसत्वव्यापत्तये नृपाणां बलं धनुर्वा किन्तु शरणागतरक्षणाय ॥ ६७ ॥

इति सदाचारसमुद्देशः ।

---

१ परं मारणकारणमर्दनं इत्यपि पाठः । २ श्रिये इति पाठः । ३ सा श्रीर्देह- इति पाठः ४ प्रासकामा इति पाठः । ५ स्वापत्ये इति पाठः ।

२७ व्यवहार-समुद्देशः ।

अथ व्यवहारसमुद्देशो व्याख्यायते । तत्र तावन्नराणां (कलत्रं यद्भवति तदाह —

कलत्रं नाम नराणामनिगडमपि दृढं बन्धनमाहुः ॥ १ ॥

टीका— एतद्यत्कलत्रं भार्यालक्षणं नराणामनिगडमपि सुकोमलम दृढं बन्धनमाहुः कथयन्ति लोकाः । तथा च शुक्रः—

न कलत्रात्परं किंचिद्बन्धनं विद्यते नृणां ।
यस्मात्तत्स्नेहनिर्बद्धो न करोति शुभानि यत् ॥ १ ॥

अथ यानि यावन्ति नरेण पोषणीयानि तान्याह—

त्रीण्यवश्यं भर्तव्यानि माता कलत्रमप्राप्तव्यवहाराणि चाप त्यानि ॥ २ ॥

टीका—अवश्यं निश्चयेन त्रीण्येतानि वक्ष्यमाणानि भर्तव्यानि पोष णीयानि । एका तावन्माता । द्वितीय कलत्र । तृतीयमपत्यानि । किं विशिष्टानि ! अप्राप्तव्यवहाराणि यानि व्यवहार कर्तुं न जानन्ति । तथ च गुरुः—

मातरं च कलत्रं च गर्भरूपाणि यानि च ।
अप्राप्तव्यवहाराणि सदा पुष्टिं नयेद्बुधः ॥ १ ॥

अथ तीर्थसेवायाः फलमाह—

दानं तपः प्रायोपवेशनं तीर्थोपासनफलम् ॥ ३ ॥

टीका—तीर्थोपासनस्य तीर्थसेवाया फलत्रयमेतत् । एकं तावद्दानं तथा द्वितीयं तपः । तृतीयं प्रायोपवेशनं अनशनकरणमित्यर्थः । न तीर्थमाश्रित्य गृहव्यापारो यथा वर्णितव्यं । तथा च गर्गः—

टीका—यत्र यस्मिन् [illegible] भवति [illegible] । [illegible] भवति । [illegible] तथा । [illegible], [illegible] (?) [illegible] पश्यति, [illegible] भवति [illegible] (न) [illegible] । तथा च [illegible]—

[illegible] पश्यन्नपि न पश्यति ।
[illegible] ॥ १ ॥

अथ [illegible]—

[illegible] सौजन्यं यत्र परोक्षे पिशुनभावः ॥ १८ ॥

टीका—यत्र यस्मिन् सौजन्ये परोक्षे [illegible] । [illegible] । तथा च [illegible]—

प्रत्यक्षेऽपि प्रियं [illegible] परोक्षे [illegible] ।
सौजन्यं [illegible] यथा [illegible] ॥ १ ॥

अथ [illegible]—

सा किं श्रीर्यया न सन्तोषः सत्पुरुषाणां ॥ १९ ॥

टीका—[illegible] यया [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ।

[illegible] ।
[illegible] ॥ १ ॥

अथ [illegible]—

[illegible] ॥ २० ॥

टीका—यत्र यस्मिन् कृत्ये उपकारलक्षणे उक्तिर्भवति चाकृतेः व्यर्थता स्यात् तत्कृत्यं न भवति स्नेहलक्षणं पारत्रिकं च । तथा च भागुरिः—

> योऽन्यस्य कुरुते कृत्यं प्रतिकृत्यतिवाञ्छया ।
> न तत्र कृत्यं भवेत्तस्य पश्चात्फलप्रदायकम् ॥ १ ॥

अथ यकाभ्यां मिथो निर्वाहो न भवति तावुच्येते—

तयोः को नाम निर्वाहो यौ द्वावपि प्रभूतमानिनौ पंडितौ लुब्धौ साहंकारौ ॥ २१ ॥

टीका—तयोस्तस्मिन् कृत्ये निर्वाहो भवति ताभ्यां तत्प्रयोजनं सिध्यतीत्यर्थः । ....तथा द्वावपि पण्डितौ शास्त्रज्ञौ परं लुब्धौ तथा द्वावपि मूर्खौ परस्परमसहनौ । एवं ज्ञात्वा तुल्यगुणौ तौ कृत्ये न नियोजनीयौ बुद्धिमता स्वार्थसिद्धये । तथा च हारीत ।

> समर्थौ मानसंयुक्तौ पण्डितौ लोभसंश्रयौ ।
> मिथोपदेशपरौ मूर्खौ कृत्ये मिथो न योजयेत् ॥१॥

अथ स्वदत्तस्य निषेधमाह—

स्ववान्त इव स्वदत्ते नाभिलापं कुर्यात् ॥ २२ ॥

टीका—न कुर्यात् न कर्तव्य । कोऽसौ अभिलाषो वाञ्छालक्षणः । कस्मिन् ? स्वदत्ते आत्मनैव यद्दत्त दान । कस्मिन्निव स्ववान्त इव निजच्छर्दित इव । मिष्टान्नमपि यच्छर्दित तस्योपरि यथा वाञ्छा न क्रियते, एव निजदत्तेऽपि । तथा च जैमिनि —

१ लिखितपुस्तके सूत्रमीदृशमेव किंतु व्याख्यानु मुद्रित-पुस्तकस्थसूत्रानुकूला । २ लुब्धौ मूर्खौ चासहनौ वा इति पाठान्तरम् ।

स्वयं दत्तं च यद्दानं न प्रार्थ्यं पुनरेव तत् ।
यथा स्ववान्तं तद्वच्च दूरतः परिवर्जयेत् ॥ १ ॥

कुलीनैः प्रत्युपकारे कृते यत्कर्तव्यं तदाह—

उपकृत्य मूकभावोऽभिजातीनाम् ॥ २३ ॥

टीका—येऽभिजाताः कुलीना भवन्ति ते परोपकारं कृत्वा मूका भवन्ति । यथा तैरेतत्कृतमेवं न वदन्ति प्रत्युपकारभयात् । तथा च गुरुदेवः—

इयमपरा काचिद्दृश्यते महतां महती वा भावचित्तता ।
उपकृत्य भवन्ति दूरतः परतः प्रत्युपकारशंकया ॥ १ ॥

अथ सत्पुरुषाणां बधिरभावो भवति तदाह—

परदोषश्रवणे बधिरभावः सत्पुरुषाणां ॥ २४ ॥

टीका—भवति । कोऽसौ ? बधिरभावः । केषां ? सत्पुरुषाणां । क ? परदोषश्रवणे । ये सत्पुरुषा भवन्ति ते परदोषश्रवणे बधिरा भवन्ति । परदोषं हृदये न धारयन्ति । तथा च गर्गः—

परदोषांश्च शृण्वन्ति येऽपि स्युर्नरपुंगवाः ।
शृण्वतामपि दोषं स्यात्ततो दोषान्यसम्भवात् ॥ १ ॥

अथ महाभाग्यानामन्धभावो यथा भवति तदाह—

परकलत्रदर्शनेऽन्धभावो महाभाग्यानाम् ॥ २५ ॥

टीका—महान्ति भाग्यानि पुण्यानि प्रकटानि यस्य महाभाग्यास्तेषां महाभाग्यानामन्धभावो भवति । कस्मिन् सति ? परकलत्रदर्शने । कोऽर्थो दृष्टिगतमपि परकलत्रं नावलोकनीयं । तथा च हारीतः—

अन्यदेशान्तरे धर्मो य इतश्च सुपुष्कलः ।
इह जन्मनि तेऽन्यस्य न वीक्षन्ते नितम्बिनीम् ॥ १ ॥

जान् अर्थिजनाश्च । येनार्जितेन देवान् द्विजान् प्रीणाति तथार्थिजनान् चकान्, (न) केवलं स्वयमुपभुङ्क्ते । तथा चर्षिपुत्रकः—

कायक्लेशो भवेद्यस्तु धनार्जनसमुद्भवः ।
स शस्यो धनिनो योऽत्र संविभागो द्विजार्थिषु ॥ १ ॥

अथ नीचानां स्वरूपमाह—

चणका इव नीचा उदरस्थापिता अपि नाविकुर्वाणास्तिष्ठन्ति ॥ ३० ॥

टीका—ये नीचा अतिनिकृष्टास्ते उदरस्थापिता अपि नाविकुर्वाणा नापकारबाह्यास्तिष्ठन्ति । क इव ? चणका इव । यथा चणका धान्यविशेषाः स्वोदरे धृता नाविकुर्वाणास्तिष्ठन्ति जनमध्ये वातकर्मविक्रियं दर्शयन्ति हास्यतां नयन्तीत्यर्थः । तथा च भागुरिः—

चणकैः सदृशा ज्ञेया नीचास्तान्न समाश्रयेत् ।
सदा जनस्य मध्ये तु प्रकुर्वन्ति विडम्बनं ॥ १ ॥

अथ वन्द्यचरितस्य पुरुषस्य स्वरूपमाह—

स पुमान् वन्द्यचरितो यः प्रत्युपकारमनवेक्ष्य परोपकारं करोति ॥ ३१ ॥

टीका—स पुरुषो वन्द्यचरितो वन्द्यं नमस्करणीय चरितमस्य स वन्द्यचरित । किंविशिष्ट य प्र युपकारमनवेक्ष्यमाणोऽपरेषामुपकार करोति । तथा च भागुरि —

उपकारं करोति यस्तु वाञ्छते न स्वयं पुन ।
उपकार स वन्द्य स्याद्वाञ्छते यो न च स्वयं ॥ १ ॥

अज्ञानस्य वैराग्यं भिक्षोर्विटत्वमधनस्य विलासो वेश्यारतस्य शौचमविदितवेदितव्यस्य तत्त्वाग्रह इति पंच न कस्य मस्तकशूलानि ॥ ३२ ॥

टीका—एतानि पंच वस्तुनि सर्वजनस्य मस्तकशूलानि खेदकरणानि भवन्ति तान्याह—एकं तावदज्ञानस्य वैराग्यं । वैराग्यशब्देन मोक्षमार्गः कथ्यते तं जानाति संकरदोषान् कथयति । अथ द्वितीयं भिक्षोर्विटत्व भिक्षुस्तापसस्तस्य या कामसेवा । तृतीय यो दरिद्रस्य विलासो दरिद्रस्य निष्कंचनस्य ये विलासाः शृङ्गारकरणानि । चतुर्थं वेश्यारतस्य शौचं, यद्गृहे वेश्या, (स) श्रोत्रियत्वं जनाग्रे प्रतिपादयति । पंचममविदितवेदितव्यस्य तत्वाग्रहः पृथिव्या यानि पंचविंशतितत्वानि तेषां ग्रहः । तानि न जानाति तैर्यो वेदितव्यः स्वमान्मा तेषामुपरि अनादरः आत्मज्ञानीति वदति । तथा च भगवत्पादः—

> मूर्खस्य तु सुवैराग्यं विटकर्म तपस्विनः ।
> निर्धनस्य विलासित्वं शौचं वेश्यारतस्य च ॥ १ ॥
> तत्वत्यागो ब्रह्मविदो पंचंकराः स्मृताः ॥ [1] ॥

अथ यः पुरुष. पचमहापातकी भवति तत्स्वरूमाह—

स हि पंचमहापातकी योऽशस्त्रमशास्त्रं वा पुरुषमभियुञ्जीत ॥ ३३ ॥

टीका—स पुरुषो हि स्फुट पचमहापातकी । यः किं? योऽभियुंजीत (पुरुषं) अविग्रहार्थं । किंविशिष्ट[2] अशस्त्रं शस्त्ररहितं सायुधः तथाशास्त्रं मर्वपण्डित (?) । तथा च गर्ग —

> स्त्रीबालगोद्विजस्वामिपंचानां वधकारकः ।
> अशस्त्रं शास्त्रहीनं च हि युंजति ? .... ॥ १ ॥

अथ नीचस्यापि पार्श्वे कार्यं विभाव्य गन्तव्यमित्याह—

---

१ 'पंचैते कंटकाः स्मृताः' इत्येवं रूपेण पाठेन भाव्यं । २ अनायुधं इत्येवं भाव्य । तथाशास्त्र मूर्खपण्डितं ।

उपश्रुतिं श्रोतुमिव कार्यवशान्नीचमपि स्वयमुपसर्पेत् ॥३४॥

टीका—उपसर्पेत् गच्छेत्। कं? नीचमपि अधमं। कस्मात्? (कार्यवशात्)। किं कर्तुं? श्रोतुं। कामिव? उपश्रुतिमिव शकुनिशब्दमिव। यथा प्रयोजने जाते शकुनशब्दः श्रोतव्यः सदोऽर्थायै भवति तत्सर्वं कर्तव्यं, अथवा न श्रूयते तत्कार्यं एवं नीचस्यापि समीपे गत्वा तद्वचः श्रोतव्यं यदनुकूलं भवति तदा कार्यमथवा त्याज्यं। तथा च गुरुः—

अपि नीचोऽपि गन्तव्यः कार्ये महति संस्थिते ।
यदि स्यात्तद्वचो भद्रं तत्कार्यमथवा त्यजेत् ॥ १ ॥

कार्यार्थी दोषं न पश्यतीति वचनात् ।

अथ वेश्यायां गृहागतायां यद्भवति तदाह—

वेश्यागमो गृहिणीं गृहपतिं वा प्रत्यवसादयति ॥ ३५ ॥

टीका—यत्र गृहे वेश्यागमो भवति वेश्या प्रविशति तत्र सा प्रविष्टा गृहिणीं तावत्प्रत्यवसादयति नाशं नयति। पश्चाद्गृहपतिं च येनानीता गृहेऽसद्व्ययेन नाशयति। तथा च शुक्रः—

वेश्यागमो गृहस्थस्य गृहिणीं नाशयेत् पुरः ।
असद्व्ययेन पश्चाच्च येनानीता नर (म) स्वहो ॥ १ ॥

अथ नृपाऽपि वेश्यासंग्रहेण यद्भवति तदाह—

वेश्यासंग्रहो देवद्विजगृहिणीबन्धूनामुच्चाटनमंत्रः ॥ ३६ ॥

टीका—योऽसौ वेश्यासंग्रहः स पुरुषस्य किंविशिष्टः? उच्चाटनमंत्रः कार्मणलक्षणः। केषां? देवद्विजगृहिणीबन्धूनां। तस्माद्विवेकिना वेश्यासंग्रहो न कर्तव्यः। तथा च गुरुः—

न वेश्या निर्व्ययं पुंसां किमप्यस्ति च मन्दिरे ।
स्वकार्यमेव कुर्वाणा नरः सोऽपि च तद्वशात् (त) ॥ १ ॥
कृत्वा शीलपरित्यागं कृत्वा वाञ्छा प्रपूरयन् ।
ततश्च मुच्यते सर्वैर्भार्याबान्धवपूर्वजैः ॥ २ ॥

अथ लोकस्य चौर्यरतस्य स्वरूपमाह—

अहो लोकस्य पापं यन्निजस्त्री रतरतापि निम्बसमा परगृही
शुनिकापि भवति रम्भासमा ॥ ३७ ॥

टीका—अहो आश्चर्यं लोकस्य पापं जानानः, किं पापमित्याह—निजभार्या रतरता सुरता गुर्विणी च निम्बसमा कटुका मन्यते । पुनः परगृहीता अन्यभार्या शुनिकापि निकृष्टापि रम्भासमा स्व विलासनीव मन्यते । तथा च वराहमिहिरः—

मांडव्यगिरिं श्रुत्वा मदीया वेगाथवा
मेवं साध्वीन पुंसु श्रिया यथा स्याज्जघनचपला ? ॥ १ ॥

अथ यस्य एका स्त्री तस्य यद्भवति तदाह—

स सुखी यस्य एक एव दारपरिग्रहः ॥ ३८ ॥

टीका—स पुरुषः सुखी भवति, यस्य किं ? यस्य एक एव दारपरिग्रहो द्वितीया भार्या न भवति । तथा च चाणिक्यः—

अपि साधुजनोत्पन्ने द्वे भार्ये यत्र संस्थिते ।
कलहस्तत्र नो याति गृहाच्चैव कदाचन ॥ १ ॥
एका भार्या त्रयो पुत्रा द्वौ हलौ दश धेनवः ।
द्रम्मापंचसहस्राणि दातव्यं भगवन्निदम् ॥ २ ॥
अग्निहोत्रं गृहे यस्य तस्य मर्त्योऽपि नाकभू. ॥ ३ ॥

अथ व्यसनिनो यथा सुखं भवति तदाह—

व्यसनिनो यथासुखमभिसारिकासु न तथार्थवतीषु ॥ ३९ ॥

टीका—तासां स्वामिनीषु प्रभूतव्ययात् । तथा च टन्तिलः—

अल्पवित्तस्य यः कामः प्रचुरः स सुखप्रदः ।
याति संस्ते(सं) विना नैव.... .यावस्थं ति यत्तु ? ॥ १ ॥

अथार्थवतीनां दूषणमाह—

महान् धनव्ययस्तदिच्छानुवर्तनं दैन्यं चार्थवतीषु ॥ ४० ॥

टीका—[illegible] दारा वा अर्थेभ्यो [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] (म) [illegible] [illegible] [illegible] । तथा च दर्शितं—

> [illegible] पूर्णा [illegible] [illegible] ।
> [illegible] [illegible] [illegible] ॥ १ ॥

अथ के पदार्थाः पुरुषस्य [illegible] तदाह—

प्रावरणं कम्बलो जीवनं गर्दभः परिग्रहो चोदा दारगृहे यस्य सर्वकर्माणि [illegible] ... ॥ ४१ ॥

टीका ....

अथ सर्वेषां पदार्थानां [illegible] पुमान् भवति तदाह—

न दारिद्र्यात्परं पुरुषस्य लाञ्छनमस्ति यत्संगेन सर्वे गुणा निष्फलतां यान्ति ॥ ४२ ॥

टीका—[illegible] न [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] सर्वे गुणा निष्फल[illegible] [illegible] [illegible] ।

> उपकारपरा [illegible] [illegible] [illegible] ।
> [illegible] [illegible] गुणाश्च [illegible] ॥ १ ॥

[illegible] [illegible] तदाह—

अलब्धार्थोऽपि लोको धनिनो भाण्डो भवति ॥ ४३ ॥

[illegible]

टीका—अधिको भवति गुणहीनोऽपि धनिनः ईश्वरस्य । कोऽसौ सर्वोऽपि लोकः । एतदुक्तं भवति, किं तदस्या विद्यमाना गुणवाञ्छितं (?) । तथा च वल्लभदेवः—

न त्वया सदृशो दाता कुलीनो न च रूपवान् ।
कुलीनोऽपि विरूपोऽपि गीयते च धनार्थिभिः ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि धनिनो यद्भवति तदाह—

धनिनो यतयोऽपि चाटुकाराः ॥ ४४ ॥

टीका—यः पुमान् धनी तस्य यतयोऽपि सन्यस्ता अपि भवन्ति। किं विशिष्टा भवन्ति ? चाटुकारा आस्तां तावदन्ये तेऽपि चाटूनि कुर्वन्ति भवत्येतत् । उक्तं च यतो वल्लभदेवेन—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः ।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति ॥ १ ॥

अथ सर्वेषां पदार्थानां मध्ये यत्पवित्रं तदाह—

न रत्नहिरण्यपूताज्जलात्परं पावनमस्ति ॥ ४५ ॥

टीका—नास्ति न विद्यते । किं तत् ? अपरं द्वितीयं पावनं पवित्रं । कस्माज्जलात्तोयात् । किंविशिष्टात् ? रत्नहरण्यपूतात्, रत्नं मरकतादि हिरण्यं सुवर्णं नाभ्यां य पूतं पवित्रं कृतं जलं तस्मात्, अपरं न हि पवित्रं विद्यते लोके स्नानं तेन तत शुभं ।

अथोदकमाह—

स्वयं मेध्या आपो वन्हितप्ता विशेषतः ॥ ४६ ॥

टीका—एता या आपः सलिलानि तानि स्वयमेव पवित्राणि किं पुनर्वन्हितप्तानि विशेषतो मेध्यानि भवन्ति । तथा च मनुः—

अपि स्वभावतो मेध्याः किं पुनर्बन्दिसंयुताः ।
तस्मात्तस्मात्तद्दिवसांश्च स्नानपुण्येन पावितः ॥ १ ॥

अथ उत्सवस्य लक्षणमाह—

स एवोत्सवो यत्र बन्दिमोक्षो दीनोद्धरणं च ॥ ४७ ॥

टीका—उत्सवो बर्धापनलक्षणः स एव कथ्यते यत्र बन्दिमोक्षः क्रियते तथा दीनानामनाथानामुद्धरणं पोषणं क्रियते स पुत्रसंभवादधिकः । तथा च चारायणः—

स एव पुत्रलाभो यथापरः....................।
मन्यते मुच्यते यत्र यत्र दीनान् समुद्धरेत् ॥ १ ॥

अथ पर्वणां माहात्म्यमाह—

तानि पर्वाणि येष्वतिथिपरिजनयोः प्रकामं सन्तर्पणं ॥४८॥

टीका—सन्तर्पणं, संक्रान्ती व्यतीपातादीनि तान्येव पर्वाणि ज्ञेयानि येष्वतिथिपरिजनयोस्तर्पणं दानं दीयते, परिजनस्य गृहस्य । तथा च भारद्वाजः—

अतिथिः पूज्यते यत्र पोषयेत्स्वपरिग्रहं ।
तस्मिन्नहनि सर्वाणि पर्वाणि मनुरब्रवीत् ॥ १ ॥

अथ तिथीनां माहात्म्यमाह—

तास्तिथयो यासु नाधर्माचरणं ॥ ४९ ॥

टीका—त्रिंशत्तिथीनां मध्ये तास्तिथयो गण्यन्ते यास्वधर्माचरणं न क्रियते किन्तु धर्म एव क्रियते । तथा च जैमिनि.—

यासु न क्रियते पापं ता एव निधयः स्मृताः ।
शेषा वंध्यास्तु विज्ञेया इत्येवं मनुरब्रवीत् ॥ १ ॥

अथ तीर्थ यात्रामाहात्म्यमाह—

---

१ श्लोकोऽयं मनुस्मृतौ नास्ति ।

सा तीर्थयात्रा यस्यामकृत्यनिवृत्तिः ॥ ५० ॥

टीका—यत्र यस्यां तीर्थयात्रायां गतैरकृत्यं पापं न क्रियते सा तीर्थयात्रा कथ्यते यस्यां तु (पापं) क्रियते सा नरकयात्रा । तदुक्तं—

अन्यत्र यत्कृतं पापं तीर्थस्थाने प्रयाति तत् ।
क्रियते तीर्थगैर्यच्च वज्रलेपं तु जायते ॥ १ ॥

अथ पण्डितस्य माहात्म्यमाह—

तत्पाण्डित्यं यत्र वयोविद्योचितमनुष्ठानम् ॥ ५१ ॥

टीका—तत्पाण्डित्यं विचक्षणता यत्र वयस उचितं योग्यमनुष्ठानं समाचारलक्षणं तथा विद्यायाश्च । तथा च गुरुः—

विद्याया वयसश्चापि या योग्या क्रिया इह ।
तथा वेषश्च योग्यः स्यात् स ज्ञेयः पण्डितो जनैः ॥ १ ॥

अथ चातुर्यस्वरूपमाह—

तच्चातुर्यं यत्परप्रीत्या स्वकार्यसाधनम् ॥ ५२ ॥

टीका—परस्य पार्श्वात्प्रीतिं कृत्वा यत्कृत्यं साध्यते तच्चातुर्यं दक्षत्वं यत्पुनरुपप्रदानभेददण्डैः साध्यते सा चतुरता न भवति । तथा च शुक्रः—

यः शास्त्रात्साधयेत्कार्यं चतुरः स प्रकीर्तितः ।
साधयन्ति भेदाद्यैर्ये ते मतिवर्जिताः ॥ १

अथ लोकोचितस्य कृत्यस्य स्वरूपमाह—

तल्लोकोचितत्वं यत्सर्वजनादेयत्वम् ॥ ५३ ॥

टीका—तल्लोकोचितत्वं लोकस्य योग्यं कर्म यत्सर्वजनादेयत्वं जन साभिलाषं करोति । तथा च बादरायणः—

तस्योचितं य......यत्कृत्यं नापरं स्मृतं ।
साभिलाषं न कुर्वन्ति यस्य सर्वे जना इह ॥ १ ॥

अथ सौजन्यस्य माहात्म्यमाह—

तत्सौजन्यं यत्र नास्ति परोद्वेगः ॥ ५४ ॥

टीका—तत्सौजन्यं सुजनता यत्र परस्य चित्तोद्वेगो न भवति तस्य चेष्टितेनापि सर्वो जनः सानन्दो भवति नोद्वेगं करोति । तथा च चारायणः—

यस्य कृत्येन कृत्स्नेन सानन्दः स्याज्जनोऽखिलः ।
सौजन्यं तस्य तज्ज्ञेयं विपरीतमतोऽन्यथा ॥ १ ॥

अथ वीरत्वस्य माहात्म्यमाह—

तद्वीरत्वं यत्र यौवनेनानपवादः ॥ ५५ ॥

टीका—पुरुषाणां तद्वीरत्वं कथ्यते येषां यौवनेन पारदारिकोऽपवादो भवति न युद्धे वीरत्वं । तथा च शौनकः—

परदारापवादेन रहितं यस्य यौवनं ।
प्रयाति स पुमान् वीरो न वीरो युद्धकर्मणि ॥ १ ॥

अथ सौभाग्यस्वरूपमाह—

तत्सौभाग्यं यत्रादानेन वशीकरणं ॥ ५६ ॥

टीका—तत्पुरुषाणां सौभाग्यं कथ्यते यत्रादानेन वशीकरणं न कि- ञ्चिदपि दीयते सर्वोऽपि जनो वशगो भवति । तथा च गौतमः—

दानहीनोऽपि वशगो जनो यस्य प्रजायते ।
सुभगः स परिज्ञेयो न यो दानादिभिर्नरः ॥ १ ॥

अथ सभाया दूषणमाह—

सा सभारण्यानी यस्यां न सन्ति विद्वांसः ॥ ५७ ॥

टीका—यस्यां सभायां विद्वांसः पण्डिता न सन्ति सा सभारण्यानी महती [illegible] न सा राजसभा । तथा च व्यासः—

१ [illegible]

बलवन्तमाश्रित्य विकृतिभंजनं सद्यो मरणकारणं ॥ ६४ ॥

टीका—विशेषाकृतिर्विकृतिर्भक्तिलक्षणा तस्या यो भंगोऽभक्ति क्षणः स सद्यो मरणं तत्क्षणात्करोति । तथा च जैमिनिः—

भक्त्या संसेव्यमानस्य बलवन्तस्य ? कारणं ।
अभक्तिः स्तोकामयाति ? करोति मरणं ध्रुवं ॥ १ ॥

अथ प्रवासस्य स्वरूपमाह—

प्रवासः चक्रवर्तिनामपि सन्तापयन्ति किं पुनर्नान्यं ॥६५॥

टीका—प्रवासो देशान्तरगमनं सन्तापयन्ति सुदुःखं करोति । कं चक्रवर्तिनमपि सर्वकामसमृद्धमपि किं पुनरन्यं सामान्यं अ... स्तोकसंबलं । तथा च चारायणः—

प्रवासे सीदति प्रायश्चक्रवर्त्यपि यो भवेत् ।
किं पुनर्यस्य पाथेयं स्वल्पं भवति गच्छतः ॥ १ ॥

अथ प्रवासो यथा सुखेन नीयते तदाह—

बहुपाथेयं मनोनुकूलः परिजनः सुविहितश्चोपस्करः दुःखोत्तरणतरण्डको वर्गः ॥ ६६ ॥

टीका—प्रवासे देशान्तरगमने एतेषां पदार्थानां योऽसौ वर्ग सघातः । किंविशिष्टः स्यात् ? दुःखोत्तरणतरण्डकः सर्वदुःखानां ल... लघने यानपात्र अधिक तावत्संबल भवति । तथा योऽपि ...रिजन परिग्रहो मनोनुकूलो भवति । तथा सुविहितोपस्कर उपस्करशब्देन प्रवास सामग्री सर्वानाहिका (?) कथ्यते सा च सुविहिता भवति । एतेषां साम सकत्या चैव प्रवासे [स] सुख ददेत् ।

इति व्यवहारसमुद्देशः ।

२७ विवाद-समुद्देशः ।

अथ विवादसमुद्देशो लिख्यते । तत्रादावेव राज्ञः स्वरूपमाह—

गुणदोपयोस्तुलादण्डसमो राजा स्वगुणदोपाभ्यां जन्तुषु [गौ]रवलाघवे ॥ १ ॥

टीका—योऽसौ राजा । स किंविशिष्ट ? तुलादण्डसमः । कार्म्या ? स्वगुणदोपाभ्यां । कयो ? गुणदोपयो. । केषु ? जन्तुषु । कस्मिन् ? गौरव-लाघवे । यस्य गुणा अधिकास्तस्य गुरुत्वं । यस्य दोपा अधिकास्तस्य लघुत्व कर्तव्यं ।

अथ समवर्तिनो भूपस्य यद्भवति तदाह —

राजा त्वपराधालिंगितानां समवर्ती तत्फलमनुभावयति॥२॥

टीका—यो राजा भवति समवर्ती भूत्वा तेपामपराधालिंगितानां तत्फल सम्बन्ध तत्स्वयमेव समावयति चिन्तयति । तथा च गुरु —

विजानीयात् स्वयं याथ भूभुजा अपराधिनाम ।
मृषा किं याथया सत्य स्वराष्ट्रपरिवृद्धये ॥ १ ॥

अथ सभ्याना स्वरूपमाह—

आदित्यवद्यथावस्थितार्थप्रकाशनप्रतिभाः सभ्याः ॥ ३ ॥

टीका—राज्ञो ये सभ्या सभासदो भवन्ति । ते किंविशिष्टा ? आदि-त्यवद्यथार्थप्रकाशनप्रतिभा यथादित्यो यथावस्थितार्थप्रकाशनप्रतिभो भवति तथा सभ्योऽपि सर्वव्यावहारिकपदार्थप्रयो नतपरभाव्य । तथा च गुरु —

यथादित्योऽपि सर्वार्थान् प्रकटान् प्रकरोति च ।
तथा च व्यवहारार्थान् क्रियास्तेऽमी सभासद ॥ १ ॥

यथालं विवादेन यत्र स्वयमेव सभापतिः प्रत्यर्थी सभ्यसभापत्योरसामञ्जस्येन कुतो जयः किं बहुभिश्छगलैः श्वा न क्रियते ॥ ६ ॥

टीका—अलं पर्याप्तं। केन? विवादेन। क? तत्र तस्यां सभायां। यस्यां किं? यस्याः सभापती राजा स्वयमेव प्रत्यर्थी प्रतिवादी भवति तत्र सभ्यैः सहासामञ्जस्यं भवति। सभ्यानां भूपतिना सह कुतो जयो वादार्थेऽनुपपन्नता। यतो यद्वदति तदन्येऽपि बहवो वदन्ति ततो न्यायोऽपि तस्यान्यायो भवति, यथा न्यायः, अन्यायः सञ्जायते। यथा किं बहुभिश्छगलैः सारमेयो न क्रियते। तथा च शुक्रः:

प्रत्यर्थी यत्र भूपः स्यात् तत्र पादं न कारयेत्।
यतो भूमिपतेः पक्षं सर्वे प्रोचुस्तथानुगाः ॥ १ ॥

अथ विवादिनो लक्षणमाह—

विवादमास्थाय यः सभायां नोपतिष्ठेत, समाहूतोऽपसरति, पूर्वोक्तमुत्तरोक्तेन बाधते, निरुत्तरः पूर्वोक्तेषु युक्तेषु युक्तमुक्तं न प्रतिपद्यते, स्वदोषमनुद्धृत्य परदोषमुपालभते, यथार्थवादेऽपि द्वेष्टि सभामिति पराजितलिङ्गानि ॥ ७ ॥

टीका—पराजितलिङ्गानि पराजितस्य चिह्नानि। विवादमास्थाय विवादं निरूप्य च यः सभायां नोपतिष्ठते नागच्छति। तथा समाहूतोऽपसरति, समाहूत आकारितः सन् सभातः अपसरति नश्यतीति। तथा पूर्वोक्तमुत्तरोक्तेन बाधते तेन विवादिना स्ववचनेन पूर्वं यदुक्तं तदुत्तरोक्तेन पाश्चात्यवचनेन बाधतेऽन्यथा वदति। तथा निरुत्तरः पूर्वोक्तेषु वचनेषु, सभ्यैः पृष्टो निरुत्तरो भवति। तथा स्वदोषमनुद्धृत्य परदो-

१ अस्मादारभ्यासमाप्तेर्नोक्तं पुस्तके न वर्तते । २ ' बहुभिश्छगलैः ' पुस्तके पाठः ।

बलात्कारेण या भुक्ता [illegible] ये ।
तास्सर्वं कूटादिसमप्रमाणानि वर्जयेत् ॥ १ ॥

अथान्यदपि प्रमाणं यन्न भवति तदाह —

बलात्कृतमन्यायकृतं राजोपधिकृतं च न प्रमाणं ॥ ११ ॥

टीका—अथान्यदपि [illegible] क्रियते तथाऽन्यायेन क्रियते [illegible] राजोपधिना [illegible] क्रियते तदप्रमाणं । तथा च गुरुः —

बलात्कारेण यत्कुर्युः [illegible] तथा ।
राजोपधिकृतं यच्च तदप्रमाणं भवेत् हि ॥ १ ॥

अथ यत्प्रमाणं भवति तदाह —

वेश्याकितवयोरुक्तं ग्रहणानुसारितया प्रमाणयितव्यं ॥१२॥

टीका—तथा [illegible] यद्भवति तदपि ग्रहणानुसारेण तद्भवति । यदि [illegible] भवति गृहीत बहूनि दिनानि [illegible] तथा [illegible] हारितं, [illegible] —

या [illegible] प्रार्थेन्
[illegible] न भर्ता ॥ १ ॥

[illegible]

असत्यङ्कारे व्यवहारे नास्ति विवादः ॥ १३ ॥

टीका—[illegible]

[illegible] —

असत्यङ्कारसंयुक्तो व्यवहारो नराधिप ।
विवादो यदि [illegible] कथञ्चन ॥ १ ॥

> बलात्कारेण या भुक्तिः सामोदाः साक्षिणोऽत्र ये ।
> शासनं कूटलिखितमप्रमाणानि त्रीण्यपि ॥ १ ॥

अथान्यदपि प्रमाणं यन्न भवति तदाह—

बलात्कृतमन्यायकृतं राजोपधिकृतं च न प्रमाणं ॥ ११ ॥

टीका—अथान्यान्यपि त्रीण्येतानि यद्बलात्कारेण क्रियते तथाऽन्यायेन क्रियते तथा राजोपधिना राजबलेन क्रियते तदप्रमाणं । तथा च भागुरिः—

> बलात्कारेण यत्कुर्युः सभ्याश्चान्यायतस्तथा ।
> राजोपधिकृतं यच्च तत्प्रमाणं भवेन्न हि ॥ १ ॥

अथ यत्प्रमाणं भवति तदाह—

वेश्याकितवयोरुक्तं ग्रहणानुसारितया प्रमाणयितव्यं ॥१२॥

टीका—तथा द्यूतकारसम्बधि यद्भवति तदपि ग्रहणानुसारेणैतद्भवति । यदि वेश्याग्रहणकं स्वल्पमूल्यकं भवति गृहीतं बहूनि दिनानि कामुकेन सेवितो तत्तावन्मात्रं मूल्यं लभते ततो नान्यदधिकं । तथा द्यूतकारेणापि यदि स्वल्पमूल्यं ग्रहणं प्रभूतं हारितं, तत्सहिको ग्रहणादधिको ग्रहणादधिकं मूल्यं न लभते । तथा च रैभ्यः—

> यो वेश्या बन्धकं प्राप्य लघुमात्र बहु व्रजेत् ।
> सहिको द्यूतकारश्च स्त्री द्वावपि ते तथा ॥ १ ॥

अथ विवादो यथा न भवति तदाह—

असत्यङ्कारे व्यवहारे नास्ति विवादः ॥ १३ ॥

टीका—यो व्यवहारो ग्रहिनामम यकार स यकाररहित तत्र विवादो न भवति । तथा च कपिपुत्रः—

> असत्यंकारसंयुक्तो व्यवहारो नराधिप ।
> विवादो वादिना तत्र नैव युक्तः कथंचन ॥ १ ॥

अभियुञ्जीत चेन्मर्त्यः परार्थं वा विलुम्पते ।
तापयन्तस्य कोशो वा योग्यो वा दिव्यमुच्यते ॥ १ ॥

अथाभियोगतुल्ये यदा सिद्धिर्भवति तदाचरणीयं तदाह—

अभिचारयोगैर्विशुद्धस्याभियुक्तार्थसम्भावनायां प्राणावशेषोऽर्थापहारः ॥ १७ ॥

टीका—यदि वादी अभिचारयोगैः कूटप्रयोगैः सिद्धः स्यात् तदाभियुक्तस्याभावनायां प्राणावशेषोऽर्थापहारः कार्यः । एतदुक्तं भवति, तस्य केवलाः प्राणा रक्षणीया विभवश्च सर्व एव नृभुजा ग्राह्यः । तथा च गुरुः—

यदि वादी प्रयुक्तोऽपि दिव्यार्थः कूटकैः कृतैः ।
पश्चात्तस्य च विज्ञानं सर्वस्वहरणं स्मृतम् ॥ १ ॥

अथ येषां दिव्यं न दीयते तानाह—

लिङ्गिनास्तिकस्वाचारच्युतपतितानां दैवी क्रिया नास्ति ॥ १८ ॥

टीका—नास्ति न विद्यते । काऽसौ ? क्रिया । किंविशिष्टा ? दैवी दिव्यसम्भवा । कथं तर्हि तेषामपराधे संजाते शुद्धिस्तत्रोच्यते;—

तेषां युक्तितोऽर्थसिद्धिरसिद्धिर्वा ॥ १९ ॥

टीका—युक्त्या पापयक्रमानुष्ठाने तेषां विज्ञाय तत्र शुद्धिर्देया । तथा च बादरायणः—

युक्त्या विचिन्त्य सर्वेषां लिङ्गिनां तथा क्रियां ।
देया पञ्चजनया शुद्धिरसम्यक्या विवर्जनम् ॥ १ ॥

अथ संदिग्धे पत्रे साक्षे वा यत्कर्तव्यं तदाह—

संदिग्धे पत्रे साक्षे वा विचार्य परिच्छिन्द्यात् ॥ २० ॥

टीका— [illegible] धर्माधि-
नियुक्तं पुरुषं [illegible] पत्रमिदं । अ-
सत्यवादी मिथ्यावादी वा [illegible] । तथा च

यादं नृपतिनिर्मितं योऽन्यथा कुरुते हठात् ।
तत्क्षणादेव वध्यः स्याच्च विकल्पं समाचरेत् ॥ १ ॥

अथ दुर्जनानां राज्ञा यत्कर्तव्यं तद्वक्रकाष्ठनिदर्शनेनाह—

न हि दण्डादन्योऽस्ति विनयोपायोऽग्निसंयोग एव वक्रं काष्ठं सरलयति ॥ २४ ॥

टीका—दुर्जनानामन्यायवर्तिनां दण्डं मुक्त्वाऽन्यो निग्रहो नास्ति । केन दृष्टान्तेन ? यतः सरलयति ऋजुतां नयति । किं ? वक्रं काष्ठं कुटिलं दारु । कोऽसौ ? अग्निसंयोगः । यथा वक्रं काष्ठं वन्हियोगात्प्रांजलीभवति एवं पापिष्ठोऽपि दण्डेन ऋजुतां याति । तथा च शुक्रः—

यथात्र कुटिलं काष्ठं वन्हियोगाद्भवेदृजुः ।
दुर्जनोऽपि तथा दण्डादृजुर्भवति तत्क्षणात् ॥ १ ॥

अथ ऋजुपुरुषस्य यद्भवति तत्सरलवृक्षदृष्टान्तेनाह—

ऋजुं सर्वेऽपि परिभवन्ति न हि तथा वक्रतरुश्छिद्यते यथा सरलः ॥ २५ ॥

टीका—यः पुमान् ऋजुर्भवति तं सर्वेऽपि जनाः परिभवन्ति न कुटिलस्वभावं । केन दृष्टान्तेन ? न हि तथा वक्रतरुः सुखेन छिद्यते यथा सरलः प्राञ्जल इति । तथा च गुरुः—

ऋजुः सर्वे च लभते न यथोऽध पराभव ।
यथा सरलो वृक्षः सुखं छिद्यते छेदकैः ॥ १ ॥

अथ यथा गुरुः पुरुषेण गोष्ठ्यां प्रलापः करणीयस्तदाह—

स्वोपालम्भपरिहारेण परमुपालभेत स्वामिनमुत्कर्षयन् गोष्ठीमवतारयेत् ॥ २६ ॥

टीका—अवतारयेत् विस्तारयेत् । काम् ? गोष्ठीं वार्तां । किं कुर्वन् ? उत्कर्षयन् माहात्म्यं कुर्वन् । कं ? स्वामिनं । किं कृत्वा ? स्वोपालम्भपरिहा-

१ समाधसप्रश्नाऽप्यनायनेयाग , अथवा यथा न सरला वृक्ष इत्येव पठितः ।

टीका—अपहारयति नारी नयति । कः ? नयितनर्थं गृहस्थितं वित्तं । कथं ! सह, कैः प्राणैर्जीवितेन । कोऽसौ ! निधिर्द्रव्यं आकस्मिकोऽर्थदेशो लाभश्च । तथा निधानलाभे आकस्मिकलाभे च शान्तिकपौष्टिकादिकानि कार्याणि यतः ।

अथ उत्पातलक्षणमाह—

ब्राह्मणानां हिरण्ययज्ञोपवीतस्पर्शनं च शपथः ॥ ३० ॥

टीका—ब्राह्मणानां यदि विवादो भवति तदा सुवर्णस्पर्शनं तथा यज्ञोपवीतस्पर्शनं च शपथो नान्यः । तथा च गुरुः—

हिरण्यस्पर्शनं यच्च ब्रह्मसूत्रस्य चापरं ।
शपथो ह्येष निर्दिष्टो द्विजातीनां न चापरः ॥ १ ॥

अथ क्षत्रियाणां शपथस्वरूपमाह—

शस्त्ररत्नभूमिवाहनपल्याणानां तु क्षत्रियाणाम् ॥ ३१ ॥

टीका—क्षत्रियाणां तु पुनः शस्त्रस्पर्शनं रत्नस्पर्शनं भूमिस्पर्शनं वाहनस्पर्शनं पल्याणस्पर्शनं च पचभिः स्पृष्टैः शपथो भवति । तथा च गुरुः—

शस्त्ररत्नक्षमावाहनपल्याणस्पर्शनाद्भवेत् ।
शपथः क्षत्रियाणां च पचानां च पृथक् पृथक् ॥ १ ॥

अथ वैश्यानां शपथस्वरूपमाह—

श्रवणपोतस्पर्शनात् काकिणीहिरण्ययोर्वा वैश्यानां ॥ ३२ ॥

टीका—श्रवणः कर्णः तथा पोतो बालस्तयोः स्पर्शनेन शपथो भवति । अथवा काकिणीहिरण्ययोर्वा काकिणी त्रिंशत्कपर्दिका हिरण्यं सुवर्णं ताभ्यां स्पर्शनेन वैश्यानां शपथः । तथा च गुरुः—

शपथो वैश्यजातीनां स्पर्शनात्कर्णबालयोः ।
काकिण्याः स्वर्णयोर्वापि शुद्धिरेवाल नान्यथा ॥ १ ॥

अथ शूद्राणां शपथमाह —

शूद्राणां क्षीरबीजयोर्वल्मीकस्य वा ॥ ३३ ॥

टीका—शूद्राणां तु पुनः क्षीरस्पर्शनेन तथा बीजस्पर्शनेन वल्मीकस्पर्शनेन च शपथो भवति । तथा च गुरुः—

दुग्धस्याग्रस्य संस्पर्शोऽवल्मीकस्य तथैव च ।
कर्तव्यः शपथः शूद्रैः विवादे निजशुद्धये ॥ १ ॥

अथ कारूणां शपथस्वरूपमाह—

कारूणां यो येन कर्मणा जीवति तस्य तत्कर्मोपकरणानां॥३४॥

टीका—चतुर्वर्णानां येऽन्ये लोका रजकचर्मकारादयस्ते कारकाः कथ्यन्ते तेषां यो यत्कर्म कुरुते तस्योपकरणेन स्पृष्टेन शपथः । रजकस्य वस्त्रकुट्टनेन तदुपकरणेन । एवमन्येषामपि यान्युपकरणानि कर्मकृतेः तैः स्पृष्टेन शपथः । तथा च गुरुः—

यो येन कर्मणा जीवेत् कारुस्तस्य तदुद्भवं ।
कर्मोपकरणं किंचित् तत्स्पर्शाच्छुद्ध्यते हि सः ॥ १ ॥

अथ व्रतिनामन्येषामपि लोकानां यथा शुद्धिर्भवति तदाह—

व्रतिनामन्येषां चेष्टदेवतापादस्पर्शनात्प्रदक्षिणादिव्यकोशात्तन्दुलतुलारोहणैर्विशुद्धिः ॥ ३५ ॥

टीका—व्रतिनां तपस्विनां च पार्श्वात्, येऽन्ये लोकास्तेषामपीष्टदेवतापादस्पर्शनेन शुद्धिः । अथवा तत्प्रदक्षिणया दिव्येन कोशपानेन वा तन्दुलभक्षणैर्वा विशुद्धिः । तथा च गुरुः—

व्रतिनोऽन्ये च ये लोकास्तेषां शुद्धिः प्रकीर्तिता ।
इष्टदेवस्य संस्पर्शात् दिव्यैर्वा शास्त्रकीर्तितैः ॥ १ ॥

अथ व्याधानां शपथस्वरूपमाह—

व्याधानां तु धनुर्लंघनं ॥ ३६ ॥

टीका—व्याधानां तु धनुष्मतां पुलिन्दानां धनुर्लंघनं चापोपरिगमनं । तथा च गुरुः—

पूर्वदत्तानां विवादे च धापलंघनतो भवेत् ।
विशुद्धिर्जीवते नेषां यतः स्वयं प्रकीर्तिता ॥ १ ॥

अथ व्यापचानां शपथस्वरूपमाह—

अन्त्यवर्णावसायिनामार्द्रचर्मारोहणं ॥ ३७ ॥

टीका—अन्त्यवर्णावसायिनश्चाण्डालास्तेषामार्द्रचर्मचटनं शपथः ।
तथा च गुरुः—

अन्त्यजानां तु सर्वेषामार्द्रचर्मावरोहणं ।
शपथः शुद्धिदः प्रोक्तो यथान्येषां च वैदिकः ॥ १ ॥

अथाशाश्वतानि यानि तान्याह—

वेश्यामहिला, भृत्यो भण्डः, क्रीणिनियोगो, नियोगिमित्रं चत्वार्यशाश्वतानि ॥ ३८ ॥

टीका—एतानि चत्वारि वस्तूनि अशाश्वतानि विनशनशीलानि स्थिराणि न भवन्ति । एका तावद्वेश्यापत्नी, द्वितीयो भृत्यः, तृतीयः क्रीणिनियोग क्रीणिशब्देन कुलग्रहणं शुल्कादायग्रहणं उच्यते तस्य योगः करणं तदशाश्वत । तथा चतुर्थं नियोगिमित्रं यन्मित्रं नियोगमधिकार करोति तद्विनश्यति । तथा च शुक्रः—

वेश्यापत्नी तथा भण्ड सेवकः कुलसंग्रहः ।
मित्रनियोगिनि यच्च न चिरं स्थैर्यतां व्रजेत् ॥ १ ॥

अथ वेश्यानां दूषणमाह—

क्रीतेष्वाहारेष्विव पण्यस्त्रीषु क आस्वादः ॥ ३९ ॥

टीका—क आस्वादः कोऽनुरागः । कासु ? पण्यस्त्रीषु वेश्यासु विषये । केष्विव ? क्रीताहारेष्विव मूल्यगृहीतभोजनेषु यथानुरागो भवति तथा वेश्यास्वपि तस्मात्ता सत्पुरुषेण त्याज्या । तथा च शुक्रः—

क्रयक्रीतेन भोज्येन यादृग्भुक्तेन स्या भवेत् ।
तादृक्संगेन वेश्याया सन्तोषो जायते नृप ! ॥ १ ॥

प्रबोधनं क्लेशाय भवति न तं यतो मूर्खो मुञ्चति । एवं स्थिते किमौषधं तस्योपशमनविषये उपेक्षणीयं न किंचिद्वक्तव्यं । तथा च भागुरिः—

> कर्पासे दह्यमाने तु यथा युक्तमुपेक्षणं ।
> एकमज्ञपरे मूर्खे तद्वदन्यं न विद्यते ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि मूर्खस्य स्वरूपमाह—

मूर्खस्याभ्युपपत्तिकरणमुद्दीपनपिण्डः ॥ ४४ ॥

टीका—मूर्खस्य यदभ्युपपत्तिकरणं प्रबोधनं । तत्तस्य किंविशिष्टं स्यात् ? स तस्य प्रतिबोधनविषये उद्दीपनपिण्डो भवति मूर्खकृत्यस्य वृद्धिकारी भवति तस्मान्मूर्खं न प्रतिबोधयेत् । तथा च गौतमः—

> यथा यथा जडो लोको विद्वद्भिः प्रबोध्यते ।
> तथा तथा च तज्जाड्यं तस्य वृद्धिं प्रयच्छति ॥ १ ॥

अथ कोपविशिष्टमूर्खाणां प्रबोधेन कृतेन यद्भवति तदाह—

कोपाग्निज्वलितेषु मूर्खेषु तत्क्षणप्रशमनं घृताहुतिनिक्षेप इव ॥ ४५ ॥

टीका—मूर्खेषु कोपाग्निज्वलितेषु क्रोधवैश्वानरदह्यमानेषु तत्क्षणादेव तस्मिन् काले या सा प्रशमना शिक्षाप्रदानविषये क्रियते । न किंविशिष्ट इव ? घृताहुतिनिक्षेप इव । एतदुक्तं भवति यथाग्निः घृताहुत्या प्रवर्धते, एवं मूर्खस्य कोपोऽपि वृद्धिं याति प्रबोधेन ।

अथ भूयोऽपि मूर्खस्वरूपमाह—

अनस्तितोऽनड्वानिव ध्रियमाणो मूर्खः परमाकर्षति ॥ ४६ ॥

टीका—मूर्खः कुपितो ध्रियमाणो निवार्यमाणोऽपि परेण । किं करोति ? परमप्यतिशयेनाकर्षति ... नर्दति । –

बलीवर्द इव। किंविशिष्ट: ? अनस्तितो नासारज्जुरहितः। यथा नासाबन्धनरहितो वृषो ध्रियमाण: पुरुषमपि समाकर्षयति। तथा च भागुरि:—

नस्तया रहितो यद्वद्ध्रियमाणोऽपि गच्छति।
वृषस्तद्वच्च मूर्खोऽपि धृतः कोपाच्च तिष्ठति ॥ १ ॥

अथ गोपालस्योपदेशो नावस्तुनः पदार्थस्य यथा वस्तुत्वं न भवति तदाह—

स्वयमगुणं वस्तु न खलु पक्षपाताद्गुणवद्भवति न गोपालस्नेहादुक्षा क्षरति क्षीरम् ॥ ४७ ॥

टीका—स्वयमेवागुणमात्मनैव विरूपं यद्वस्तु तत्पक्षपातान्न श्लाघ्यमानं शोभनं न भवति। केन दृष्टान्तेन ? यथा गोपालश्लाघितेनोक्षा क्षीरं न क्षरति दुग्धं प्रयच्छति। तथा च नारदः—

स्वयमेव कुरूपं यत् तन्न स्याच्छंसितं शुभं।
यथोक्षा शंसितः क्षीरं गोपालेन ददाति नो ॥ १ ॥

इति विवादसमुद्देशः।

षाड्गुण्य-समुद्देशः ।

अथ षाड्गुण्यं व्याख्यायते । तत्रादावेव योगक्षेमस्वरूपमाह—

शमव्यायामौ योगक्षेमयोर्योनिः ॥ १ ॥

टीका—योगः कर्मलाभः क्षेमं कुशलं तयोर्द्वयोः शमव्यायामौ योनिरुत्पत्तिस्थानं । तत्र लाभात् क्षेमं व्यायामाद्योगः । शमव्यायामलक्षणमागामिसूत्रे वदिष्यतीति ।

शमव्यायामयोर्लक्षणमाह—

कर्मफलोपभोगानां क्षेमसाधनः शमः कर्मणां योगाराधनो व्यायामः ॥ २ ॥

टीका—कर्मणि कृते यत्फलं भवति तस्य ये योगा विलासास्तेषु यत्क्षेमं कुशलं तद् साधयति करोति स शम । य पुन कर्मारम्भः क्रियते तत्र योऽसौ योग उद्यम स व्यायाम । तथा च शुक्र —

... . ।

. ॥ १ ॥

अथ दैवस्य कर्मण स्वरूपमाह—

दैवं धर्माधर्मौ ॥ ३ ॥

टीका—य पुरुषो धम करोति अधम च पाप लक्षण करोति सदैव । दैवशब्देन प्राक्तनीय कम प्राप्यते । येनान्यजन्मनि शुभ कृत तच्छुभ करोति । येन पाप कृत स पाप करोति । तथा च व्यास —

येन यच्च कृत पूर्व दानमध्ययन तप ।

तेनैवाभ्यासयोगेन तच्चैवाभ्यस्यते पुन ॥ १ ॥

टीका—यदन्यत्कार्यं चिन्तयमानस्यान्योऽर्थसम्बन्ध उपस्थानं करोति स दैवायत्तः पूर्वकर्मसमुद्भवः शुभो वाऽशुभो वा । तथा च शुक्रः—

अन्यचिन्तयमानस्य यदन्यदपि जायते ।
शुभं वा यदि वा पापं ज्ञेयं दैवकृतं च तत् ॥ १ ॥

अथ मानुषायत्तस्य स्वरूपमाह—

बुद्धिपूर्वहिताहितप्राप्तिपरिहारसम्बन्धो मानुषायत्तः ॥ ८ ॥

टीका—तथा च शुक्रः—

बुद्धिपूर्वं तु यत्कर्म क्रियतेऽत्र शुभाशुभं ।
नरायत्तं च तज्ज्ञेयं सिद्धं चासिद्धमेव च ॥ १ ॥

अथानुकूले दैवे उद्यमरहितस्य यद्भवति तदाह—

सत्यपि दैवेऽनुकूले न निष्कर्मणो भद्रमस्ति ॥ ९ ॥

टीका—नास्ति न विद्यते । किं तत् ? भद्रं कल्याणं । कस्य ? निष्कर्मण उद्यमरहितस्य पुरुषस्य । कस्मिन् सति ? अनुकूले प्राञ्जले सति । कस्मिन् ? दैवे प्राक्तनकर्मणि । तथा च वल्लभदेवः—

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥ १ ॥

अथ केवलं दैव[illegible]—

न खलु दैवमीहमानस्य कृतमप्यन्नं मुखे स्वयं प्रविशति ॥ [illegible] ॥

टीका— [illegible]

[illegible] । तथा च [illegible] —

प्राप्य दैववशा[illegible] क्षुधार्तेनापि [illegible] ।
[illegible] ॥ १ ॥

[illegible]

[illegible]

यथायुरौषधयोः परस्परसम्बन्धः एकं तावत्पुरुषस्यायुर्भवति तदर्हमौषधं भवति तत्पुरुषो जीवत्येव। अथायुर्न भवति तदर्हमपि तदौषधं न मिलति। अथवायुर्भवति, औषधं मिलति तदपि दीर्घायुः समीहितं न भवति। तथा च भारद्वाजः—

विनायुषं न जीवेत भेषजानां शतैरपि।
न भेषजैर्विना रोगः कथंचिदपि शाम्यति ॥ १ ॥

अथानुष्ठीयमानस्य यद्भवति तदाह—

अनुष्ठीयमानः स्वफलमनुभावयन्न कश्चिद्धर्मोऽधर्ममनुबध्नाति ॥ १५ ॥

टीका—न अनुबध्नाति न जनयति। कं? अधर्मं। कोऽसौ? धर्मः। किंविशिष्टः? अनुष्ठीयमानः क्रियमाणः। पुनः किंविशिष्टः? कश्चित् कोऽप्यष्टप्रकारमध्यात्। किं कुर्वन्नधर्मं न जनयति? स्वफलमनुभावयन्नात्मीयफलं प्रयच्छन्। एतदुक्तं भवति, धर्मं कुर्वतोऽधर्मो न भवति। किं विशिष्टः सः—

इज्या(ज्या)ध्ययनदानादि तपः सत्यं क्षमा धृतिः, दानि।
अलोभ इति धर्मोऽयं पंचाष्टविधः स्मृतः ॥

तथा च भागुरि—

यः कश्चित् क्रियते कर्म प्राणिभिः श्रद्धयान्वितैः।
स एव हरति प्रायः स्वफलेऽत्र प्रपातकम् ॥ १ ॥

अथ राज्ञः स्वरूपमाह—

त्रिपुरुषमूर्तित्वान्न भूभुजः प्रत्यक्षं दैवमस्ति ॥ १६ ॥

टीका—नास्ति न विद्यते। किं तत्? दैवं। किंविशिष्टं? प्रत्यक्षं। कस्मात्? भूभुजो राज्ञः सकाशात्। पुनः त्रिपुरुषमूर्तित्वात् हरिहरहिरण्यगर्भमूर्तित्वात्। एतदुक्तं भवति, यदन्यो दैवमस्ति परोक्षं न केनापि

टीका—एतौ उभयवाचनकें ज्ञेयौ।

अथोत्साहशक्तिलक्षणमाह—

विक्रमो बलं चोत्साहशक्तिस्तत्र रामो दृष्टान्तः॥ ४०॥

टीका—यस्य विजिगीषोर्विक्रमः पराक्रमो भवति। तथा बलं सैन्यं भवति उत्साहशक्तिः सोच्यते। अत्र रामो दृष्टान्तः—रामेण विक्रमवता वानरबलयुक्तेन रावणो निपातितः। तथा च गर्गः—

> सदज्ञो विक्रमो यस्य सैन्यं बहुतरं भवेत्।
> तस्योत्साहो तद्युद्धे या [?]......दाशरथेः पुरा॥ १॥

अथ विजिगीषोः शक्तित्रययुक्तहीनस्य शत्रुतुल्यशक्तेर्यद्भवति तदाह—

शक्तित्रयोपचितो ज्यायान्, शक्तित्रयापचितो हीनः समानशक्तित्रयः समः॥ ४१॥

टीका—यो विजिगीषुः शत्रोः सकाशाच्छक्तित्रयोपचितो भवति शक्तित्रयाभ्यधिको भवति स ज्यायान् श्रेष्ठतमः परं जयति युद्धे। यः पुनः शक्तित्रयपतितो भवति स हीनः परेण जीयते। यः शक्तित्रयेण तुल्यो भवति स समः प्रोच्यते यद्यपि समस्तथापि युद्धं न कर्तव्यं। तथा च गुरुः—

> समेनापि न योद्धव्य यद्युपायत्रयं भवेत्।
> अन्योन्याहति? यो सगो द्वाभ्या भंजायते यतः॥ १॥

अथ षाड्गुण्य व्याख्यायते तस्य सद्भावकरणमाह—

संन्धिविग्रहयानासनसंश्रयद्वैधीभावाः षाड्गुण्यं॥ ४२॥

पणबन्धः सन्धिः॥ ४३॥

---

१ वानरबलोत्पन्नहनुमदादिसहायेन। वानरशब्दो बलवाचक, न तु मर्कटवाचक. २ गतार्थमेतत्।

टीका—यत्र शत्रुणा सह पणबन्धः क्रियते केनचित्पदार्थेन गृहीते वा शत्रोस्तेन विहितेन यो भवति स पण उच्यते तेन सन्धिर्भवति तथा च शुक्रः—

दुर्बलो बलिनं यत्र पणदानेन तोषयेत् ।
तावत्सन्धिर्भवेत्तस्य यावन्मात्रः प्रजल्पितः ॥ १ ॥

अथ विग्रहस्य स्वरूपमाह—

अपराधो विग्रहः ॥ ४४ ॥

टीका—यदा यस्य विजिगीषोः कोऽप्यपराधं करोति तदा विग्रह स्यात् ।

अथ यानस्वरूपमाह—

अभ्युदयो यानं ॥ ४५ ॥

टीका—यदा शत्रोरुपरि गम्यतेऽभ्युदय क्रियते । अथवा बलवन्तं रिपुं ज्ञात्वान्यत्र गम्यते ।

अथासनस्वरूपमाह—

उपेक्षणमासनं ॥ ४६ ॥

टीका—यदा शत्रुरसमनुमुद्यतो भवति तदा तस्योपेक्षणं कर्तव्यं सहमा दे (?) व स्थानत्याग कुर्यात् । किं वा तेन सह युद्धशक्तिः किं वा नास्ति ।

अथ संश्रयस्य स्वरूपमाह—

परस्यात्मार्पणं संश्रयः ॥ ४७ ॥

टीका—यदा शत्रुर्बलवानागच्छति स्थातुं स्वस्थाने न शक्यते तदात्मा तस्यार्प्यते आत्मनो विनिवेदनं कृत्वा शपथैः स्वगृहे स्थेत् ।

अथ द्वैधीभावस्य स्वरूपमाह—

एकेन सह सन्धायान्येन सह विग्रहकरणमेकेन वा शत्रौ सन्धानपूर्वं विग्रहो द्वैधीभावः ॥ ४८ ॥

टीका—यदा शत्रुद्वयमुपस्थितं भवति तदैकेन सह विग्रहकरणं युक्तं, द्वितीयेन सह बलवता सन्धानपूर्वो विग्रहः, प्रथमं सन्धानं कृत्वा पश्चाद्विग्रहः कार्यः । न द्वाभ्यां हेलया विग्रहः कार्यः । एतद्द्वैधीभावस्य स्वरूपम् ।

अथ बुद्ध्याश्रयस्य द्वैधीभावस्य स्वरूपमाह—

प्रथमपक्षे सन्धीयमानो विगृह्यमाणं विजिगीषुरिति द्वैधीभावो बुद्ध्याश्रयः ॥ ४९ ॥

टीका—हीयमानेन विजिगीषुणा शत्रोर्यथा सन्धिः कार्यः तदाह—

हीयमानः पणबन्धेन सन्धिमुपेयात् यदि नास्ति परेषां विपणितेऽर्थे मर्यादोल्लंघनम् ॥ ५० ॥

टीका—हीयमानो विजिगीषुः परेषां सकाशात् पणबन्धेन दण्डव्यवस्थया सन्धिमुपेयात् सन्धानं कुर्यात् । यदि नास्ति तेषां विपणितेऽर्थे व्यवस्थायां कृतायां मर्यादोल्लंघनं यदि तेषां मर्यादातिक्रमणं न भवति । तत्र विषये शपथ कोशपानादिभिर्निश्चयं कार्येति । तथा च शुक्रः—

> हीयमानेन दातव्यो दण्डः शत्रोर्जिगीषुणा ।
> बलयुक्तेन यत्कार्यं तैः समं निधिनिदिधयो ? ॥ १ ॥

अथ विजिगीषुणा बलयुक्तेन यत्कार्यं तदाह—

अभ्युच्चीयमानः परं विगृह्णीयाद्यदि नास्त्यात्मबलेषु क्षोभः ॥ ५१ ॥

टीका—शत्रोः सकाशाद्विजिगीषुर्यद्यभ्यधिको भवति तत्र विगृह्यै-यात् तस्योपरि विग्रहं कुर्यात्। यदि आत्मबलेषु निजसैन्येषु क्षोभो मर्व न स्यात्। तथा च गुरुः—

यदि स्यादधिकः शत्रोर्विजिगीषुर्निजैर्बलैः।
क्षोभेन रहितैः कार्यः शत्रुणा सह विग्रहः॥ १॥

अथान्यदपि विजिगीषुणा यत्कर्तव्यं तदाह—

न मां परो हन्तुं नाहं परं हन्तुं शक्त इत्यासीत यद्यायत्या-मस्ति कुशलम् ॥ ५२ ॥

टीका—आयत्यां परिणामे यदि शत्रोः कुशलं ज्ञायते तद्विग्रहं न कुर्यात्। यद्येवं मन्यते परो मां न हन्ति नाहं परं हनिष्यामीति सन्धिद्वारेण वर्तितव्यमिति। तथा च जैमिनिः—

न विग्रहं स्वयं कुर्यादुदासीने परे स्थिते।
बलाढ्येनापि यो न स्यादायत्यां चेष्टितं शुभं॥ १॥

अथ भूयोऽपि यत्कर्तव्यं तदाह—

गुणातिशययुक्तो यायाद्यदि न सन्ति राष्ट्रकण्टका मध्ये न भवति पश्चात्क्रोधः ॥ ५३ ॥

टीका—तद्देशोपरि यदि न कोपः यदि राष्ट्रकण्ठका मध्ये न भवन्ति तद्गुणातिशययुक्तो बहुगुणो विजिगीषुर्यायात् गच्छेत्परोपरि। तथा च भागुरिः—

गुणयुक्तोऽपि भूपालोऽपि यायाद्विद्विषोपरि ?।
यद्येतेन हि राष्ट्रस्य बहवः शत्रवोऽपरे॥ १॥

अथ विजिगीषोः स्वमण्डलमपालयतः परं परदेशं गच्छतो यद्भवति तदाह—

१ न कण्टकाश्च इति पाठोऽस्य स्थाने पुस्तके।

स्वमण्डलमपरिपालयतः परदेशाभियोगो निवसनेन शिरोवेष्टनमिव ॥ ५४ ॥

टीका—उष्णीषकरणमिव। केन? निवसनेन परिधानवस्त्रेण। कस्येव? अन्धस्येव हास्याय यथान्धः परिधानवस्त्रेण शिरोवेष्टने कृते हास्यतां याति तथा विजिगीषुरपि पश्चात्कोपे स्थिते राष्ट्रविध्वंसे स्थिते हास्यतां याति तस्मात्स्वदेशं रक्षितं कृत्वा परदेशं यायात् । तथा च विदुरः—

य एव यत्नः कर्तव्यः परराष्ट्रविमर्दने ।
स एव यत्नः कर्तव्यः स्वराष्ट्रपरिपालने ॥ १ ॥

अथ शक्तिहीनेन विजिगीषुणा यत्कर्तव्यं तदाह—

रज्जुवलनमिव शक्तिहीनः संश्रयं कुर्याद्यदि न भवति परेषामामिषम् ॥ ५५ ॥

टीका—यदा हीनबलः शत्रोः सकाशात् भवति तदा संश्रयं कुर्यात् इयाना सकाशे (बलानां सकाशे) गच्छेत् । यदि तेषामामिषं व्यसनं न भवति । किमिव संश्रयं कुर्यात्? रज्जुवलनमिव यथा प्रभूततन्तुसंश्रयाद्रज्जुर्दृढो भवति न त्रुट्यति तथा विजिगीषुरपि । तथा च गुरुः

स्याद्यदा शक्तिहीनस्तु विजिगीषुर्हि पार्थिवः ।
संश्रयीत तदा चान्यं यद्वाय (?) व्यसनच्युतम् ॥ १ ॥

अथ बलानां सम्प्रदायेन यद्भवति तदाह—

बलवद्भयादबलवदाश्रयणं हस्तिभयादेरण्डाश्रयणमिव ॥५६॥

टीका—बलवद्विरोधभयात् यदबलस्य बलवतिसंश्रयं (?) क्रियते । स विजिगीषोः [illegible] हस्तिभयादेरण्डाश्रयणमिव यथा हस्तिभयादेरण्डाश्रय-

१ '' स्वदेशं कृत्वा '' इत्यपि [illegible] [illegible] पाठः [illegible]

ञ्त: एरण्डेनापि सह पुरुषो विनाशं गच्छति तस्माद्धीनबलो न सेव्र-णीय । तथा च भागुरि —

सबलाश्रयस्य यस्माद्धीनं यो बलेन समाश्रयेत् ।
स तेन सह नश्येत यथैरण्डाश्रयी गजः ॥ १ ॥

अथ स्थिरस्यास्थिरस्याश्रयेण [illegible] —

स्वयमस्थिरेणास्थिराश्रयणं नद्यां वहमानेन वहमानस्याश्रय-णमिव ॥ ५७ ॥

टीका [illegible] स्वयमस्थिरो [illegible] भवति स [illegible] विनाशं याति । कथं [illegible] यथा नद्यां [illegible] विनाशो भवति [illegible]

[illegible] नश्यन्ति [illegible] ।
[illegible] यथा नद्यां [illegible] समाश्रित ॥ १ ॥

अथ मानिना [illegible] —

वरं मानिनो मरणं न परेच्छानुवर्तनादात्मविक्रयः ॥ ५८ ॥

टीका [illegible] । किं [illegible] मरणं न [illegible]

[illegible] मृत्युः [illegible] ।
न [illegible] ॥ १ ॥

अथ [illegible] —

आर्तिच्छलाते [illegible] पार्थिवः [illegible] ॥ ५९ ॥

टीका—न केवलं शत्रोः संश्रयो न कर्तव्योऽपि तु म्रियते कस्मिंश्चि-द्विषये आपत्तौ परिणामे शत्रुसंश्रयोऽपि श्रेयान् कल्याणप्रदो भवति । तथा च हारीतः—

> परिणामं शुभं ज्ञात्वा शत्रुजः संश्रयोऽपि च ।
> कस्मिंश्चिद्विषये कार्यः सततं न कथंचन ॥ १ ॥

अथ राज्ञः कृत्येषु कालातिक्रमस्य स्वरूपमाह—

निधानादिव न राजकार्येषु कालनियमोऽस्ति ॥ ६० ॥

टीका—यथा निधाने लब्धे न कालनियमः कालातिक्रमो न क्रियते तत्क्षणादेव गृह्यते तथा राजकार्येषु कालातिक्रमो न शुभावहः तत्क्षणादेव राजकार्याणि क्रियन्ते । तथा च गौतमः

> निधानदर्शने यद्वत्कालक्षेपो न कार्यते ।
> राजकृत्येषु सर्वेषु तथा कार्यः सुसेवकैः ॥ १ ॥

अथ राजकार्याणां स्वरूपमाह—

मेघवदुत्थानं राजकार्याणामन्यत्र च शत्रोः सन्धिविग्रहा-भ्याम् ॥ ६१ ॥

टीका—राजकार्याणां राजकृत्यानां यदुत्थानं संभूतिः (सर्वविदितं ?) मेघवदुत्थानं यथा मेघस्योत्थानमचिन्तितमपि संजायते तथा राज-कृत्यानामपि, तस्माद्विलम्बो न कार्यः, अन्यत्र शत्रोः सन्धिविग्रहाभ्यां शत्रुविषये यत्कृत्यं तत्र यः समादेशः सन्धिविग्रहविषये स तत्क्षणादेव न कार्यः चिन्तनीय इति । तथा च गुरुः—

> राजकृत्यमचिन्त्यं यद्वत्कस्मादेव जायते ।
> मेघवत् तत्क्षणात्कार्यं मुक्त्वैकं सन्धिविग्रहं ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि विजिगीषुणा यत्कर्तव्यं तदाह—

कृतिमानं शत्रोरेव यत्नोऽप्यमात्मना महीस्तहते ॥ ६२ ॥

टीका—तादृशीभावं गच्छेत् सन्धिविग्रहाभ्यामेव शत्रुणा सह
वर्तेत किं स्यात्? यदन्यस्मात्प्रबलो यः शत्रोः शत्रुसहायो जायते
गुणाकारं प्रविशति। केन? आत्मना सह, शत्रुणा सह सन्धिविग्रहत्वं
वैसास्वमिति। तथा च गर्गः—

यदसौ सन्धिमादातुं गुणाय कुरुते क्षणं।
विग्रहेण तदा तेन सह सन्धिस्तथा रणम् ॥ १ ॥

अथ द्वैधीभाव (गते) सीमाधिपे तच्छत्रौ पुरस्तादे सीमाधिप
पद्धति तदाह—

बलद्वयमध्यस्थितः शत्रुरुभयसिद्धमध्यस्थितः करोति सर्वो
गुणाभावः ॥ ३३ ॥

टीका—[illegible]
[illegible]
[illegible]। [illegible]। तथा च शुक्रः—

विग्रहावेशे यो बली [illegible]।
[illegible] ॥ १ ॥

अथ [illegible] (आह—)

[illegible] ॥ ३४ ॥

टीका—[illegible]
[illegible]

[illegible]।
[illegible] ॥ १ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ ३५ ॥

टीका—यद्भूफलदानं, तत्किंविशिष्टं? अनित्यं विनश्वरं, पुत्रपौत्रकं परस्य न भवति । यत्पुनर्भूमिदानं तत्तमेव भूयो न लभ्यते तस्मात्पितृ-पैतामहिका भूमिः परस्मै न दीयत इति । तथा च गुरुः—

> भूमिपस्य न दातव्या निजा भूमिर्बलीयसः ।
> स्तोकापि या भयं चेत्स्यात्तस्मादेयं च तत्फलम् ॥ १ ॥

अथ येन कारणेन परस्य न दीयते तदाह—

अवज्ञयापि भूमावारोपितस्तरुर्भवति बद्धतलः ॥ ६६ ॥

टीका—आरोपितः स्थापितस्तरुर्वृक्षो बद्धमूलो भवति जडाभिः प्रसरति किं पुनर्न महीपतिः पुत्रपौत्रैः प्रसरतीति । तथा च रैभ्यः—

> हेलयापि क्षितौ वृक्षः स्थापितो वृद्धिमाप्नुयात् ।
> तस्या गुणेन नो भूपः कस्मादिह न वर्धते ॥ १ ॥

अथाल्पदेशाधिपोऽपि राजा भवति यथा सार्वभौमस्तदाह—

उपायोपपन्नविक्रमोऽनुरक्तप्रकृतिरल्पदेशोऽपि भूपतिर्भवति सार्वभौमः ॥ ६७ ॥

टीका—यो राजोपायोपपन्नविक्रमो भवति उपायाः सामादयस्तैरु-पपन्नो युक्तो विक्रमः पराक्रमो भवति । तथा योऽनुरक्तप्रकृतिर्भवति प्रकृतिशब्देन राज्यपालादिका सर्वापरलोक सेवका कथ्यन्ते तेऽनुरक्ता भक्ता यस्य स राजा स्वल्पदेशोऽपि चक्रवर्ती प्रजायते ।

अथ राज्ञो भूमिर्यथा भवति [illegible]—

न हि कुलागता कस्यापि भूमिः किन्तु वीरभोग्या वसुन्धरा ॥ ६८ ॥

टीका—यस्य भूमि [illegible] पितृपितामहि[illegible] [illegible] हितस्य भूपतेर्वशगा भवति [illegible] [illegible] [illegible], परकीयापि भूमिर्वीरबलस्याभोग्या भवति [illegible] न गुरु —

कातराणां न वश्या स्याद्यद्यपि स्यात्क्रमागता ।
परकीयापि चात्मीया विक्रमो यस्य भूपतेः ॥ १ ॥

अथ भूपालानां सामादीनां नामानि लिख्यन्ते—

सामोपप्रदानभेददण्डा उपायाः ॥ ६९ ॥

टीका—गतार्थमेतत् ।

अथ साम्नो लक्षणमाह—

तत्र पंचविधं साम, गुणसंकीर्तनं सम्बन्धोपाख्यानं परोपकारदर्शनमायतिप्रदर्शनमात्मोपनिबन्धनमिति ॥ ७० ॥

टीका—प्रथमं गुणकीर्तनं तावत् परस्य गुणाः केवलाः कीर्त्यन्ते द्वितीयं सम्बन्धोपाख्यानं येन प्रकारेण सम्बन्धः सन्निर्भवति ते वद तृतीयं परोपकरणं । तथायतिप्रदर्शनं नित्यदर्शनं चतुर्थं । तथा निबन्धनं यदात्मोपनिबन्धनं क्रियते तत्पंचमं साम । तथा च व्यासः

साम्ना यत्सिद्धिदं कार्यं ततो नो विकृतिं भजेत् ।
सज्जनानां यथा चित्तं दुरुक्तैरपि कीर्तितैः ॥ १ ॥

अथ परमतेन साम्नो माहात्म्यमाह—

साम्नैव यत्र सिद्धिर्न तत्र दण्डो बुधेन विनियोज्यः ।
पित्तं यदि शर्करया शाम्यति तत्किं पटोलेन ॥ १ ॥

अथात्मोपनिबन्धनमाह—

यन्मम द्रव्यं तद्भवता स्वकृत्येषु प्रयुज्यतामित्यात्मोपनिधानं ॥ ७१ ॥

टीका— [illegible] नात्मोपनिधानमुच्यते यद्भवता निजधनमात्म[illegible] [illegible] सर्वाण्युपप्रदानं [illegible] यन्मम द्रव्यं [illegible] स्वकृत्येषु प्रयुज्यतामिति च [illegible] [illegible]

अथोपप्रदानमाह—

बह्वर्थसंरक्षणायाल्पार्थप्रदानेन परप्रसादनमुपप्रदानं ॥ ७२ ॥

टीका—यद्दुर्बलतया शत्रोर्बलदर्थरक्षणाय स्वल्पार्थो दीयते परप्रसादनं तच्च प्रोक्तमुपप्रदानं । तथा च शुक्रः—

> यद्दुर्थः स्वल्पवित्तेन यदा शत्रोः प्ररक्षते ।
> परप्रसादनं तत्र प्रोक्तं तच्च विचक्षणैः ॥ १ ॥

अथ भेदस्य स्वरूपमाह—

योगतीक्ष्णगूढपुरुषोभयवेतनैः परबलस्य परस्परशंकाजननं निर्भर्त्सनं वा भेदः ॥ ७३ ॥

टीका—परयोगः सैन्यस्य नायकः क्रियते, तीक्ष्णं विषं तदत्र संजायते, तथा गूढपुरुषा अलक्षितपुरुषा यत्र संजायते । तथोभयवेतनैः पुरुषैः यत्र शत्रोर्धेष्ठिते ज्ञात्वा परस्परमन्योन्यं बलस्य परस्य च शत्रोः शंकोत्पद्यते निर्भर्त्सनं क्रियते वा स भेदः । तथा च गुरुः—

> सैन्यं विषं तथा गुप्ताः पुरुषाः सेवकात्मकाः ।
> तैश्च भेदः प्रकर्तव्यो मिथः सैन्यस्य भूपतेः ॥ १ ॥

अथ दण्डस्य स्वरूपमाह—

वधः परिक्लेशोऽर्थहरणं च दण्डः ॥ ७४ ॥

टीका—यत्र शत्रोर्वधः क्रियते, परिक्लेशो वार्थहरणं वा क्रियते स दण्ड उच्यते । तथा च जैमिनिः—

> वधस्तु क्रियते यत्र परिक्लेशोऽथवा रिपोः ।
> अर्थस्य ग्रहणं भूरि दण्डः स परिकीर्तितः ॥ १ ॥

अथ शत्रोः सकाशात् समागतं [illegible]

तदाह—

शत्रोरागतं साधु परीक्ष्य कल्याणबुद्धिमनुगृह्णीयात् ॥ ७५ ॥

[illegible] शत्रोः सकाशात् [illegible]

[illegible] शुभबुद्धिं [illegible]

तस्मानुग्रहणं कुर्यात् प्रसादं विदधीत नापरीक्षितस्य । तथा च भागुरिः—

> शत्रोः सकाशतः प्राप्तं सेवार्थं शिष्टसम्मतं ।
> परीक्षा तस्य कृत्वाथ प्रसादः क्रियते ततः ॥ १ ॥

अथ बाह्यसेवकागतकार्यद्वारेणारण्यौषधमाहात्म्यमाह—

किमरण्यजमौषधं न भवति क्षेमाय ॥ ७६ ॥

टीका—आरण्यं यदौषधं भवत्यौषधं तत्किं न भवति क्षेमायारोग्याय । एवं परेषां सकाशादागतोऽपि क्षेमाय भवति । तथा च शुक्रः—

> परोऽपि हितवान् बन्धुर्बन्धुरप्यहितपरः ।
> अहितो देहजो व्याधिर्हितमारण्यमौषधं ॥ १ ॥

अथ शत्रुसम्बन्धिना लोकेन गृहप्रविष्टेन यद्भवति तदाह—

गृहप्रविष्टकपोत इव स्वल्पोऽपि शत्रुसम्बन्धी लोकस्तंत्रो- द्वासयति ॥ ७७ ॥

टीका—उद्वासयति स्फोटयति । किं तत् ? गृहसम्पत् । कोऽसौ ? लोकः । किंविशिष्टः ? शत्रुसम्बन्धी शत्रुपक्षस्थः । किंविशिष्टः ? स्वल्पोऽपि लघुरपि । क इव ? कपोत इव यथा कपोतो लघुरपि गृहे प्रविष्टो गृहं नाशयति तथा शत्रुजन इति । तथा च बादरायणः—

> शत्रुपक्षभवो लोकः स्तोकोऽपि गृहमाविशेत् ।
> यदा तदा समाधत्ते तद्गृहं च कपोतवत् ॥ १ ॥

[illegible]—

[illegible]भूमिकामानामुपरीतरलाभः श्रेयान् ॥ ७८ ॥

टीका—श्रेयान् [illegible] भवति । कोऽसौ ? [illegible] । किं- [illegible] ? निवर्दित[illegible]भूमिकामाना [illegible] [illegible] भवति [illegible]

स्मादपि भूमिलाभ उत्कृष्टतरस्तस्माद्विजिगीषुणा भूमिलाभः (कार्यः) ।
तथा च गर्गः—

[illegible] १ ॥

अथ यस्माल्लाभत्रयाणामेतेषां श्रेष्ठतरस्तदाह—

हिरण्यं भूमिलाभाद्भवति मित्रं च हिरण्यलाभादिति ॥७९॥

टीका—न तदस्ति धरापृष्ठे यद्भूलाभान्न लभ्यतेऽन्यल्लाभान् परित्यज्य तस्माद्भूलाभमाश्रयेत । भूमिर्वा मित्रं वा हिरण्यबाहुल्येन भवतो द्वे अपि तस्माद्भुजा हिरण्यसंग्रहः कार्यः । तथा च शुक्रः

न भूमिर्न च मित्राणि कोशहीनस्य भूपतेः ।
द्वितीयं तद्भवेत्सद्यो यदि कोशो भवेद्गृहे ॥ १ ॥

अथ शत्रोर्मित्रत्वे वर्तमानस्य विजिगीषुणा यत्कर्तव्यं तदाह—

शत्रोर्मित्रत्वकारणं विमृश्य तथाचरेद्यथा न वञ्च्यते ॥८०॥

टीका—विग्रहस्य पर्यालोच्य किं तत्कारणं किं वा शत्रो ततो विमृश्य तथाचरेत् व्यवहरेत् यथा न वंचते वंचनां न प्राप्नोति । सहसा शत्रुणा सह मैत्र्यं न कुर्यात् । तथा च शुक्रः—

पर्यालोच्य विना कुर्याद्यो मैत्रीं रिपुणा सह ।
स वञ्चनामवाप्नोति तस्य पादर्वादिस्तथा ॥ १ ॥

अथ यथा दुरपवादो भवति तदाह—

गूढोपायेन सिद्धिकार्यस्यासंवित्तिकरणं सर्वाशङ्कां दुरपवादं च करोति ॥ ८१ ॥

टीका—[illegible]
प्राप्तस्यासंवित्तिकरणं [illegible]
[illegible]

त्वमस्ति। तथा नैकान्तं संभावयति तस्य दुरपवादो जननिन्दा भवति यतोऽनेन भूभुजा एप वृद्धिं नीतः तदस्य भक्तिं न करोति कृतघ्नः। तथा च गुरुः—

> वृद्धिं गच्छेद्यतः पार्श्वात्तं प्रयत्नेन तोषयत्।
> अन्यथा जायते शंका रणगोपाद्धि गर्हणा ॥ १ ॥

अथोभयवेतनानां यत्कार्यं तदाह—

गृहीतपुत्रदारानुभयवेतनान् कुर्यात् ॥ ८२ ॥

टीका—यान् राजा उभयवेतनान् करोति शत्रोः पार्श्वे प्रेषयति तेषां पुत्रदारसंग्रहं कुर्यात् ततस्ते प्रहेतव्या येन शत्रुचेष्टितं निवेदयन्ति। तथा च जैमिनिः—

> गृहीतपुत्रदारांश्च कृत्वा चोभयवेतनान्।
> प्रेषयेद्वैरिणः स्थाने येन तच्चेष्टितं लभेत् ॥ १ ॥

अथ शत्रुविनाशं कृत्वा भूभुजा यत्कर्तव्यं तदाह—

शत्रुमपकृत्य भूदानेन तद्दायादानात्मनः सफलयेत् क्लेशयेद्वा ॥ ८३ ॥

टीका—शत्रुं परमपकृत्य साधयित्वा पश्चाद्विजिगीषुणा किं कार्यं तद्दायादं गोत्रिणं तद्भूदानेन सफलयेत् युक्तान् कुर्यात्। कथं? आत्मनः यथा स्वकीयो भवति। तथा च नारदः—

> साधयित्वा परं युद्धे तद्भूमिस्तस्य गोत्रिणः।
> दातव्यात्मवशो यः स्यान्नान्यस्य तु कथंचन ॥ १ ॥

अथ .... —

परविश्वासजनने सत्यं शपथः प्रतिभूः प्रधानपुरुषपरिग्रहो वा हेतुः ॥ ८४ ॥

टीका—परस्य शत्रोः विश्वासजनने को हेतुः किं कारणं येन स न चलति, सत्यं शपथस्तावत् तथा प्रतिभुवः प्रधानपुरुषप्रतिग्रहो वा। प्रतिग्रहशब्देन तस्याभीष्टजनग्रहणमुच्यते। तथा च गौतमः—

> शपथैः कोशपानेन महापुरुषवाक्यतः।
> प्रतिभूरिष्टसंग्रहाद्रिपोर्विश्वसतां व्रजेत् ॥ १ ॥

अथ भूभुजा यथा न यात्रा कर्तव्या तदाह—

सहस्रैकीयः पुरस्ताल्लाभः शतैकीयः पश्चात्कोप इति न यायात् ॥ ८५ ॥

टीका—राज्ञो यदि सहस्रैकीयः सहस्रप्रमाणः पुरस्ताल्लाभो भवति, शतैकीयः शतप्रमाणः पश्चात्कोपो भवति तत्र न यायात् न यात्रां कुर्यात्। तथा च भृगुः—

> पुरस्ताद्भूरि लाभेऽपि पश्चात्कोपोऽल्पको यदि।
> तद्यात्रा नैव कर्तव्यास्तस्वल्पोऽप्यधिको भवेत् ॥ १ ॥

अथ स्वल्पेनापि पश्चात्कोपेन यथा न गम्यते तदाह—

सूचीमुखा ह्यनर्था भवन्त्यल्पेनापि सूचीमुखेन महान् दवरकः प्रविशति ॥ ८६ ॥

टीका—सूचीमुखशब्देन स्वल्पः पश्चात्कोपोऽभिधीयते। तस्मिन् स्थिते भवन्ति जायन्ते, के ते? अनर्था आपदः प्रभूततराः। केन दृष्टान्तेन? सूचीमुखदृष्टान्तेन सूचीशब्देन सीवनकर्म... यथा तथा यदा वस्त्रे मुखं कृतं भवति तदा तन्मार्गेण महानपि दवरकः सूत्रमयः प्रविशति। एवं स्वल्पोऽपि पश्चात्कोपः ... पश्चाद्गतस्य प्रदेशं गतस्य लघुरपि भूत्वा याति तस्मात् स्वल्पेनापि पश्चात्कोपेन न गन्तव्यमिति। तथा च बादरायणः—

> स्वल्पेनापि न गन्तव्यं पश्चात्कोपेन भूभुजा।
> यतः स्वल्पोऽपि तद्बाह्यः स वृद्धिं परमां व्रजेत् ॥ १ ॥

अथ यथा विजिगीषुणात्मलाभश्चिन्तनीयस्तथाह—

न पुण्यपुरुषापचयः क्षयो हिरण्यस्य धान्यापचयो व्ययः शरीरस्यात्मनो लाभमिच्छेद्येन सामिषक्रव्याद इव न परैरवरुध्यते ॥ ८७ ॥

टीका—तं लाभमिच्छेत् तस्य लाभस्य वाञ्छा कार्या येन लाभेन न स्यान्न भवेत्। कोऽसौ? पुण्यपुरुषापचयः पुण्यपुरुषाः प्रधानपुरुषास्तेषामपचयो विनाशो येन लाभेन न भवति। तथा क्षयो हिरण्यस्य, हिरण्यं कोशस्तस्य क्षयो न भवति। तथा धान्यापचयोऽन्नक्षयः। तथा व्ययो नाशः, कस्य? आत्मनः शरीरस्य। तथा सामिषक्रव्याद इव सामिषविहगम इव यथा परैः पक्षिभिर्मांसार्थिभिः तथान्यैः क्षितिपालैर्येन लाभेन गृहीतेन न रुध्यते तं लाभमिच्छेत्। तथा च शुक्रः—

स्वतंत्रस्य क्षयो न स्यात्तथा चैवात्मनोऽपरः।
येन लाभेन नार्थैश्च रुध्यते तं विचिन्तयेत् ॥ १ ॥

शक्तोऽपि यः पराधापराधान् क्षमते तस्य यद्भवति तदाह—

शक्तस्यापराधिषु या क्षमा सा तस्यात्मनस्तिरस्कारः ॥८८॥

टीका—यस्य नृपस्य शक्तस्य कृतापराधेषु क्षमा भवति सा तस्य तिरस्कारः ... तस्माच्छक्तेन कृतापराधेषु क्षमा न कार्या। तथा च वादरायणः—

शक्तिमानपि यः कुर्यादपराधिषु च क्षमां।
स पराभवमाप्नोति सर्वेषामपि वैरिणां ॥ १ ॥

अथ यो मर्यादातिवर्तिषु निग्रहं करोति तस्य यद्भवति तदाह—

अतिक्रम्यवर्तिषु निग्रहं कर्तुः सर्पादिव दृष्टप्रत्यवायः सर्वोऽपि बिभेति जनः ॥ ८९ ॥

ल्पेन जल्पति तद्वध्यं, अथ सहस्रं जल्पति तस्य दण्डो नास्तीति। तथा च शुक्रः—

> बुद्धिपौरुषगर्वेण दण्डयेच्च महाजनं।
> पश्चादनुगामिकं राजा यदा तु शास्त्रपूर्वकम् ॥ १ ॥

अथ भूमिलक्षणमाह—

सा राजन्वती भूमिर्यस्यां नासुरवृत्ती राजा ॥ ९६ ॥

टीका—यस्यां भूमौ देशे न स्यात् न भवेत् असुरवृत्ती राक्षसवृत्ती राजा सा भूमी राजन्वतीत्यभिधीयते। तथा च गुरुः—

> यस्यां राजा सुवृत्तः स्यात्सौम्यवृत्तः सदैव हि।
> सा भूमिः शोभते नित्यं सदा वृद्धिं च गच्छति ॥ १ ॥

अथासुरवृत्ते राज्ञः स्वरूपमाह—

परप्रणेयो राजाऽपरीक्षितार्थमानप्राणहरोऽसुरवृत्तिः ॥ ९७॥

टीका—यो राजा परप्रणेयो भवति अन्यमतेन वर्तते स्वयं न पर्यालोच्य कृत्वा कृत्यानि करोति स परप्रणेयः तथापरीक्षितार्थमानप्राणहरो दण्डयत्येवकृता अपरीक्षितार्थमानेन प्राणान् हरति। एतदुक्तं भवति, दण्ड्यस्यार्थमान प्राणमान न जानाति शतवित्तस्य परवचनैः सहस्रं याचते ततो य गच्छमानस्य प्राणान् हरति सोऽसुरवृत्तिः कथ्यते। तथा च नारदः—

> परवाक्यैर्नृपो यत्र सद्वृत्तः सुप्रपीडयेत्।
> प्रभूतेन तु दण्डेन सोऽसुरवृत्तिरुच्यते ॥ १ ॥

अथ परप्रणेयस्य राज्ञो लक्षणमाह—

परकोपप्रसादानुवृत्तिः परप्रणेयः ॥ ९८ ॥

टीका—यो राजा परवचनेन कोपं करोति प्रमादं करोति स परप्रणेयस्तस्माद्भूपतिना परप्रणेयेन न भवितव्यं। तथा च नारदः —

परप्रणेयो भूपालो न राज्यं कुरुते चिरं ।
पितृपैतामहं चेत्स्यात्कि पुनः परभूपजं ॥ १ ॥

छन्दोनुवर्तनस्य स्वरूपमाह—

तत्स्वामिच्छन्दोनुवर्तनं श्रेयो यन्न भवत्यायत्यामहिताय ९९

टीका—भृत्येन स्वामिनस्तथाच्छन्दोनुवर्तनं कार्यं तथा प्रियं वाच्यं यथा तच्छ्रेयस्करं भवति । कस्यां ? आयत्यां परिणामे, अहिताय भवति तन्न वाच्यमिति । तथा च गर्गः—

मंत्रिभिस्तत्प्रियं वाच्यं प्रभोः श्रेयस्करं च यत् ।
आयत्यां कष्टदं यच्च कार्यं तन्न कदाचन ॥ १ ॥

अथ भूभुजा यथार्थो ग्राह्यः प्रजानां तत्स्वरूपमाह—

निरनुबन्धमर्थानुबंधं चार्थमनुगृह्णीयात् ॥ १०० ॥

टीका—गृहीतव्य । क ? अर्थः । केन ? राज्ञा । काभ्यः ? प्रजाभ्यः सकाशात् । कथं ? निरनुबन्धं यथा भवति यथा जनस्यानुबन्धः पीडा न भवति । तथार्थानुबन्धोऽर्थक्षतिर्यथा न स्यात् तथा ग्राह्यं नृपैर्धनम् ।

अथार्थागमस्य दूषणमाह—

नासावर्थो धनाय यत्रायत्यां महानर्थानुबन्धः ॥ १०१ ॥

टीका—सोऽर्थो धनाय धननिमित्तं स्थिरो न भवति तस्यार्थस्य गृहागतस्यायत्या परिणामे महत्तरोऽर्थानुबन्धो भवति गृहस्थितमपि नाशं याति चौर्यादिभिः । कुत्सितकर्मप्रभृतिभिः योऽर्थो गृहमानीयते तदर्थं राज्ञा गृहस्थितमपरमपि वित्तं गृह्यते । तथा चात्रिः—

अन्यायोपार्जितं वित्तं यो गृहं समुपानयेत् ।
गृह्यते भूभुजा तस्य गृहगेन समन्वितम् ॥ १ ॥

अथार्थलाभस्य स्वरूपमाह—

लाभस्त्रिविधो नवो भूतपूर्वः पैत्र्यश्च ॥ १०२ ॥

टीका—एकस्तावदर्थलाभः पुरुषाणां नवः प्रत्यग्र उत्पद्यते, अन्यो भूतपूर्वः सदैव लभ्यते, तृतीयः पैत्र्यः पैतामहिकः। त्रयोऽप्येते प्रशस्ता लाभा ग्राह्या येऽन्ये ते न ग्राह्या नीतिज्ञैः। तथा च शुक्रः—

उपार्जितो नवोऽर्थः स्याद्भूतपूर्वस्तथापरः।
पितृपैतामहोऽन्यस्तु त्रयो लाभाः शुभावहाः ॥ १ ॥

इति षाड्गुण्यसमुद्देशः । २९ ।

३० युद्ध-समुद्देशः ।

अथ युद्धसमुद्देशो व्याख्यायते । तत्रादावेव मन्त्रिमित्राभ्यां दूषणमाह—

स किं मंत्री मित्रं वा यः प्रथममेव युद्धोद्योगं भूमित्यागं चोपदिशति, स्वामिनः सम्पादयति च महान्तमनर्थसंशयं ॥१॥

टीका—यः शत्रावुपस्थिते, प्रथममेव मंत्रकाले स्वामिन उपदिशति उपदेशं ददाति । किंविशिष्ट ? युद्धात्मक युद्धस्वरूप, भूमित्यागाय देशान्तरगमनाय स मंत्री न भवति, तन्मित्रं न भवति, वैरिरूपिणौ द्वावपि तौ । तथा सम्भावयति महान्तमनर्थसंशय । तथा च गर्गः—

उपस्थिते रिपौ मंत्री युद्धं बुद्धिं ददाति यः ।
मन्त्रिरूपेण वैरी स देशत्यागं च यो वदेत् ॥ १ ॥

अथ मन्त्रिणो दूषणमाह—

संग्रामे को नामात्मवानादावेव स्वामिनं प्राणसन्देहतुलायामारोपयति ॥ २ ॥

टीका— ....प्राणसन्देहतुलाया प्राणसन्देहाग्रे । क ? युद्धे संग्रामे । तस्मान्मन्त्रिणा शत्रावुपस्थिते युद्धार्थं स्वामी संयोजयितव्यः । तथा च गौतम.—

उपस्थिते रिपौ स्वामी पूर्वं युद्धे नियोजयेत् ।
उपायं दापयेद् व्यर्थे गते पश्चान्नियोजयेत् ॥ १ ॥

अथ भूम्यर्थे पार्थिवेन यत्कार्यं तदाह—

भूम्यर्थं नृपाणां नयो विक्रमश्च न भूमित्यागाय ॥ ३ ॥

टीका—भूमिनिमित्तं नृपाणां राज्ञा, कौ युक्तौ ? नयो नीतिः पराक्रमश्च वीरवृत्तिपरौ द्वावपि कर्तव्यौ न देशत्यागः कार्यः । तथा च शुक्रः—

भूम्यर्थं भूमिपैः कार्यो नयो विक्रम एव च ।
देशत्यागो न कार्यस्तु प्राणत्यागेऽपि संस्थिते ॥ १ ॥

अथ शत्रोर्बलयुक्तेन यत्कर्तव्यं तदाह—

बुद्धियुद्धेन परं जेतुमशक्तः शस्त्रयुद्धमुपक्रमेत् ॥ ४ ॥

टीका—प्रथमं तावद्बुद्धियुद्धं कर्तव्यं यदि बुद्धियुद्धेन न शक्तः शत्रुं जेतुं ततः शस्त्रयुद्धं कुर्यात् । तथा च गर्गः—

युद्धं बुद्ध्यात्मकं कुर्यात्प्रथमं शत्रुणा सह ।
व्यर्थेऽस्मिन् समुत्पन्ने ततः शस्त्ररणं भवेत् ॥ १ ॥

अथ बुद्धियुद्धस्य माहात्म्यं भूयोप्याह—

न तथेषवः प्रभवन्ति यथा प्रज्ञावतां प्रज्ञाः ॥ ५ ॥

टीका—तथा तेन प्रकारेण न प्रभवन्ति समर्था भवन्ति । के? इषवो बाणा यथा बुद्धिमतां बुद्धयः प्रभवन्ति समर्था भवन्ति । तथा च गौतमः—

न तथात्र शरास्तीक्ष्णाः समर्थाः स्यू रिपोर्वधे ।
यथा बुद्धिमतां प्रज्ञा तस्मात्तां सन्नियोजयेत् ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि बुद्धिमाहात्म्यमाह—

दृष्टेऽप्यर्थे सम्भवन्त्यपराद्धेषवो धनुष्मतोऽदृष्टमर्थं साधु साधयति प्रज्ञावान् ॥ ६ ॥

टीका—दृष्टेऽप्यर्थे लक्ष्येऽपराधा व्यर्था इषवो बाणाः । यस्य तस्य धनुष्मतो धानुष्कस्य दृष्टेऽप्यर्थे लक्ष्ये (बाणा व्यर्थाः सम्भवन्ति) । यः पुमान् प्रज्ञावान् पुरुषोऽदृष्टमपि पदार्थं साधु यथा भवत्येवं साधयति । तथा च शुक्रः—

धानुष्कस्य शरो व्यर्थो दृष्टे लक्ष्येऽपि याति च ।
अदृष्टान्यपि कार्याणि बुद्धिमान् सम्प्रसाधयेत् ॥ १ ॥

— माधवमाण्डलीकविधानकमाह—

श्रूयते हि किल दूरस्थोपि माधवपिता कामन्दकीयप्रयोगेण माधवाय मालतीं साधयामास ॥ ७ ॥

टीका—एतत्संविधानकं माळतीमाधवनाटके ज्ञेयं ।

अथ भूयोऽपि प्रज्ञामाहात्म्यमाह—

प्रज्ञा ह्यमोघं शस्त्रं कुशलबुद्धीनां ॥ ८ ॥

टीका—प्रज्ञा बुद्धिरेवामोघं सफलमायुधं । केषां ? कुशलबुद्धीनां पण्डितानां । ये प्रज्ञाहता भवन्ति भूमिभृतस्ते भूयोऽपि शत्रुरूपा न भवन्ति ।

तत्रार्थे दृष्टान्ते दृष्टान्तमाह—

प्रज्ञाहताः कुलिशहता इव न प्रादुर्भवन्ति भूमिभृतः ॥ ९ ॥

टीका—प्रज्ञा एव कुलिशं तेन हता भूभृतः पर्वता इव राजानोऽपि न प्रभवन्तीति । तथा च गुरुः—

प्रज्ञाशस्त्रममोघं च विज्ञानाद्बुद्धिरूपिणी ।
तया हता न जायन्ते पर्वता इव भूमिपाः ॥ १ ॥

अथादृष्टेऽपि शत्रौ यो भयं करोति स किं करोति तस्य स्वरूपमाह—

परैः स्वस्याभियोगमपश्यतो भयं नदीमपश्यत उपानत्परित्यजनमिव ॥ १० ॥

टीका—परैः शत्रुभिः सह स्वस्यात्मनोऽभियोगं समागममपश्यन्नवलोकयन् यो राजा भयं करोति स उपानत्त्यागं करोति । किं कुर्वन् ? अपश्यन्ननवलोकयन् । कां ? नदीं, हास्यता यातीत्यर्थः । यथा नद्या अदर्शनेनोपानत्परिमोचनं तद्वच्छत्रावदृष्टेऽपि भयं प्रतिभाति । तथा च शुक्रः—

यथा चादर्शने नद्या उपानत्परिमोचनं ।
तथा शत्रावदृष्टेऽपि भयं हास्याय भूभुजां ॥ १ ॥

अथातितीक्ष्णस्य यद्भवति तदाह—

अतितीक्ष्णो बलवानपि शरभ इव न चिरं नन्दति ॥ ११ ॥

टीका—[illegible] कर्णसिंह भत्तमुत्तमं [illegible] [illegible] न हि [illegible] न [illegible] [illegible] [illegible] । यथा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । तथा च [illegible] —

[illegible] [illegible] कृते [illegible] ।
स [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥ १ ॥

अथ [illegible] युद्धमानस्य [illegible]—

प्रहरतोऽपसरतो वा समे विनाशे वरं प्रहारो नैकान्तिको विनाशः ॥ १२ ॥

टीका—[illegible] प्रहरतो युद्धमानस्य [illegible] वा समे विनाशे [illegible] विनाश .... ।

अथ दैवस्य [illegible]—

कुटिला हि गतिर्दैवस्य मुमूर्षुमपि जीवयति जिजीविषुं मारयति ॥ १३ ॥

टीका—[illegible] [illegible] [illegible] तस्य कुटिला वक्रा गतिर्वर्तते मुमूर्षुमपि [illegible] [illegible] जीवयति [illegible] करोति । तथा जिजीविषुमपि [illegible] [illegible] । तथा च [illegible]

[illegible] [illegible] [illegible] म्रियते हि सः ।
[illegible] म्रियते [illegible] सः ॥ १ ॥

अथ [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

दीपशिखायां पतङ्गवदैकान्तिके विनाशेऽविचारमपसरेत् ॥ १४ ॥

टीका – [illegible] [illegible] युद्ध [illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] विनाशे [illegible] । [illegible] विनाशे [illegible] [illegible] ।

कथं ? पतङ्गवत् । कस्यां ? दीपशिखायां । यथा दीपशिखायां पतितः पतङ्गो निश्चितं विनाशमवाप्नोति तथा बलवति शत्रौ दुर्बलोऽपि तस्मादपसरणं कार्यं । तथा च गौतमः—

> बलवन्तं रिपुं प्राप्य यो न नश्यति दुर्बलः ।
> स नूनं नाशमभ्येति पतंगो दीपमाश्रितः ॥ १ ॥

अथ दैवस्य लक्षणमाह—

जीवितसम्भवे देवो देयात्कालबलम् ॥ १५ ॥

टीका—यदा पुरुषे जीवितसम्भवो भवति दीर्घायुर्भवति तदा दैवं प्राक्तनं कर्म तस्य कालबलं तस्मिन् काले तद्ददाति येन दुर्बलोऽपि बलवन्तं व्यापादयतीति । तथा च शुक्रः—

> पुरुषस्य यदायुः स्याद्दुर्बलोऽपि तदा परं ।
> हिनस्ति चेद्बलोपेतं निजकर्म प्रभावतः ॥ १ ॥

अथ बलस्य सारेतरतामाह—

वरमल्पमपि सारं बलं न भूयसी मुण्डमण्डली ॥ १६ ॥

टीका—वरं प्रधानं । स्वल्पं स्तोकमपि । सारं उत्तमं । बलं सैन्यं । न भूयसी प्रभूतापि । मुण्डमण्डली असारसंघातः । तथा च नारदः—

> वरं स्वल्पापि च श्रेष्ठा नास्वल्पापि च कातरा ।
> भूपतीनां च सर्वेषां युद्धकाले पताकिनी ॥ १ ॥

अथासारबलस्य स्वरूपमाह—

असारबलभंगः सारबलभंगं करोति ॥ १७ ॥

टीका—यदसारबलं तत्परचक्रे दृष्टमात्रे भज्यते तस्य भंगो सारबलमपि भज्यते तस्मादसारबलं न कर्तव्यं । तथा च कौशिकः—

> कातराणां च यो भंगो संग्रामे स्यान्महीपतेः ।
> स हि भंगं करोत्येव सर्वेषां नात्र संशयः ॥ १ ॥

अथ भूभुजा संग्रामे यथा गन्तव्यं तथाह—

नाप्रतिग्रहो युद्धमुपेयात् ॥ १८ ॥

टीका—[illegible] न [illegible] । [illegible] युद्धं [illegible] । [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] । [illegible] न [illegible] ।
तथा च गुरुः —

> पश्चाद्यो [illegible] [illegible] ।
> स नूनं [illegible] [illegible] ॥ १ ॥

अथ [illegible] प्रतिग्रहलक्षणमाह —

राजव्यञ्जनं पुरस्कृत्य पश्चात्स्वाम्यधिष्ठितस्य सारबलस्य निवेशनं प्रतिग्रहः ॥ १९ ॥

टीका—राजव्यञ्जनं [illegible] स्वामिनं पुरस्कृत्य पुरतः कृत्वा पश्चात् कृत्वा पश्चात्तस्य सारबलं प्रधानसैन्यं [illegible] स प्रतिग्रहः स्यात्। [illegible] [illegible], [illegible] पश्चात् युद्धकाले [illegible] [illegible] स प्रतिग्रहः । तथा च नारदः —

> [illegible] पुरतः कृत्वा तत्पश्चात् [illegible] ।
> क्रियते युद्धकाले यः स प्रतिग्रहसंज्ञितः ॥ १ ॥

अथ सप्रतिग्रहबलस्य युद्धकाले यद्भवति तदाह—

सप्रतिग्रहं बलं साधु युद्धायोत्सहते ॥ २० ॥

टीका—[illegible] । [illegible] सैन्यं । किमर्थं युद्धाय [illegible] [illegible] प्रतिग्रहेण [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] च गुरुः —

> राजा पुरस्कृतः [illegible] ।
> उत्साहं कुरुते युद्धे [illegible] ॥ १ ॥

अथ युद्धकाले [illegible] [illegible] [illegible] —

पृष्ठतः सदुर्गजला भूमिर्बलस्य महानाश्रयः ॥ २१ ॥

टीका—युद्धकाले यस्य सैन्यस्य पृष्ठिप्रदेशे सदुर्गजला भूमिः, दुर्गेण जलेन सह भूमिर्भवति सा तस्य बलस्य महान् आश्रयः स्थानं भवति। एतदुक्तं भवति पराजयेऽपि प्राप्ते दुर्गप्रवेशः स्यात् जलप्राप्तिश्च। तथा च गुरुः—

जलदुर्गवती भूमिर्यस्य सैन्यस्य पृष्ठतः।
पृष्ठदेशे भवेत्तस्य तन्महाश्वासकारणं ॥ १ ॥

अथ जलदुर्गवत्या भूमेः पृष्ठतायाः कारणमाह—

नद्या नीयमानस्य तटस्थपुरुषदर्शनमपि जीवितहेतुः ॥२२॥

टीका— ....। एतदुक्तं भवति, सदुर्गजला नदी जीवितस्य सेनाया महाश्वासं करोति। तथा च जैमिनिः—

नीयमानेऽम्भ यो नद्या तटस्थं वीक्ष्यते नरं।
हेतुं तं मन्यते सोऽत्र जीवितस्य हितात्मनः ॥ १ ॥

अथ जलस्य माहात्म्यमाह—

निरन्नमपि सप्राणमेव बलं यदि जलं लभेत ॥ २३ ॥

टीका—यदि अन्नं न प्राप्यते सप्राणमेव बलं सावष्टंभमेव यदि तावज्जलं लभेत। एतस्मात्कारणात्.युद्धकाले जलं पृष्ठिदेशे नीयते। यदि कथमपि पराजयो भवति तत्पृष्ठस्थं जलं प्राणानां रक्षाय भवति अन्नवाह्यमपि। तथा च भारद्वाजः—

अन्नाभावादपि प्रायो जीवितं न जलं विना।
तस्माद्युद्धं प्रकर्तव्यं जलं कृत्वा च पृष्ठतः ॥ १ ॥

अथात्मशक्तिमजानतः परैः सह युद्धयतो यद्भवति तदाह—

आत्मशक्तिमविज्ञायोत्साहः शिरसा पर्वतभेदनमिव ॥२४॥

टीका—आत्मशक्तिमविज्ञायाज्ञात्वाऽजानन् यः परेण युद्धं करोति तस्यैतद्युद्धं कीदृशं? शिरसा मस्तकेन पर्वतभेदनमिव पर्वतस्फोटनमिव। तथा च कौशिकः—

आत्मशक्तिमजानानो युद्धं कुर्याद्बलीयसा।
सार्धं स च करोत्येव शिरसा गिरिभेदनं॥ १॥

अथ राज्ञा यथा कार्यं तदाह—

सामसाध्यं युद्धसाध्यं न कुर्यात्॥ २५॥

टीका—यत्कार्यं प्रयोजनं साम्ना सिद्ध्यति तद्युद्धेन न सिद्ध्यति। तथा च वल्लभदेवः—

साम्नैव यत्र सिद्धिस्तत्र न दण्डो बुधैर्विनियोज्यः।
पित्तं यदि शर्करया शाम्यति ततः किं तत्पटोलेन॥ १॥

अथ भूयोऽपि साममाहात्म्यमाह—

गुडादभिप्रेतसिद्धौ को नाम विषं भुञ्जीत॥ २६॥

टीका—गुडेन भक्षितेन यद्यभिप्रेतसिद्धिर्वाञ्छितसिद्धिर्भवति शरीरस्य तत्को नामाहो विषमुपभुञ्जीत विषं भक्षयेत्। तथा च हारीतः—

गुडास्वादनतः शक्तिर्यदि गात्रस्य जायते।
आरोग्यलक्षणा नाम तद्भक्षयति को विषं॥ १॥

अथ मूर्खस्य स्वरूपमाह—

अल्पव्ययभयात्सर्वनाशं करोति मूर्खः॥ २७॥

टीका—यो मर्त्यो मूर्खो भवति स स्वल्पव्ययभयात् सर्वनाशं करोति। एतदुक्तं भवति, यो बलवता स्नेहेन याचितः स्वल्पं न प्रयच्छति स सर्वस्वं तस्मै ददाति यतो बलात्कारेण भूभुजा गृह्यते। तथा च वल्लभदेवः—

हीनो नृपोऽल्पं महते नृपाय
याचितो नैव ददाति साम्ना।
कदर्थ्यमानेन ददाति स्वार्थं
तेषां स चूर्णस्य पुनर्ददाति॥ १॥

अथ मन्दमतेः स्वरूपमाह—

को नाम कृतधीः शुल्कभयाद्भाण्डं परित्यजति ॥ २८ ॥

टीका—नाम अहो कः पुरुषः कृतधीः बुद्धिमान् शुल्कभयाद्दानभीतेः भाण्डं बर्परं (सर्वं) परित्यजति। यो नष्टबुद्धिर्भवति तस्य (स) एवं करोति नो विज्ञः। तथा च कौशिकः—

> यस्य बुद्धिर्भवेत्काचित् स्वल्पापि हृदये स्थिता।
> न भाण्डं त्यजेत् सारं स्वल्पदानकृतात्भयात् ॥ १ ॥

अथ व्ययस्य स्वरूपमाह—

स किं व्ययो यो महान्तमर्थं रक्षति ॥ २९ ॥

टीका—स किं व्ययः कथ्यते येन कृतेन महान् प्रभूतोऽर्थो रक्ष्यते उपकारद्वारेण यो बलवतां क्रियते। शेषार्थस्य रक्षार्थमिति। तथा च शैनकः—

> उपचारपरित्राणाद्दत्वा वित्तं सुबुद्धयः।
> बलिनो रक्षयन्तिस्म यच्छेषं गृहसंस्थितम् ॥ १ ॥

अथ सम्पूर्णविभवस्य यद्भवति तदाह—

पूर्णसरः सलिलस्य हि न परीवाहादपरोऽस्ति रक्षणोपायः ॥ ३० ॥

टीका—यथा पूर्णसरो जलस्य परीवाहात् प्रणालादपरोऽस्ति न रक्षणोपाय तथा सम्पूर्णविभवस्य गृहस्थस्य त्यागादपरो नास्ति वित्तरक्षणोपाय। तथा च विष्णुशर्मा—

> उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणं।
> तडागोदरसंस्थानं परीवाह इवाम्भसां ॥ १ ॥

अथ बलवता साम्ना प्रार्थितो यो न ददाति तस्य यद्भवति तदाह—

अप्रयच्छतो बलवान् प्राणैः सहार्थं गृह्णाति ॥ ३१ ॥

टीका—यो बलवता प्रार्थितः साम्ना न प्रयच्छति किंचित्पदार्थं तस्य प्राणैः सहार्थं गृह्णाति। तथा च नारदः—

> बलाढ्यः प्रार्थितः साम्ना यो न यच्छति दुर्बलः ।
> किंचिद्वस्तु नरं प्रार्थ्यमानस्तस्यासौ हरेद्ध्रुवम् ॥ १ ॥

अथ बलवता देशार्थं प्रदातव्यं तदाह—

बलवति सीमाधिपेऽर्थं प्रयच्छन् विवाहोत्सवगृहगमनादि-मिषेण प्रयच्छेत् ॥ ३२ ॥

टीका—सीमाधिपस्य बलवतो दुर्बलेन मिषान्तरेण विवाहोत्सवव्याजेन गृहगमनव्याजेन उपचारः कर्तव्यो येन न तं सर्वं परिहरति। तथा च शुक्रः—

> वृद्धपुत्रस्य गृहातिथ्यव्याजैर्देयं बलाधिके ।
> सीमाधिपे स्वदेशस्य रक्षार्थं स्वधनस्य च ॥ १ ॥

अथ बलवति सीमाधिपेऽनुपचारेऽस्य यद्भवति तदाह—

आमिषमर्थमप्रयच्छतोऽनवधिः स्यान्निबन्धः शासनम् ॥३३॥

टीका—किंचिन्मिषान्तरं कृत्वा बलवति सीमाधिपे यो नोपचारं करोति दुर्बलस्तस्यानुभवेत् । कोऽसौ ? निबन्धः । किंविशिष्टो निबन्धः अनवधिः न विद्यतेऽवधिः परिमाणं यस्य तस्माद्बलवत उपचारः कर्तव्यः । तथा च गुरुः—

> सीमाधिपे बलाढ्ये तु यो न यच्छति किंचन ।
> व्याजं कृत्वा स तस्याथ मर्यादाहीनं समाचरेत् ॥ १ ॥

कृतसंघातविघातो [illegible] तदाह—

कृतसंघातविघातोऽरिभिर्विशीर्णयूथो गज इव कस्य न भवति साध्यः ॥ ३४ ॥

टीका—यो [illegible] कृतसंघातविघातः [illegible] शत्रुभिः कस्य साध्यो वशो न भवति, अपि तु नीचानामपि साध्यः

भवति, वनगज इवारण्यहस्तीव। किंविशिष्टो वनगजः? विशीर्णयूथो भ्रष्टयूथ एकाकीत्यर्थः। तथा च नारदः—

उच्चाटितोऽरिभी राजा परदेशसमागतः।
वनहस्तीव साध्यः स्यात्परिग्रहः विवर्जितः॥ १॥

अथ जलव्यालदर्शनेन विनाशपरिग्रहभूतस्य यद्भवति तदाह—

विनिःस्रावितजले सरसि विषमोऽपि ग्राहो जलव्यालवत्॥ ३५॥

टीका—यथा विनिःस्रावितजले निःसारितोदके सरसि हृदे पुष्टोऽपि ग्राहो जलचरविशेषो जलव्यालसदृशो जलसर्पतुल्यो निर्विषो भवति तथा राजापि शून्यराष्ट्रकृतो गतदर्पो भवति। तथा च रैभ्यः—

सरसः सलिले नष्टे यथा ग्राहस्तुलां व्रजेत्।
जलसर्पस्य तद्वच्च स्थानहीनो नृपो भवेत्॥ १॥

अथ भूयोऽपि सिंहदृष्टान्तद्वारेण स्थानभ्रष्टस्य नृपस्य स्वरूपमाह—

वनविनिर्गतः सिंहोऽपि शृगालायते॥ ३६॥

टीका—यदा वनान्निर्गच्छति सिंहस्तदा शृगालायते शृगालसमो नष्टवीर्यो भवति तदा राजा यदा स्थानभ्रष्टो भवति तदा नष्टवीर्यः स्यात्। तथा च शुक्र—

शृगालतां समभ्येति यथा सिंहो वनच्युतः।
स्थानभ्रष्टो नृपोऽप्येवं लघुतामेति सर्वतः॥ १॥

अथ संघातस्य माहात्म्यमाह—

नास्ति संघातस्य निःसारता किन्न स्खलयति मत्तमपि वारणं क्षुधिततृणसंघातः॥ ३७॥

टीका—नास्ति न विद्यते। काऽसौ? निःसारता दुर्बलत्वं। कस्य? संघातस्य। केन दृष्टान्तेन? यतः किल स्खलयति किल गतिभंगान्वितं

बध्नाति। कं ? मत्तवारणं मदोन्मत्तहस्तिनं। कः ? तृणसंघातस्तृणसमूहः। तथा च विष्णुशर्मा—

> बहूनामप्यसाराणां समवायो बलाधिकः ।
> तृणैरावेष्टितो रज्जुर्यथा नागोऽपि बध्यते ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि संघातमाहात्म्यमाह—

संहतैर्बिसतन्तुभिर्दिग्गजोऽपि नियम्यते ॥ ३८ ॥

टीका—नियम्यते वशीक्रियते। कोऽसौ ? दिग्गजोऽपि दिङ्नागोऽपि। कैः ? बिसतन्तुभिर्मृणालसूत्रैः सूक्ष्मतरैरपि। एवं राजापि बहुपरिवारकापुरुषैर्बहुभिर्युक्तोऽपि बलाढ्येन वशीक्रियतेऽरिभिः। तथा च हारीतः—

> अपि सूक्ष्मतरैर्भृत्यैर्बहुभिर्वंद्यमानयेत् ।
> अपि पर्योत्कटं शत्रुं पद्मसूत्रैर्यथा गजम् ॥ १ ॥

अथ दण्डसाध्यस्य रिपोर्यः सामादीनुपायान् करोति तस्य यद्भवति तदाह—

दण्डसाध्ये रिपावुपायान्तरमग्नावाहुतिप्रदानमिव ॥ ३९ ॥

टीका—यो राजा दण्डसाध्ये युद्धसाध्ये शत्रौ उपायान्तरं करोति। तत्तस्योपायान्तरं किंविशिष्टं ? अग्नौ घृताहुतिप्रदानमिव। यथा वैश्वानरो घृताहुत्या ज्वाला मुञ्चति तथा शत्रुरपि कोपमुद्गिरति। तथा च माघः—

> सामवादाः सकोपस्य तस्य प्रत्युतदीपकाः ।
> प्रतप्तस्येव सहसा सर्पिषस्तोयबिन्दवः ॥ १ ॥

अथौषधव्याजेन यथा शत्रोरुपायान्तरं न क्रियते तदाह—

यन्त्रशस्त्राग्निक्षारप्रतीकारे व्याधौ किं नामान्यौषधं कुर्यात् ॥ ४० ॥

टीका—यदाऽसाध्यो व्याधिर्भवति तत्र वैशम्य (यत्र) शस्त्रविशेषः। शस्त्रमायुधं। . ।

सामर्थ्यं सर्पद्वारेणाह—

उत्पाटितदंष्ट्रो भुजंगो रज्जुरिव ॥ ४१ ॥

टीका—यथा उत्पाटितदंष्ट्रो भुजंगो सर्पो रज्जुरिव भवति तथा शत्रुरपि हतार्थो गतपरिग्रहो भवति। तथा च नारदः—

दंष्ट्राविरहितः सर्पो भग्नशृंगोऽथवा वृषः।
तथा वैरी परिज्ञेयो यस्य नार्थो न सेवकाः ॥ १ ॥

अथ भूयोऽप्यङ्गारव्याजेन गतश्रीकस्य शत्रोः स्वरूपमाह—

प्रतिहतप्रतापोऽङ्गारः संपतितोऽपि किं कुर्यात् ॥ ४२ ॥

टीका—यथाङ्गारः प्रतिहतप्रतापो भस्मविशेषो भवति तदा शरीरोपरिपतितः किं करोति, एवं शत्रुरपि गतश्रीकोऽङ्गारसदृशो भवति।

अथ शत्रोर्मधुरवचनस्य यत्कर्तव्यं तदाह—

विद्विषां चाटुकारं न बहु मन्येत ॥ ४३ ॥

टीका—गतार्थमेतत्।

अथ शत्रोः खड्गव्याजेन मधुरवचनस्य स्वरूपमाह—

जिव्हया लिहन् खड्गो मारयत्येव ॥ ४४ ॥

टीका—खड्गो निस्त्रिंशो जिव्हया धार्यमाणः कोमलयापि मारयत्येव तथा शत्रुरपि मधुरवचनानि वदन् मारयत्येव।

अथ नीतिशास्त्रस्य लक्षणमाह—

तंत्रावापौ नीतिशास्त्रम् ॥ ४५ ॥

टीका—मण्डलपालनाभियोगस्तंत्र अवापश्च नीतिरुच्यते।

तत्र तंत्रलक्षणमाह—

स्वमण्डलपालनाभियोगस्तंत्रम् ॥ ४६ ॥

टीका—यत्स्वमण्डलपरिपालन क्रियते तत्तंत्रं यतः स्नेहेन हस्त्यश्वादिकं तत्र भवति। तथा—

परमण्डलावाप्त्यभियोगोऽवापः ॥ ४७ ॥

टीका—लभ्यते । आभ्यां संयोगेन नीतिशास्त्रं कथ्यते । तथा च शुक्रः—

> स्वमण्डलस्य रक्षायै यत्तंत्रं परिकीर्तितं ।
> परदेशस्य सम्प्राप्त्या अवापो नयलक्षणम् ॥ १ ॥

अथ विजिगीषोः स्वरूपमाह—

बहुनेको न गृह्णीयात् मदर्पोपि सर्पो व्यापाद्यत एव पिपीलिकाभिः ॥ ४८ ॥

टीका—न गृह्णीयात् न योधयेत् । कोसौ ? एकः । कान् ? बहून् । केन दृष्टान्तेन ? यतः सदर्पोऽपि सर्पो व्यापाद्यते एव पिपीलिकाभिः । तथा च नारदः—

> एकाकिना न योद्धव्यं बहुभिः सह दुर्बलैः ।
> वीर्याढ्योऽपि हन्येत यथा सर्पः पिपीलिकैः ॥ १ ॥

अशोधितायां परभूमौ न प्रविशेन्निर्गच्छेद्वा ॥ ४९ ॥

टीका—गतार्थमेतत् ।

अथ विग्रहकाले भूभुजा यत्कर्तव्यं तदाह—

विग्रहकाले परस्मादागतं न किंचिदपि गृह्णीयात् गृहीत्वा न संवासयेदन्यत्र तद्दायादेभ्यः. श्रूयते हि निजस्वामिना सह कूटकलहं विधायावाप्तविश्वासः कृकलासो नामानीकपतिरात्मविपक्षं विरूपाक्षं जघानेति ॥ ५० ॥

टीका—एतद्वृत्तान्तं द्वात्रिंशत्यामपि बृहत्कथायां ज्ञातव्यः ।

अथ भूभुजा भयादपि यत्कर्तव्यं तदाह—

बलमपीडयन्परानभिषेणयेत् ॥ ५१ ॥

टीका—आत्मीयं बलमपीडयन् मार्गादिषु कुर्वन् परान् शत्रून् अभिषेणयेत् सेनया । सह । तद्देशं विग्रहं कृत्वा यायात् ।

अथ भूभुजा शत्रूणामुपरि गच्छता यत्र कर्तव्यं तदाह—

टीका—तप्तलोहं यद्भवति तत्तप्तेन लोहेन सह सन्धिं गच्छति तथा द्वाभ्यामपि भूपाभ्यां कुपिताभ्यां सधानं भवति। तथा च शुक्रः—

> द्वाभ्यामपि हि तप्ताभ्यां लोहाभ्यां च यथा भवेत्।
> भूमिपानां च विज्ञेयस्तथा सन्धिः परस्परं ॥ १ ॥

अथापराद्धस्य शत्रोर्यत्कर्तव्यं तदाह—

तेजो हि सन्धाकारणं नापराधस्य क्षान्तिरुपेक्षा वा ॥५९॥

टीका—सापराधस्य शत्रोरुपरि क्षान्तिर्न कर्तव्या, उपेक्षा वा न कर्तव्या। गतार्थमेतत्।

अथ यादृशो राजा यादृशेन विग्रहं करोति तमाह—

उपचीयमानो घटेनेवाश्मा हीनेन विग्रहं कुर्यात् ॥ ६० ॥

टीका—विग्रहं कुर्यात्। कोऽसौ? विजिगीषुः। किंविशिष्टः? उपचीयमानः शक्तियुक्तः। तेनापि सह युद्धं कुर्यात् घटेनापि कुम्भेनापि, कोऽसौ? अश्मा पाषाणः लघुरपि किल गुरुर्भवति। अश्मना पाषाणेन लघुनापि शक्तेः सकाशाद्भिद्यते। तथा राजाप्युपचीयमानः सन् गुरुमपि शत्रुं व्यापादनसमर्थः। तथा च जैमिनिः—

> यदि स्याच्छक्तिसंयुक्तो लघुः शत्रोश्च भूपतिः।
> तदा हन्ति परं शत्रुं यदि स्याद्दन्तिपुष्कलम् ॥ १ ॥

अथ विजिगीषोर्लक्षणमाह —

दैवानुलोम्यं पुण्यपुरुषोपचयोऽप्रतिपक्षता च विजिगीषोरुदयः ॥ ६१ ॥

टीका—यद्येतानि लक्षणानि विजिगीषोः सन्ति तदास्य स्यादभ्युदयः। प्रथमं तावद्दैवानुलोम्यं दैवं प्राक्तनं कर्म तस्यानुलोम्यं प्राञ्जलता। तथा पुण्यपुरुषोपचयः उत्तमपुरुषप्राप्तिः। तथाप्रतिपक्षता [illegible] वादिनः। तथा च गुरुः—

यदि स्यात्प्राप्नलं कर्म प्राप्तिर्योग्यनृणां तथा ।
तथा चाप्रतिपक्षत्वं विजिगीषोरिमे गुणाः ॥ १ ॥

अथ येन सह सन्धिः कार्यस्तमाह—

पराक्रमकर्कशः प्रवीरानीकश्चेद्धीनः सन्धाय साधूपचरितव्यः ॥ ६२ ॥

टीका—यदा पराक्रमकर्कशः शौर्यनिष्ठुरः शत्रुर्भवति । तथा प्रवीरानिकश्च यदा भवति । एवमुपचरितव्य उपचारेण संयुक्तः कार्यः । तथा च शुक्रः—

यदा स्याद्वीर्यवान् शत्रुः श्रेष्ठसैन्यसमन्वितः ।
आत्मानं बलहीनं च तदा तस्योपचर्यते ॥ १ ॥

अथ यादृशं तेजः पराक्रमाढय भवति तदाह—

दुःखामर्षजं तेजो विक्रमयति ॥ ६३ ॥

टीका—.. . ...

तथा च—

दुःखामर्षोद्भवं तेजो यत्पुंसां सम्प्रजायते ।
तच्छत्रुं समरे हत्वा ततश्चैव निवर्तते ॥ १ ॥

अथावार्यो वीर्यवेगो यथा भवति तथाह—

स्वजीविते हि रोगस्यावार्यो भवति वीर्यवेगः ॥ ६४ ॥

टीका—यस्य पुरुषस्य जीविते रोगो भवति प्रभूतकाले जीवितव्ये वाञ्छा भवति तस्यावार्यस्य असयतावार्य (?) वीर्यवेगो भवति न चिरं जीवितु वाञ्छमानस्य । तथा च नारद·—

१ दु खजनितादामर्षात् जात तेज विकम कारयति अतः प्रवीरानिकः शत्रुः कदाचिद्धीन स्यात्र तेन सह निबन्धेन युद्ध कार्यं अपि तु सन्धिरेव कर्तव्या इत्यर्थः व्याख्यास्य छिन्ना " दु'खामर्षजं तेजो " इयन्मात्र एव पाठः पुस्तकेऽवशिष्टं । मुद्रितपुस्तकात्सयोजित टिप्पण च ।

न तेषां जायते धैर्यं जीवितव्यस्य वाञ्छका ।
न मृत्योर्वै भयं यस्तु जेऽप्यहो ? म्युत्रैवाभिपता ॥ १ ॥

अथाल्पस्य बलवता सह युद्धमानस्य यथा जयो भवति पुनस्तथाह—

लघुरपि सिंहशावो हन्त्येव दन्तिनम् ॥ ६५ ॥

टीका—सिंहशावो मृगराजशिशुर्लघुरपि दन्तिनं विनाशयत्येव । तथा च जैमिनिः—

यद्यपि स्याल्लघुः सिंहस्तथापि द्विपमाहवे ।
एवं राजापि धीरोऽत्र महारिं हन्ति चेल्लघुः ॥ १ ॥

अथ शत्रौ भग्ने विजिगीषुणा यत्कर्तव्यं तदाह—

नातिभग्नं पीडयेत् ॥ ६६ ॥

टीका—शत्रुर्भग्नो यदा भवति तदा तत्पृष्ठेन न व्रजेत् यतः स बध्यमानः पराक्रमं करोति । तथा च विदुरः—

भग्नः शत्रुर्न गन्तव्यः पृष्ठतो विजिगीषुणा ।
कदाचित्पृष्ठगन्तारं याति मरणं कृतनिश्चयः ॥ १ ॥

अथ बलवत प्रियोपचारः कृतो यथा स्यात्तथाह—

शौर्यैकधनस्योपचारो मनसि तच्छागस्येव पूजा ॥ ६७ ॥

टीका—शौर्यैकधनस्य यो प्रियोपचारोऽभीष्टो सत्कारः । स कि [illegible] यस्य मनसि तच्छागस्य उपयाचित-कृतस्य मनसि [illegible] । तथा च भागुरिः—

उपयाचितदानेन च्छागलापि प्रकल्प्यते ।
चण्डिका यत्पुरा नृप स्वल्पस्यापि तथाऽपरा ॥ १ ॥

आत्मसमेन सह योद्धं न युक्तमिति तदाह—

समस्य समेन सह विग्रहे निश्चितं मरणं जये च सन्देहः, आमं हि पात्रमामेनाभिहतमुभयतः क्षयं करोति ॥ ६८ ॥

प्राणेषु चाभिमानेषु यो जनेषु प्रवर्तते ।
स लोभविजयी प्रोक्तो यः स्वार्थेनैव तुष्यति ॥ १ ॥

अथासुरविजयिनो राज्ञः स्वरूपमाह—

सोऽसुरविजयी यः प्राणार्थमानोपघातेन महीमभिलषति॥७२।

टीका—स राजा असुरविजयी कीर्त्यते । यः किंविशिष्टः? अभिल-षति। कां? महीं । केन? प्राणार्थमानोपघातेन। केषां? लोकानां। तथा च शुक्रः—

अर्थमानोपघातेन यो महीं वाञ्छते नृपः ।
देवारिविजयी प्रोक्तो भूलोकेऽत्र विचक्षणैः ॥ १ ॥

अथासुरविजयिनः संश्रयो यादृक् भवति तदाह—

असुरविजयिनः संश्रयः सूनागारे मृगप्रवेश इव ॥ ७३ ॥

टीका—सूनोऽन्त्यजस्तस्यागारं गृहं तस्मिन् मृगप्रवेश इव। यथाऽ-न्त्यजगृहे प्रविष्टस्य मृगस्य मरणं भवति तथासुरविजयिनं संश्रयमाण-स्येत्यर्थः । तथा च शुक्रः—

असुरविजयिनं भूपं संश्रयेन्मतिवर्जितः ।
स नूनं मृत्युमाप्नोति सूनं प्राप्य मृगो यथा ॥ १ ॥

अथ श्रेष्ठवचनस्य भूपस्य यद्भवति तदाह—

यादृशस्तादृशो वा यायिनः स्थायी बलवान् यदि साधुचरः संचारः ॥ ७४ ॥

टीका—यादृशस्तादृशो वा दुर्बलो हीनकोशो वा स्थायी यायिन [illegible] प्रकाशाद्बलवान् भवति। [illegible] भवति [illegible] तनर्मनिधिर्भवति । तथा [illegible] भवति । तथा च [illegible] —

राज्यं च दुर्बलो वापि स्थायी स्याद्बलवत्तरः ।
सकाशाद्यायिनश्चेत्स्यात्सुसंचारः सुचारक ॥ १ ॥

अथ संग्रामे भीतमशस्त्रं च घ्नतो यद्भवति तदाह—

रणेषु भीतमशस्त्रं च हिंसन् ब्रह्महा भवति ॥ ७५ ॥

टीका—भवति जायते। कोऽसौ ? पुरुषः। किं कुर्वन् ? हिंसन् घ्नन्। कं ? भीतं चकितं। तथाऽशस्त्रं भग्नशस्त्रं शस्त्ररहितं वा। (किंविशिष्टः पुरुषो भवति ? ब्रह्महा)। तथा च जैमिनिः—

> भग्नशस्त्रं तथा त्रस्तं तथास्मीति च वादिनं।
> यो हन्यात्प्रेरितं सवर्ये ब्रह्महत्यां समश्नुते ॥ १ ॥

अथ संग्रामगतेषु यायिषु योऽनुष्ठेयं तदाह—

संग्रामभूतेषु यायिषु सत्कृत्य विसर्गः ॥ ७६ ॥

टीका— संग्रामभूतेषु यायिषु वस्त्रादिभिः पूजां कृत्वा विसर्गो मोक्षणं [illegible] । तथा च भारद्वाजः—

> संग्रामे वैरिणो ये च यायिनः स्थायिनो धृताः।
> [illegible] शास्त्रधर्मेण पूजिताः ॥ १ ॥

[illegible] तदाह—

स्थायिषु संसर्गः सेनापत्याप्तः ॥ ७७ ॥

टीका— स्थायिना [illegible] यायिभिः सह योऽसौ संसर्गो [illegible] सेनापत्यागेन भवति नान्यथे (?) कार्यः।

> [illegible] स्थायिना [illegible]।
> [illegible] नान्यथैव तु ॥ १ ॥

[illegible] भवति तदाह—

[illegible] प्राणिनामभयतो वहति [illegible] [illegible] गृह्य [illegible] ॥ ७८ ॥

[illegible] पुढिसमा

[illegible]

[illegible] पुरुष

र्दं न भवति प्रत्युत तस्य (मुख्यतैव) मतिनद्या द्वितीयं प्रोक्तं
स्रोतः धर्मलक्षणं तद्दुर्लभं कृच्छ्रेण यदि लभ्यते इति। तथा च गुरुः—

मतिर्नाम नदी ख्याता पापधर्मोद्भवा नृणां।
द्विस्रोतः प्रथमं तस्याः पापो धर्मस्तथापरं ॥ १ ॥

अथ महतां वचनस्य माहात्म्यमाह—

सत्येनापि शप्तव्यं महतामभयप्रदानवचनमेव शपथः ॥७९॥

टीका—किल सत्यः शपथः कार्यो विश्वासविषये शत्रूणां। महामुत्तमपुरुषाणामभयवचनं यत् स एव शपथः। तथा च शुक्रः—

उत्तमानां नृपाणां च यद्वाक्यमभयप्रदं।
स एव सत्यः शपथः किमन्यैः शपथैः कृतैः ॥ १ ॥

अथ साधूनामसाधूनां ये व्यवहारास्ते कथ्यन्ते—

सतामसतां च वचनायत्ताः खलु सर्वे व्यवहाराः, स एव सर्वलोकमहनीयो यस्य वचनमन्यमनस्कतयाप्यायातं भवति शासनं ॥ ८० ॥

टीका—सत्पुरुषो निश्चयेन सर्वलोकमहनीयोऽखिलजनपूजनीयो भवति। यस्य पुरुषस्य वचनं वाक्यं अन्यमनस्कतया निजमाहात्म्येनापि आयातं व्याख्यातं विस्तीर्णं यथा शासनं तत्सदृशं भवति। तथा च शुक्रः—

स एव पूज्यो लोकानां यद्वाक्यमपि शासनं।
विस्तीर्णं प्रसिद्धं च लिखितं शासनं यथा ॥ १ ॥

अथ वाचां माहात्म्यमाह—

नयोदिता वाग्वदति सत्या ह्येषा सरस्वती ॥ ८१ ॥

टीका—या वाणी नयोदिता भवति नीत्यात्मिका भवति सा। हि स्फुटं। एषा प्रत्यक्षा। सरस्वती भारती। तथा च गौतमः—

नीत्यात्मिका च या वाणी प्रोच्यते साधुभिर्जनैः।
प्रत्यक्षा भारती ह्येषा विकल्पो नास्ति कश्चन ॥ १ ॥

अथ व्यभिचारिवचनेषु यद्भवति तदाह—

व्यभिचारिवचनेषु नैहिकी पारलौकिकी वा ॥ ८२ ॥

टीका—इह जन्मभवा परलोकोत्पन्ना वा । केषु ? व्यभिचारिवचनेषु व्यभिचरति-अन्यथा भवति वचनं येषां ते व्यभिचारिवचनास्तेषु । वा समुच्चये । तथा च गौतमः—

> न तेषामिह लोकोऽस्ति न परोऽस्ति दुरात्मनां ।
> येषां वचनं प्रोक्तमन्यथा जायते पुनः ॥ १ ॥

अथ विश्वासघातकस्य यद्भवति तदाह—

न विश्वासघातात्परं पातकमस्ति ॥ ८३ ॥

टीका—नास्ति न विद्यते । किं तत् ? पातकं । कीदृशं ? परम् उत्कृष्टम् । कस्मात् ? विश्वासघातात् । तथा चात्रिः—

> विश्वासघातकान्नान्यः परः पातककर्मकृत् ।
> न विद्यते धरापृष्ठे तस्मात्तं दूरतस्त्यजेत् ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि विश्वासघातकस्य यद्भवति तदाह—

विश्वासघातकः सर्वेषामविश्वासं करोति ॥ ८४ ॥

टीका—यः पुमान् विश्वासघातको भवति स सर्वेषां लोकानां [illegible] अविश्वासं करोति-न तस्य कश्चिद्विश्वासं याति । तथा च [illegible]—

> विश्वासघातको यः स्यात्तस्य माता पितापि च ।
> विश्वासं न करोत्येव अन्यलोकेषु का कथा ॥ १ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ ८५ ॥

टीका—[illegible]

यद्सत्यं जने कोशपानं नदिह निश्चितं ।
करोति पुत्रपौत्राणां घातं गोत्रसमुद्भवं ॥ १ ॥

अथ व्यूहरचनायाः कारणान्याह—

बलं बुद्धिर्भूमिर्ग्रहानुलोम्यं परोद्योगश्च प्रत्येकं बहुविकल्पं दण्डमण्डलाभोगा संहतव्यूहरचनाया हेतवः ॥ ८६ ॥

टीका—गतार्थमेतत् ।

अथ व्यूहस्य स्थैर्यकाले प्राह—

साधुरचितोऽपि व्यूहस्तावत्तिष्ठति यावन्न परबलदर्शनं॥८७॥

टीका—व्यूहः शकटादिकस्तावत्तिष्ठति यावत्परबलदर्शनं । किंविशिष्टोऽपि? साधुरचितोऽपि बुद्धिमता रचितोऽपि । परबलदर्शने जाते ये वीर्योत्कटा भवन्ति व्यूहं त्यक्त्वा परसैन्ये प्रवेशं करोति तत. स्यात्संकुलयुद्धम् । तथा च शुक्रः—

व्यूहस्य रचना तावत्तिष्ठति शास्त्रनिर्मिता ।
यावदन्यद्बलं नैव दृष्टिगोचरमागतं ॥ १ ॥

अथ योधैर्यथा योद्धव्यं तदाह—

न हि शास्त्रशिक्षाक्रमेण योद्धव्यं किन्तु परप्रहाराभिप्रायेण ॥ ८८ ॥

टीका—पूर्वं शास्त्रशिक्षा कृता एकाकिना सह । किन्तु परप्रहाराभिप्रायेण योद्धव्यं यथा शत्रवः प्रहारान् प्रयच्छन्ति तथा तेषु वञ्चनं विहाय प्रकाशयुद्धं प्रकटयुद्धं कर्तव्यं । हि स्फुटार्थः । तथा च शुक्रः—

शिक्षाक्रमेण नो युद्धं कर्तव्यं रणसंकुले ।
प्रहारान् प्रेक्ष्य शत्रूणां तदर्हं युद्धमाचरेत् ॥ १ ॥

अथ शत्रौ विदुर्गापूणा यथा ... तदाह—

व्यसनेषु प्रमादेषु वा परपुरे सैन्यप्रेषणमवस्कन्दः ॥ ८९ ॥

यः स्वामिनं परित्यज्य युद्धे याति पराङ्मुखः ।
इहाकीर्तिं परां प्राप्य मृतोऽपि नरकं व्रजेत् ॥ १ ॥

अथ विग्रहार्थं चलितेन भूभुजा यत्कर्तव्यं तदाह—

विग्रहायोच्चलितस्यार्द्धं बलं सर्वदा सन्नद्धमासीत, सेनापतिः प्रयाणमावासं च कुर्वीत चतुर्दिशमनीकान्यदूरेण संचरेयुस्तिष्ठेयुश्च

टीका—विग्रहाय युद्धाय उच्चलितस्य राज्ञः सेनाध्यक्षेणार्द्धं बलमर्वं सैन्यं सन्नद्धं कार्यं प्रयाणं यदा भवति। तथा च संन्यावासं समुद्यतस्य चतुर्दिशमनीकानि सैन्यानि अरेः (आरात्) समीपं संचरेयुः परिभ्रमणं कुर्युः तथा तिष्ठेयुस्तिष्ठन्ति स्म। यतः प्रयाणसमये समर्थोऽपि राजवर्गो व्याकुलो भवति शूराः परालम्बं मत्वा प्रहरन्ति। तथा च शुक्रः—

परभूमिप्रतिष्ठानां नृपतीनां शुभं भवेत् ।
आवासे च प्रयाणे च यतः शत्रुः परीक्ष्यते ॥ १ ॥

अथ प्रणिधीना स्वरूपमाह—

धूमाग्निरजोविषाणध्वनिव्याजेनाटविकाः प्रणधयः परबलान्यागच्छन्ति निवेदयेयुः ॥ ९७ ॥

टीका—निवेदयेयुः परबलान्यागच्छन्ति शत्रुसैन्यान्यायान्ति। केन कृत्वा ? धूमाग्निरजोविषाणध्वनिव्याजेन। आगच्छति परसैन्ये दूरस्थिते स्वामिनि धूम कुर्युः, अग्निं वा ज्वालयन्ति, रजो वा दर्शयन्ति, विषाणं माहिषं शृंगं वा वादयन्ति। तथा च गुरुः—

प्रभो (भौ) दूरस्थितो (ते) वैरी यदागच्छति सन्निधौ ।
धूमादिभिर्निवेद्यः स चरैश्चारण्यसंभवैः ॥ १ ॥

अथ भूमिगतेन भूभुजा यथा स्थानं देयं तस्य स्वरूपमाह—

पुरुषप्रमाणोत्सेधमबहुजनविनिवेशनाचरणापसरणयुक्तमग्रतो महामण्डपावकाशं च तदंगमध्यास्य सर्वदास्थानं दद्यात् ॥९८॥

टीका—दद्यात्। किं तत् ? आस्थानं सभागृहं । किंविशिष्टं ? पुरुषोत्सेधं पुरुषप्रमाणोत्सेधं । पुनरपि किंविशिष्टं ? अबहुजनं स्तोकजनं, (तस्य) निवेशनं प्रवेशनं, आचरणं परिभ्रमणं, अपसरणं निर्गमयुक्तं भवति । तत्र स्थानगृहे स्तोकाः प्रविशन्ति, परिभ्रमन्ति, गच्छन्तीति । पुनरपि कथंभूतं ? यदग्रतो मण्डपावकाशं मण्डपप्रदेशं च, तदंगमध्यास्य स्थानं दद्यात् ।

अथ सर्वसाधारणस्थानेन दत्तेन यद्भवति तदाह—

सर्वसाधारणभूमिकं तिष्ठतो नास्ति शरीररक्षा ॥ ९९ ॥

टीका—सर्वजनसाधारणं सर्वजनगम्यमास्थानं वितन्वतो ददतः शरीररक्षा नास्ति न भवति, घातकानां पातात् । तथा च शुक्रः—

> परदेशं गतो यः स्यात्सर्वसाधारणं नृपः ।
> आस्थानं कुरुते मूढो घातकैः स निहन्यते ॥ १ ॥

अथ परभूमिप्रविष्टेन भूभुजा परिभ्रमणं यथा कार्यं तदाह—

भूचरो दोलाचरस्तुरंगचरो वा न कदाचित् परभूमौ प्रविशेत् ॥ १०० ॥

टीका—न प्रविशेत्र [illegible] । [illegible] । [illegible] । कि-विशिष्टः [illegible] । [illegible] । तथा [illegible]

> परभूमिं प्रविष्टो यः [illegible] परिभ्रमन् ।
> इह [illegible] ॥ १ ॥

अथ [illegible]

केचिदं [illegible] न प्रवर्तन्ति [illegible] ।

१ [illegible]

टीका—(न प्रभवन्ति के ? क्षुद्रोपद्रवाः) । कस्य ? राज्ञः । क ? अध्यासीने आरोहणे । कं ? करिणं हस्तिनं, जपाणं वाहनविशेषं । तथा च भागुरिः—

परभूमौ महीपालः करिणं यः समाश्रितः ।
व्रजन् जंपणमध्यास्य तस्य कुर्वन्ति किं परे ॥ १ ॥

इति युद्धसमुद्देशः

३१ विवाह-समुद्देशः ।

अथ विवाहसमुद्देशो व्याख्यायते । तत्रादावेव पुंसो व्यवहार समयमाह—

द्वादशवर्षा स्त्री षोडशवर्षः पुमान् प्राप्तव्यवहारौ भवतः ॥ १ ॥

टीका—अत्र व्यवहारशब्देन सुरतोपचारः कथ्यते । कस्मिन् ? यदा स्त्री द्वादशवर्षा भवति तथा पुरुषः षोडशवार्षिकश्च तदा तयोर्व्यवहारः धर्मोऽनुरागाय भवति । तथा च राजपुत्रः—

यदा द्वादशवर्षा स्यान्नारी षोडशवार्षिकः ।
पुरुषः स्यात्तदा रंगस्ताभ्यां मैथुनजः परः ॥ १ ॥

अथ स्त्रीपुरुषयोर्यथा व्यवहारः कुलं शुद्धीकरोति तदाह—

विवाहपूर्वो व्यवहारश्चातुर्वर्ण्यं कुलीनयति ॥ २ ॥

टीका—कुलीनयति सन्तानं कुलीनं [illegible] । विवाहेति । परिणयनं । विशिष्टा [illegible] भवति, अनुलोम [illegible] सन्तानं भवति [illegible] इति । तथा च श्रीमान्—

सुवर्णो [illegible]
तस्मात् [illegible]

अथ विवाहस्य लक्षणमाह—

युक्तितो वरणविधानमग्निदेवद्विजसाक्षिकं च पाणिग्रहणं विवाहः ॥ ३ ॥

टीका—एतद्गुणविशिष्टं यत्पाणिग्रहणं हस्तग्रहणं स विवाह उच्यते युक्तितो वरणविधानं, अग्निदेवद्विजसाक्षिकं च यत् कुलक्रमेण कन्याया वैरवरणं संप्रदानं विधानं भवति। किंविशिष्टं? अग्निदेवद्विजसाक्षिकं प्रत्यक्ष। तथा च भारद्वाजः—

वरणं युक्तितो यत्र वह्निब्राह्मणसाक्षिकं।
विवाहः प्रोच्यते शुद्धो योऽन्यस्य स्याच्च विप्लवः ॥ १ ॥

अथाष्टविधस्य विवाहस्य लक्षणमाह—

ब्राह्म्यो दैवस्तथैवार्षःप्राजापत्यस्तथापरः।
गन्धर्वश्चासुरश्चैव पैशाचो राक्षसस्तथा ॥ १ ॥

अथ ब्राह्मयविवाहस्य लक्षणमाह—

स ब्राह्मयो विवाहो यत्र वरायालङ्कृत्य कन्या प्रदीयते ॥ ४ ॥

अथ दैवविवाहस्य लक्षणमाह—

स दैवो विवाहो यत्र यज्ञार्थमृत्विजः कन्याप्रदानमेव दक्षिणा ॥ ५ ॥

तथा च गुरुः—

कृत्वा यज्ञविधानं तु यो ददाति च ऋत्विजः।
समाप्तौ दक्षिणां कन्यां दैवं वैवाहिकं हि तत् ॥ १ ॥

अथार्षलक्षणमाह—

गोमिथुनपुरःसरं कन्यादानादार्षः ॥ ६ ॥

१ मुद्रितमूलपुस्तके लिखितमूलपुस्तके च नैष श्लोकः। २ स ब्राह्मयो विवाहो, एतावन्मात्र एव पाठोऽस्मादग्रेतनः पाठस्तु च्छिन्नः स च मूलपुस्तकद्वयासंयोजितः। ३ कल्पितेयमवतरणिका। ४ " स दैवो विवाहो " इति पर्यंतः पाठो मूल पुस्तकद्वयासंयोजितः। ५ गोभूमिसुवर्णपुरःसरमिति पाठान्तरं लिखितमूलपुस्तके।

कन्यां दत्वा पुनर्दद्याद्यत्र गोमिथुनं परं ।
वराय दीयते सोऽत्र विवाहश्चार्षसंज्ञितः ॥ १ ॥

अथ प्राजापत्यस्य लक्षणमाह—

[1]विनियोगेन कन्याप्रदानात्प्राजापत्यः ॥ ७ ॥

तथा च गुरुः—

धनिनो धनिनं यत्र विषये कन्यकामिह ।
सन्तानाय स विज्ञेयः प्राजापत्यो मनीषिभिः ॥ १ ॥

एते चत्वारो धर्म्या विवाहाः ॥ ८ ॥

अथ गान्धर्वस्य लक्षणमाह—

मातुः पितुर्बन्धूनां चाप्रामाण्यात्परस्परानुरागेण मिथःसमवायाद्गान्धर्वः ॥ ९ ॥

तथा च गुरुः—

पितरौ समतिक्रम्य यत्कन्या भजते पतिं ।
सानुरागा सरंगं च स गान्धर्वं इति स्मृतः ॥ १ ॥

अथासुरविवाहस्य स्वरूपमाह—

पणबन्धेन कन्याप्रदानादासुरः ॥ १० ॥

तथा च गुरुः—

मूल्यं सारं गृहीत्वा च पिता कन्यां च लोभतः ।
सुरूपामथवृद्धाय विवाहश्चासुरो मतः ॥ १ ॥

अथ पैशाचस्य लक्षणमाह—

सुप्तप्रमत्तकन्यादानात्पैशाचः ॥ ११ ॥

तथा च गुरुः—

सुप्तां वाथ प्रमत्तां वा यो मत्वाथ विवाहयेत् ।
कन्यकां सोऽत्र पैशाचो विवाहः परिकीर्तितः ॥ १ ॥

---

१ सं मव अस्य महानाश्वरय सयमैबारिदााय वि०व० इत्यादि पाठः मूलपुस्तकद्वये । २ अत्र स्थाने [illegible] पाठ पुस्तके ।

अथ राक्षसविवाहस्य स्वरूपमाह—

कन्यायाः प्रसह्यादानाद्राक्षसः ॥ १२ ॥

रुदतां च बन्धुवर्गाणां हठाद्रुरुजनस्य च।
गृह्णाति यो वरात्कन्यां स विवाहस्तु राक्षसः ॥ १ ॥

एते चत्वारोऽधर्म्या अपि नाधर्म्या यद्यस्ति वधूवरयोरनपवादं परस्परस्य भाव्यत्वं ॥ १३ ॥

अथ कन्या यैर्दूषणैर्न विवाह्यते तान्याह—

उन्नतत्वं कनीनयोः, लोमशत्वं जंघयोरमांसलत्वमूर्वोरचारुत्वं कटिनाभिजठरकुचयुगलेषु, शिरालुत्वमशुभसंस्थानत्वं च बाह्वोः, कृष्णत्वं तालुजिह्वाधरहरीतकीषु, विरलविषमभावो दशनेषु, कूपत्वं कपोलयोः, पिंगलत्वमक्ष्णोर्लग्नत्वं पि(चि)ल्लिकयोः, स्थपुटत्वं ललाटे, दुःसन्निवेशत्वं श्रवणयोः, स्थूलकपिलपु (प) रुषभावः केशेषु, अतिदीर्घातिलघुन्यूनाधिकता समकटकुब्जवामनकिराताङ्गत्वं जन्मदेहाभ्यां समानताधिकत्वं चेति कन्यादोषाः सहसा तद्गृहे स्वयमाहूतगतस्य वा व्यक्ता व्याधिमती रुदती पतिघ्नी सुप्ता स्तोकायुष्का बहिर्गता कुलटाऽप्रसन्ना दुःखिता कलहोद्यता परिजनोद्वासिन्यप्रियदर्शना दुर्भगेति नैतां वृणीत कन्याम् ॥ १४ ॥

टीका—गतार्थं ।

अथ कन्यावरयोः शिथिले पाणिग्रहणे भवति तस्य दूषणमाह—

शिथिले पाणिग्रहणे वरः कन्यया परिभूयते ॥ १५ ॥

तथा च नारदः—

१ निरेकै इति अन्य० पाठः । २ मुग्धा इत्यपरः पाठः ।

शिथिलं पाणिग्रहणं स्यात्कन्यावरयोर्यदा ।
परिभूयते तदा भर्ता कान्तया तत्प्रभावतः ॥ १ ॥

अथ वरस्य कन्यामुखमपश्यतो यद्भवति तदाह—

मुखमपश्यतो वरस्यानमीलितलोचना कन्या भवति प्रचण्डा ॥ १६ ॥

टीका—वेदिमध्यगतायाः कन्याया मुखं यदा भर्ता न पश्यति तदा कन्या प्रचण्डा भवति । तथा च जैमिनिः—

मुखं न वीक्षते भर्ता वेदिमध्ये व्यवस्थितः ।
कन्याया वीक्षमाणायाः प्रचण्डा सा भवेत्तदा ॥ १ ॥

अथ शयने कन्या यौः प्रथमदिवसे यदा भर्तुरपमानं करोति तदाह—

सह शयने तूर्ष्णीं भवन् पशुवन्मन्येत ॥ १७ ॥
बलादाक्रान्ता जन्मविद्वेष्यो भवति ॥ १८ ॥
धैर्यचातुर्यायत्तं हि कन्याविस्रम्भणं ॥ १९ ॥
समविभवाभिजनयोरसमगोत्रयोश्च विवाहसम्बन्धः ॥ २० ॥
महतः पितुरैश्वर्यादल्पमवगणयति ॥ २१ ॥
अल्पस्य कन्यापितुर्दौर्बल्यं महता कष्टेन विज्ञायते ॥ २२ ॥
अल्पस्य महता सह संव्यवहारे महान् व्ययोऽल्पश्चायः ॥२३॥
वरं वेश्यायाः परिग्रहो नाविशुद्धकन्याया परिग्रहः ॥ २४
वरं जन्मनाशः कन्यायाः नाकुलीनेष्ववक्षेपः ॥ २५ ॥

आनुलोम्येन चतुस्त्रिद्विवर्णाः कन्याभाजनाः ब्राह्मणक्षत्रियविशः ॥ २८ ॥

१ मुखं पश्यत इत्यन्य पाठ. । २ कन्याया पुस्तके पाठ

मकशक्तिसम्पन्नः सम्यगूहापोहनं युक्तायुक्तविवेकः सम्यगवधारण हृदि स्थापनं तस्य आगमः परिज्ञानं तत्र विषये यासौ शक्तिः समर्थता तया सम्पन्नो युक्त इति। तथा-सप्रज्ञातसमस्तलिपिभाषा.................... वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियविट्छूद्राः तथा आश्रमा ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थयतिलक्षणास्तथा स्वो (परश्च) योऽसौ व्यवहारः तस्य स्थितिर्ज्ञानं यस्य। तथाशुलेखनवाचनसमर्थो यो लेखनामाशु शीघ्रं लिखति तथा वाचनसमर्थे इति सन्धिविग्रहिका गुणाः।

अथ विरक्तजनस्य लिंगान्याह—

कथाव्यवच्छेदो व्याकुलत्वं मुखे वैरस्यमनवेक्षणं स्थानत्यागः साध्वाचरितेऽपि दोषोद्भावनं विज्ञप्ते च मौनमक्षमाकालयापनमदर्शनं वृथाभ्युपगमश्चेति विरक्तलिंगानि ॥ ३ ॥

टीका—कथाविच्छेदः कथाया कथ्यमानायां विच्छेदं करोति न शृणोति। तथा व्याकुलत्वं याति कथां शृण्वन्। तथा मुखे वैरस्यं करोति। तथा अनवेक्षणं वार्तायां कथ्यमानायां सम्मुखं नावलोकयेत्। तथा स्थानत्यागोऽन्यत्रोत्थाय गमनं। साधुचरितेऽपि दोषोद्भावनं दोषसंकीर्तनं करोति विज्ञप्ते च मौनं करोति न प्रत्युत्तरं प्रयच्छति। तथा अक्षमाकालयापनं अक्षमया योऽसौ कालः प्रस्तावस्तस्य यापनं प्रापणं करोति। तथादर्शनं आस्यदर्शनं न प्रयच्छति। तथा वृथाभ्युपगमः मेवाङ्गारेण य कृत न व्यर्थतां नयति तेन रज्यते इति विरक्तजनस्य लिंगानि चिह्नानि ज्ञेयानि।

अथ सानुरागलिंगानि—

दूरादेवेक्षणं, मुखप्रसादः, संप्रश्नेष्वादरः, प्रियेषु वस्तुषु रणं, परोक्षे गुणग्रहणं, तत्परिवारस्य सदानुवृत्तिरित्यनुरक्तलिंगानि ॥ ४ ॥

टीका—दूरादेवेक्षणं दूरादेवागच्छन्तमवलोकयति । तथा मुखप्रसादः मुखप्रसन्नता । तथा संप्रश्नेष्वादरः यदि किंचित्संप्रश्नं करोति तत्सादरं । तथा प्रियेषु वस्तुषु स्मरणं यानि तेन पूर्वं प्रियाण्यभीष्टानि कृतानि तानि स्मरति । तथा परोक्षे गुणग्रहणं यदा समीपे न भवति तदा तद्गुणान् कीर्तयति । तथा तत्परिवारस्यानुवृत्तिः तत्परिवारस्य सदा सर्वकाले अनुवृत्तिविनयवर्तनं करोतीति सानुरागचिन्हानि ।

अथ काव्यगुणा व्याख्यायन्ते—

श्रुतिसुखत्वमपूर्वाविरुद्धार्थातिशययुक्तत्वमुभयालंकारसम्पन्नत्वमन्यूनाधिकवचनत्वमतिव्यक्तान्वयत्वमिति काव्यस्य गुणाः ॥ ५ ॥

टीका—श्रुतिसुखत्वं येन काव्येन श्रुतेन कर्णाभ्यां सुखं भवति । अपूर्वाविरुद्धार्थातिशययुक्तत्वं अपूर्वार्थाः केनापि नोक्ता अकथिता, तथा अविरुद्धा दोषरहितास्तैरतिशययुक्तं यत् । तथोभयालंकारसम्पन्नत्वं अपूर्वार्थानां योऽसावलंकारस्ताभ्यां सम्पन्नत्वं गुणत्वमिति । तथाऽन्यूनाधिकवचनं अन्यूनानि परिपूर्णानि अधिकानि वचनानि काव्यानि यत्र । तथा व्यक्तान्वयत्वं अतिशयेन योऽसावुक्तिः प्रतिबन्धः तेन युक्तं काव्यमिति काव्यगुणाः ।

अथ काव्यदोषा व्याख्यायन्ते—

अतिपरुषवचनविन्यासत्वमनन्वितगतार्थत्वं दुर्बोधानुपपन्नपदोपन्यासमयथार्थयतिविन्यासत्वमभिधानाभिधेयशून्यत्वमिति काव्यस्य दोषाः ॥ ६ ॥

टीका—अतिपरुषाणां कठिनानां [illegible] [illegible] यत्र तत् काव्यं । तथा [illegible] यथा । तथा दुर्बोधानुपपन्न[illegible]

नुपपन्नानि अयोग्यानि यानि पदानि तेषां उपन्यासः करणं यत्र। तथा अयथार्थयतिविन्यासत्वं अयथार्थोऽयुक्तार्थो यतिविन्यासः पदच्छेदन्यासो यत्र। तथाभिधानाभिधेयशून्यत्वं अभिधानशब्देन नाममाला प्रोच्यते तेषु अभिधेयाः कथिता ये शब्दास्तेषां शून्यत्वं तै रहितत्वमपरैरप्यैर्युक्तं तत्सदोषं काव्यं इति काव्यदोषाः।

अथ कविगुणा व्याख्यायन्ते—

वचनकविरर्थकविरुभयकविश्चित्रकविर्वर्णकविर्दुष्करकविररोचकी सतुषाभ्यवहारी चेत्यष्टौ कवयः ॥ ७ ॥

टीका—वचनकविरेकस्तावत् यथा कालिदासवत् ललितवचनैः काव्यं करोति। अन्योऽर्थकविर्यथा भारवी गूढार्थं काव्यं करोति। अन्य उभयकविर्यथा माघो ललितवचनैर्गूढार्थैः काव्यं करोति। अन्यश्चित्रकविः नाणमुत्तत्रं (?) चित्रकाव्यं करोति। अन्यो वर्णकविः परवदक्षराडम्बरेण (?) सानुप्रासं काव्यं चाणिक्यवत् .... अष्टौ कवयः।

अथ कविसंग्रहगुणा व्याख्यायन्ते—

मनःप्रसादः, कलासु कौशलं, सुखेन चतुर्वर्गविषयाव्युत्पत्तिरासंसारं च यश इति कविसंग्रहस्य फलं ॥ ८ ॥

टीका—एकस्तावन्मनःप्रसादो गुणः। तथा कलासु कौशलं कवित्वविषये कला अक्षरलक्षणास्तासु कौशलं। तथा सुखेन चतुर्वर्गविषया व्युत्पत्तिः, चतुर्वर्गशब्देन धर्मार्थकाममोक्षा कथ्यते तेषां विषये निजनिजमार्गप्रदेशास्तेषां सुखेन लीलया व्युत्पत्तेरनेकप्रकारत्वं यस्य कवित्वे दृश्यते। तथा च आसंसारं यशो यावत्संसारस्तावद्व्यासवत् कीर्तिः। एतत्कविसंग्रहस्य कविभवस्य फलमिति। इति कविः संग्रहयति (?)।

अथ गीतगुणा व्याख्यायन्ते—

आलप्तिशुद्धिर्माधुर्यातिशयः प्रयोगसौन्दर्यमतीवमसृणता स्थानकम्पितकुहरितादिभावो रागान्तरसंक्रान्तिः परिगृहीतरागनिर्वाहो हृदयग्राहिता चेति गीतस्य गुणाः ॥ ९ ॥

टीका—एकस्तावत्प्रथममेवालप्तिशुद्धिः, आलप्तिशब्देन षड्ज-ऋषभ-गान्धार-मध्यम-पंचम-धैवत-निषादानां स्वराणां व्यतिरूप्यते । तथा शुद्धिः क्रिया, कथमेतेषां जीवविशेषाणां स्वरे. .. ..
तथा—

मयूरः षड्जमाचष्टे चकोरस्तेतिरर्षभम् ।
अजा वदति गान्धारं क्रौञ्चो वदति मध्यमं ॥ १ ॥
वसन्तकाले रम्यासे पंचमं कोकिलोऽपि च ।
अश्वश्च धैवतं प्राह निषादं कुञ्जरोऽपि च ॥ १ ॥

आलप्तिशुद्धिस्ततः प्रथमं परीक्ष्या । तथा माधुर्यातिशयो [illegible] प्रतिगुणो भवति अतिशयः तथा यत्र प्रयोगसौन्दर्यं प्रयोगः [illegible] ... सौन्दर्यं कोमलता । तथातीव मसृणता [illegible] । तथा-स्थानकम्पितकुहरितादिभाव स्थानशब्देन [illegible] उच्यते तस्य कम्पिते [illegible] तथा कुहरिते संयोजने [illegible] भावः स्वरूप [illegible] रागान्तरसंक्रान्ती [illegible] । परिगृहीतरागनिर्वाहो यत्र [illegible] । तथा हृदयग्राहिता [illegible] तद्गीत प्राकृत [illegible] । तस्य निर्वाह [illegible] [illegible] हृदि [illegible] । गीतस्य [illegible] ।

अथ वादगुणा [illegible]—

समत्वं तालानुयायित्वं [illegible] [illegible]
यतिप्रयोगत्वं श्रुतिसुखावहत्वं [illegible] वादगुणाः ॥ [illegible]

[illegible]

टीका—समत्वं (अ) निष्ठुरत्वमित्यर्थः। तथा तालानुयायित्वं तालः पञ्चविधस्तस्यानुपृष्ठतो यत्तत् तालानुयायित्वं। तथा गेयाभिनेयानुगतत्वं। तथा श्लक्ष्णत्वं वाद्यदोषविहीनं। तथा सुव्यक्तयतिप्रयोगत्वं सुव्यक्ता ये यतयस्त्रयोऽपि नव तत्सुव्यक्तयतिप्रयोगत्वं। तथा श्रुतिसुखावहत्वं कर्णाभ्यां यद्वाद्यमानं सुखं भवति जनयति तच्छ्रुतिसुखावहत्वं वाद्यमिति वाद्यगुणाः कथ्यन्ते।

अथ नृत्यगुणा व्याख्यायन्ते—

दृष्टिहस्तपादक्रियासु समसमायोगः संगीतकानुगतत्वं सुश्लिष्टललिताभिनयाङ्गहारप्रयोगभावो रसभाववृत्तिलावण्यभाव इति नृत्यगुणाः॥ ११॥

टीका—नृत्यविषये भरतेन पञ्चादयः प्रोक्ताः तथाञ्जलिपूर्वकाश्चतुःषष्टिप्रमाणहस्तविषयाः कथिताः, नव अष्टोत्तरशतं पादविक्षेपाणां कथितं। तदेतदुक्तं भवति, दृष्टिहस्तपादानां सममेककाले समायोगो मेलापको गीतवाद्यवशेन यथोचितो यत्र भवति तत्र गीते संगीतकानुगतत्वं संगीतकं कालादिकं यत्पूर्वं दृष्टिहस्तपादपूर्वकं एककालिकं यथोक्तो योऽभिनय उपाध्यायसूचितस्तेन योऽङ्गहारोऽङ्गविक्षेपस्तस्य योऽसौ प्रयोगः समाचरणं तस्य योऽसौ भावः स्फुटीकरणं यत्र नृत्ये। तथा रसभावो लावण्य रसाः शृङ्गाराद्या नव संख्यास्तेषां ये भावास्तेषु यल्लावण्यं भरतेनोक्ता एकाशीतिप्रमाणास्तेषां याऽसौ वृत्तिवर्तनं तेन लावण्याश्रितं यन्नृत्यं तच्छ्रस्यमिति नृत्यगुणाः।

अथ महापुरुषस्य लक्षणमाह—

स खलु महान् यः खल्वार्तो न दुर्वचनं ब्रूते॥ १२॥

टीका—स पुरुषः खलु निश्चयेन महान् महत्त्वमाप्नोति। यः किंविशिष्टः? न ब्रूते। किं तत्? दुर्वचनं कस्यापि सम्मुखं। किंविशिष्टोऽपि? आर्तोऽपि। तथा च गुरुः—

दुर्वाक्यं नैव यो ब्रूयादत्यर्थं कुपितोऽपि सन् ।
स महत्त्वमवाप्नोति समस्ते धरणीतले ॥ १ ॥

अथ गृहस्थस्य दोषमाह—

स किं गृहाश्रमी यत्रागत्यार्थिनो न भवन्ति कृतार्थाः ॥१३॥

टीका—यस्य गृहस्थस्य गृहं प्राप्ताः । के ते ? अर्थिनो याचकाः कृतार्थाः सन्तो न यान्ति किंचिदपि न लभन्ते इति तात्पर्यार्थः । तथा च गुरुः—

तृणानि भूमिरुदकं वाचा चैव तु सूनृता ।
दरिद्रैरपि दातव्यं समागतस्य चार्थिनः ॥ १ ॥

अथ तादात्विकस्य स्वरूपमाह—

ऋणग्रहणेन धर्मः सुखं सेवा वणिज्या च तादात्विकानां नायतिहितवृत्तीनां ॥ १४ ॥

टीका—तादात्विकास्तदुगालोचा तावन्मात्रे वचने भवति वा [illegible] तेषां धर्मः ऋणग्रहणेन कर्तव्याप्यन्याय तथा तेषां सुखं तथा सेवा वणिज्या च भवेत् नान्यत् सुखं ये पुनराय या आयतिकाले हितवृत्तयो भवन्ति न तेषां (?) । तथा च गर्गः—

धर्मकृत्यं ऋणप्राप्त्या सुखं सेवा परं परं ।
तादात्विकविनिर्दिष्टं [illegible] न चापरं ॥ १ ॥

अथ दानविषये [illegible]—

स्वस्य विद्यमानमर्थिभ्यो देयं नाविद्यमानं ॥ १५ ॥

टीका—अर्थिभ्यो याचके[illegible]

[illegible] स्वस्य विद्यमान । यत[illegible]

[illegible] च यतो गर्ग—

अविद्यमानं यो दत्वा[illegible]

[illegible]

[illegible]

नन्वि, गुरुतरप्रयोजनस्य नाशमवलोक्यासत्यमप्युक्तं सत्यमेव नासत्यं ।
तथा च बादरायणः—

तदसत्यमपि नासत्यं यदत्र परिभाष्यते ।
गुरुकार्यस्य हानिं च ज्ञात्वा नीतिरिति स्फुटम् ॥ १ ॥

अथ यथासत्यवादो न भवति तदाह—

प्राणवधे नास्ति कश्चिदसत्यवादः ॥ १९ ॥

टीका—प्राणवधे सम्प्राप्ते न दोषः, असत्यमपि प्राणवधे वक्तव्यं ।
था च व्यासः—

नासत्ययुक्तं वचनं हिनस्ति
न स्त्रीषु राजा न विवाहकाले ।
प्राणात्यये सर्वधनापहारी
पंचानृतान्याहुरपातकानि ॥ १ ॥

अथार्थाय लोको यत्करोति तदाह—

अर्थाय मातरमपि लोको हिनस्ति किं पुनरसत्यं न भाषते ।२०।

टीका—अर्थाय धनार्थं लोको जनो मातरमपि हिनस्ति व्यापादयति।
किं पुनरसत्यं न भाषते तस्मादर्थविषये विश्वासो न कार्य इति । तथा
च शुक्रः

अपि स्याद्यदि मातापि तां हिनस्ति जनोऽधनः ।
किं पुन कोऽपापानाय तस्मादर्थे न विश्वसेत् ॥ १ ॥

अथ दैवायत्ता ये पदार्थास्तानाह—

सत्कलासत्योपासनं हि विवाहकर्म, दैवायत्तस्तु वधूवरयो-निर्वाहः ॥ २१ ॥

टीका—सत्कलासत्य [illegible] तत्कलाक [illegible]
[illegible] मूर्खो धनी । [illegible]
कोपनीय । तथा च विवाहवेन [illegible]

प्राप्नोति सुकुलजोऽप्यकुलजामिति दैवायत्ता तु पुत्रपौत्रसमृद्धिर्भवति, अकाले वा गृहभंगः स्यात् । तथा च गुरुः—

> विद्यापत्यं विवाहश्च दंपत्योश्चाभिता रतिः ।
> पूर्वकर्मानुसारेण सर्वं सम्पद्यते सुखं ॥ १ ॥

अथ रतिकाले पुरुषो यद्वदति तस्य प्रमाणतामाह—

रतिकाले यन्नास्ति कामार्तो यन्न ब्रूते पुमान् न चैतत्प्रमाणं ॥ २२ ॥

टीका—रतिकाले कामार्तः तन्नास्ति यन्न वदति तस्य प्रमाणता नास्ति । न तेनासत्येन सलितो (?) । तस्माद्रतपुरुषेण सत्याद्वतैर्वचनैः सानुरागा भार्या कर्तव्या । तथा च राजपुत्रः—

> नान्यचिन्तां भजेन्नारी पुरुषः कामपंडितः ।
> यतो न दर्शयेद्भावं नैवं गर्भं ददाति च ॥ १ ॥

अथस्त्रीपुरुषयोः प्रीतिप्रमाणमाह—

तावत्स्त्रीपुरुषयोः परस्परं प्रीतिर्यावन्न प्रातिलोम्यं कलहो रतिकैतवं च ॥ २३ ॥

टीका—स्त्रीपुरुषयोस्तावन्नैरन्तर्येण प्रीतिर्भवति यावत्प्रातिलोम्यं वर्णधर्मस्तथाकलहस्तथा रतिकैतव रतिकौटिल्य । तथा च राजपुत्रः—

> ईषत्कलहकौटिल्य दम्पत्योर्जायते यदा ।
> तथा कोशविदेहगस्ताभ्यामेव परस्पर ॥ १ ॥

अथ तादात्विकम्य रणे यद्भवति तदाह—

तादात्विकबलस्य कुतो रणे जयः प्राणार्थः स्त्रीषु कल्याणं वा ॥ २४ ॥

टीका—तादात्विकबलस्य तावन्मात्रसैन्यबलस्य युद्धे विजयो न भवति किमर्थं शत्रुर्विर्गण्यते तस्माद्युद्धकाले प्रभूत सैन्य कर्तव्यमिति । तथा च शुक्रः—

तावन्मात्रो यतो यस्य नान्यत्किंच्यं करोति च ।
शत्रुभिर्हीनसैन्यः स लक्षयित्वा निपात्यते ॥ १ ॥

अथ कृतार्थस्य स्वरूपमाह—

तावत्सर्वः सर्वस्यानुवृत्तिपरो यावन्न भवति कृतार्थः॥२५॥

टीका—तावत्सर्वः सर्वस्यानुनयपरो विनयपरस्तावदेव यावत्कृतार्थो न भवति, आत्मीये प्रयोजने यावन्न सिद्ध्यति प्रयोजनेषु सिद्धेषु क[illegible] [illegible] इव आसीत् । तथा च व्यासः—

सर्वस्य हि कृतार्थस्य मतिरन्या प्रवर्तते ।
तस्मात्तत्र दैवकार्यस्य किमन्यैः पार्थिवैः विदैः ॥ १ ॥

अथाशुभेन पुरुषेण यः प्रतीकारः कर्तव्यस्तमाह—

अशुभस्य कालहरणमेव प्रतीकारः ॥ २६ ॥

टीका—अशुभस्य पदार्थस्याशुभस्यानल्पागमे [illegible] प्रतीकारः [illegible] कालहरणं कालक्षेपणादिभिः पदार्थैरन्यैः [illegible] ॥ तथा च नारदः—

अशुभस्य पदार्थस्य भविष्यस्य प्रदाम्यथं ।
कालातिक्रमणं मुक्त्वा प्रतीकारो न विद्यते ॥ १ ॥

अथ [illegible] पुरुषस्य [illegible] तदाह—

पक्वान्नादिव स्त्रीजनादभिलाषनिवृत्तिरेव प्रयोजने किं तत्र रागविरागाभ्यां ॥ २७ ॥

[illegible]

न रागो न विरागो वा स्त्रीणां कार्यो विचक्षणैः ।
पञ्चाग्निमिव तापस्य शान्तये स्याच्च सर्वदा ॥ १ ॥

अथाधर्मस्यापि पुरुषस्य दृष्टान्तद्वारेण माहात्म्यमाह—

तृणेनापि प्रयोजनमस्ति किं पुनर्न पाणिपादवता मनुष्येण ॥ २८ ॥

टीका—अस्ति विद्यते । किं तत् ? प्रयोजनं । केन ? तृणेनापि निकृष्टेनापि, अथवा यवसेन यदा भोजनावसानं भवति तदा तृणेन मुखशुद्धिर्भवति यदा कर्णकण्डूतिर्भवति तृणेन नश्यति यदा तेनापि प्रयोजनं तदा किं मनुष्येण पाणिपादवता न भवति, अपि तु भवत्येव तस्मादीश्वरेणोत्तमाधममध्यमाः समीपे धार्या नाधमानमुपर्यवज्ञा कर्तव्या । तथा च विष्णुशर्मा—

दन्तस्य निष्कोषणकेन नित्यं
कर्णस्य कण्डूयनकेन चापि ।
तृणेन कार्यं भवतीश्वराणां
किं पादयुक्तेन नरेण न स्यात् ॥ १ ॥

अथ लेखस्य सामान्यदत्तस्य विषये यत्कर्तव्यं तदाह—

न कस्यापि लेखमवमन्येत, लेखप्रधाना हि राजानस्तन्मूलत्वात्सन्धिविग्रहयोः सकलस्य जगद्व्यापारस्य च ॥ २९ ॥

टीका—कस्यापि सामान्यस्यापि भूभुजा लेखो नावमन्तव्यो नावज्ञया द्रष्टव्यः । कस्मात्कारणात् ? लेखप्रधाना हि राजानः हि यस्मात्कारणात् लेखप्रधानो राजानो भवन्ति सामान्योऽपि कश्चित्तल्लिखति येन शत्रुचेष्टितं विज्ञायत इति । तथा तन्मूलत्वाल्लेखमूलत्वात्सन्धिविग्रहयोः सकलस्य जगद्व्यापारस्य । यत्र लेखप्रचारो भवति तत्र सन्धिविग्रहयोर्निश्चयो भवति तथा जगद्व्यापारस्य स्थितिर्ज्ञायते तस्मात्कारणात् कस्यापि लेखो नावमन्तव्यः । तथा च गुरुः—

लेखमुख्यो महीपालो लेखमुख्यं च चेष्टितं ।
दूरस्थस्यापि लेखो हि लेख्याऽतो नावमन्यते ॥ १ ॥

अथ युद्धस्य लक्षणमाह—

पुष्पयुद्धमपि नीतिवेदिनो नेच्छन्ति किं पुनः शस्त्रयुद्धं ॥३०॥

टीका—ये नीतिविदो नीतिज्ञाः [illegible] ते पुष्पयुद्धमपि नेच्छन्ति न वाञ्छन्ति। किं तु पुष्पयुद्धमपि येन नाशो भवति। किं पुनः शस्त्रयुद्धं यत्र प्राणत्यागो भवति। तथा च विदुरः —

पुष्पैरपि न योद्धव्यं किं पुनः निशितैः शरैः ।
उपायपतया? पूर्वं तस्माद्युद्धं समाचरेत् ॥ १ ॥

अथ प्रभोर्लक्षणमाह—

स प्रभुर्यो बहून् बिभर्ति किमर्जुनतरोः फलसम्पदा या न भवति परेषामुपभोग्या ॥ ३१ ॥

टीका—स प्रभुः स्वामी कथ्यते यः [illegible] बहून् बिभर्ति किमर्जुनतरोर्वृक्षविशेषस्य फलसम्पदा प्रभूततरसम्पदा या परेषां भोगयोग्या न भवति। तथा च व्यासः —

स्वल्पवित्तोऽपि यः स्वामी यो बिभर्ति बहून् सदा ।
प्रभूतधनयुक्तोऽपि परपदाप्यनुतस्य च ॥ १ ॥

अथ त्यागिनो लक्षणमाह—

मार्गपादप इव स त्यागी यः सहते सर्वेषां संबाधां ॥ ३२ ॥

टीका—[illegible]

[illegible]

अथ भूपतीनां स्वरूपमाह—

पर्वता इव राजानो दूरतः सुन्दरालोकाः ॥ ३३ ॥

टीका—पर्वता इव राजानः। किंविशिष्टाः ? सुन्दरालोकाः सुन्दरो मनोहर आलोको दर्शनं येषां ते तथा। छत्रचामरहस्त्यश्वरथपादाः पापात्मीयं गम्यते तावद्वा स्थानकठोरवचनैर्भर्त्स्यमाना (?) प्राप्यते यथा पर्वता दूरात्प्रान्ततायाः मनोहरा दृश्यन्ते समीपगतं धवखादिरोहरपाषाणैर्दुरारोहा भवन्ति तस्माद्भूपानां पर्वतानां च समीपगानां च (न) गच्छेत्। तथा च गौतमः—

दुरारोहा हि राजानः पर्वता इव चोन्नताः
दृश्यन्ते दूरतो रम्याः समीपस्थाश्च कष्टदाः ॥ १ ॥

अथ दूरस्थदेशाश्रवणस्वरूपमाह—

वार्तारमणीयः सर्वोऽपि देशः ॥ ३४ ॥

टीका—य कश्चिद्देशः श्रूयते स वार्ताप्रियो यथा कथितः। एवं ज्ञात्वा स्वदेश परित्यज्य परदेशं बहुगुणं श्रुत्वा न गम्यत इति। तथा च रैभ्यः—

दुर्भिक्षाढ्येऽपि दुःस्थेऽपि दूराजसहितोऽपि च।
स्वदेशं च परित्यज्य नान्यस्मिंश्चिच्यु(च्छु)भे व्रजेत् ? ॥ १ ॥

अथ दु.स्थस्य वान्धवरहितस्य परभूमिः समृद्धापि यादृग्भवति तदाह—

अधनस्यावान्धवस्य च जनस्य मनुष्यवत्यपि भूमिर्भवति महाटवी ॥ ३५ ॥

टीका—यो जनोऽधनो भवति तथा बान्धवरहितश्च तस्य मनुष्यवत्यपि प्रभूतमनुष्यापि भूमिर्महाटवी महारण्यसदृशी। तथा च रैभ्यः—

निर्धनस्य मनुष्यस्य वान्धवै रहितस्य च।
प्रभूतैरपि संकीर्णा जनैर्भूमिर्महाटवी ॥ १ ॥

अथ धीमतोऽरण्यमपि राजधानी भवतीति—

धीमतो ह्यरण्यान्यपि राजधानी ॥ ३६ ॥

टीका—.. ।

.... ।

अर्थाभिलषितैः [illegible] मनोऽभिप्रेतैः ॥ १ ॥

अथासन्नविनाशस्य पुरुषस्य स्वरूपमाह—

सर्वस्याप्यासन्नविनाशस्य भवति प्रायेण मतिर्विपर्यस्ता ॥ ३७ ॥

टीका—सर्वस्यापि जनस्य मतिर्भवति प्रायेण विपर्यस्ता विपरीता । किंविशिष्टस्य ? आसन्नविनाशस्य समीपवर्तिमृत्योः । यतोऽभीष्टं [illegible] शत्रुं मन्यते, अन्या अपि सर्वाः क्रिया विपर्यस्ताः करोति [illegible] । [illegible] प्रत्यासन्नमृत्युरिति । तथा च गर्गः —

सर्वेष्वपि हि कार्येषु विपरीतेन वर्तते ।
यदा पुमांस्तदा ज्ञेयं मृत्युना सोऽवलोकितः ॥ १ ॥

अथ पुण्यवतः पुरुषस्य स्वरूपमाह—

पुण्यवतः पुरुषस्य न क्वचिदप्यस्ति दौःस्थ्यं ॥ ३८ ॥

टीका—पुण्यानि पूर्वजन्मकृतानि शुभकर्माणि [illegible] विद्यन्ते यस्य स पुण्यवान् तस्य पुण्यवतः [illegible] न भवति [illegible] । तथा च [illegible]

[illegible]
[illegible] ॥

* * *

दैवानुकूलः कां सम्पदं न करोति विघटयति वा विपदं ॥ ३९ ॥

१ [illegible]

अथ भृत्यापराधे स्वामिनो यद्भवति तदाह—

भृत्यापराधे स्वामिनो दण्डो यदि भृत्यं न मुञ्चति ॥ ४४ ॥

टीका—भृत्यापराधेन कृतेन तत्स्वामिनो दण्डो निपात्यते यदि तं भृत्यं स्वामी न परित्यजति । तथा च गुरुः—

> यः स्वामी न त्यजेद्भृत्यमपराधे कृते सति ।
> तत्तस्य पतितो दण्डो दुष्टभृत्यसमुद्भवः ॥ १ ॥

अथ समुद्रदृष्टान्तेन महत्ताया दूषणमाह—

अलं महत्तया समुद्रस्य यः लघुं शिरसा वहत्यधस्ताच्च नयति गुरुम् ॥ ४५ ॥

टीका—अलं पर्याप्तं । महत्तया माहात्म्येन गुरुत्वेन । कस्य ? समुद्रस्य । यः किं करोति ? लघु पदार्थं शिरसा वहति सम्मानयुक्तान् करोति । तथा गुरूनतिपरिभवस्थाने नियोजयति । तस्य स्वामित्वेनाळं पर्याप्तं न क्रियते इत्यर्थः । तथा च विष्णुशर्मा—

> स्थानेष्वेव नियोज्यन्ते भृत्याश्च निजपुत्रकाः ।
> न हि चूडामणिं पादे कश्चिदेवात्र संन्यसेत् ॥ १ ॥

अथ रतिमंत्राहारकालेषु यत्कर्तव्यं तदाह—

रतिमंत्राहारकालेषु न कमप्युपसेवेत ॥ ४६ ॥

टीका—न उपसेवेत न समीपं गच्छेत् । कमपि ? कतममपि । कस्मिन् काले ? स्त्रीसम्पर्ककाले तथा मन्त्रकाले तथाहारकाले भोजनसमये । रतिकालेऽभीष्टोऽपि [illegible] द्वेष्यत्वं नीयते [illegible] मंत्रे च मंत्रभेदं करोति । आहारकाले यथाहारोऽधिको भवति [illegible] ततस्य [illegible] सम्भाव्यते । तथा च शुक्रः—

> रतिमन्त्राहारविधिं कुर्वाणो नोपगम्यते ।
> [illegible] यतो [illegible] ॥ १ ॥

अथ तिर्यक्षु यथा वर्तितव्यं तदाह—

सुष्ठु परिचितेष्वपि तिर्यक्षु विश्वासं न गच्छेत् ॥ ४७ ॥

टीका—न गच्छेन्न व्रजेत्। किं? विश्वासं। केषु? तिर्यक्षु पशुष्वपि। किंविशिष्टेषु? सुष्ठु अतिशयेन परिचितेष्वपि विश्वासं न गच्छेत्। यतस्तेषामविवेको भवति जनानामहितोऽगुणकारीति। तथा च भद्र-देवः—

> सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः
> मीमांसाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम्।
> छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गलं
> अज्ञानावृतचेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्चां गुणैः॥ १ ॥

अथ मत्तवारणारोहणे यद्भवति तदाह—

मत्तवारणारोहिणो जीवितव्ये सन्देहो निश्चितश्चापायः ॥ ४८ ॥

टीका—मत्तवारणे मत्तहस्तिनि च आरोहणं कुर्वते यस्य जीवितव्ये सन्देहो भवति यदि जीवति तदनुनिश्चितोऽपायः शरीरस्य भवति। तथा च गौतम —

> यो मोहान्मत्तमातङ्गं समारोहति दुर्मतिः।
> तस्य जीवितनाशः स्यादङ्गभङ्गस्तु निश्चितः॥ १ ॥

अथ हये [illegible] तदाह—

अत्यर्थं हयविनोदो ऽङ्गभङ्गमनापाद्य न तिष्ठति ॥ ४९ ॥

तथा च [illegible]

> [illegible]
> [illegible] ॥ १ ॥

अथ [illegible]

[illegible]

तस्य किमसाध्यं नाम यो महामुनिरिव सर्वान्नीनः सर्वक्लेशसहः सर्वत्र सुखशायी च ॥ ५३ ॥

टीका—[illegible] सर्वक्लेशसहः [illegible] । [illegible] सुखशायी [illegible] किमपि [illegible] । स इव [illegible] ।

[illegible] ।
[illegible] ॥ १ ॥

अथ [illegible] —

स्त्रीप्रीतिरिव कस्य नामेयं स्थिरा लक्ष्मीः ॥ ५४ ॥

टीका—लक्ष्मीः कस्य पुरुषस्य स्थिरेयं [illegible] तु न भवति । केव ? स्त्रीप्रीतिरिव ।

यथा... [illegible] ।
[illegible] ॥ १ ॥

अथ [illegible] भवति तदाह—

परपैशुन्योपायेन राज्ञां वल्लभो लोकः ॥ ५५ ॥

टीका—[illegible] भवति, पैशुन्योपायेन भवति परपैशुन्योपायेन [illegible] राज्ञां पुरतः [illegible] भवति । तथा च हारीतः—

पैशुन्यं [illegible] राज्ञा [illegible] वल्लभः ।
[illegible] ॥ १ ॥

अथ [illegible] तदाह—

नीचो महत्त्वमात्मनो मन्यते परस्य कृतेनापवादेन ॥ ५६ ॥

अश्वः शस्त्रं शास्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च।
पुरुषविशेषं लब्ध्वा भवन्ति योग्या अयोग्याश्च ॥ १ ॥

अथ कार्यार्थिना पुरुषेण यत्कर्तव्यं तदाह—

सुचिरस्थायिनं कार्यार्थी वा साधूपचरेत् ॥ ६० ॥

टीका—यः पुरुषः कार्यार्थी भवति स उपचरेत्सेवेत। कं? सुचिरस्थायिनं पुरुषं यस्य कदाचिदनवस्थितिर्न भवति। कथमुपचरेत्? साधु यथा भवत्येवं। तथा यशोऽर्थी यो वा भवति स साधु उपचरेत्। तथा च शुक्रः—

कार्यार्थी वा यशोऽर्थी वा साधु संसेवयेत्स्थिरं।
सर्वात्मना ततः सिद्धिः सर्वदा यत्प्रजायते ॥ १ ॥

अथ स्थितैः सह पुरुषेण यत्कर्तव्यं तदाह—

स्थितैः महार्थोपचारेण व्यवहारं न कुर्यात् ॥ ६१ ॥

टीका—न कुर्यात् न विदधीत। कं? व्यवहारं। कथं? सार्द्धं सह। कैः? स्थितैः प्रमाणपुरुषैः। केन कृत्वा व्यवहारो न कार्यः? अर्थोपचारेण। तथा च गुरुः

महद्भिः सह नो कुर्याद्व्यवहारं सुदुर्धरः।
यतस्य गोचरे तस्य न स्यात्प्राप्त्या महान् व्ययः ॥ १ ॥

अथ सत्पुरुषाणां सेवया यद्भवति तदाह—

सत्पुरुषपुरश्चारितया शुभमशुभं वा कुर्वतो नास्त्यपवादः प्राणव्यापादो वा ॥ ६२ ॥

टीका—सत्पुरुषाणां पुरश्चारितया सेवया विहितया शुभमशुभं वा कुर्वतो पुरुषस्य नापवादो भवति तेषां माहात्म्यात्। तथा प्राणव्यापाद प्राणनाशः तस्मात्सत्पुरुषाः सेवनीयाः। तथा च हारीत—

महापुरुषसंश्रयादामयापेऽपि सुस्थिते।
नापवादो भवेत्पुंसां न च प्राणक्षयस्तथा ॥ १ ॥

टीका—यो नरसेवको भवति नूतनभृत्यो भवति स को नामाऽ न भवति विनीतोऽपि नु सर्वो भवति प्रथमाऽऽगमे स्वामिने स्वकीया भक्तिं प्रकटीकरोति [illegible] विश्वासो न कर्तव्यः। तथा च [illegible]—

> अभिनव[illegible] प्रापुणक[illegible]।
> पुं[illegible] नास्ति ॥ १ ॥

अथ [illegible] तदाह—

यथाप्रतिज्ञं को नामात्र निर्वाहः ॥ ७७ ॥

टीका—[illegible] यथा [illegible] प्रतिज्ञा [illegible]

> प्रतिज्ञा [illegible]।
> [illegible] ॥

अप्राप्ते [illegible] त्यागी ॥ ७८ ॥

[illegible]

प्रासक्रियां कुर्वन्नपि व्रजति । तस्मात् पुरुषेण कार्यार्थिना नीचैराचरणं विधिर्न कार्या । तथा च शुक्रः—

स्वकार्यसिद्धये पुंभिर्नीचमार्गोऽपि संश्रयेत् ।
कूपस्य खनने यद्वत् पुरुषेण जलार्थिना ॥ १ ॥

अथ स्वामिना परित्यक्तस्य सेवकस्य येन निर्वृतिर्भवति तदाह—

स्वामिनोपहतस्य तदाराधनमेव निर्वृतिहेतुः जनन्या कृतविप्रियस्य हि बालस्य जनन्येव भवति जीवितव्याकरणं ॥ ७२ ॥

टीका—स्वामिनोपहतस्य निःसारितस्य भृत्यस्य तदाराधनमेव निर्वृतिहेतुः जीवितव्याकरणं नान्यत् । यथा जनन्या विहितविप्रियस्य कृतापराधस्य बालकस्य सैव माता जीवितव्याकरणं । तस्माद् भृत्येन निःसारितेन न स्वामी त्याज्यः किं त्वाराधनीय इति । तथा च शुक्रः—

निःसारितस्य भृत्यस्य स्वामिनिर्वृतिकारणं ।
यथा कुपितया मात्रा बालस्यापि च सा गतिः ॥ १ ॥

इति प्रकीर्णकसमुद्देशः ।

ग्रन्थकर्तुः प्रशस्तिः ।

इति सकलतार्किकचक्रचूडामणिचुम्बितचरणस्य, पंचपंचाशन्महावादिविजयोपार्जितकीर्तिमन्दाकिनीपवित्रितत्रिभुवनस्य, परमतपश्चरणरत्नोदन्वतः श्रीमन्नेमिदेवभगवतः प्रियशिष्येण वादीन्द्रकालानलश्रीमन्महेन्द्रदेवभट्टारकानुजेन, स्याद्वादाचलसिंहतार्किकचक्रवर्तिवादीभपंचाननवाक्कल्लोलपयोनिधिकविकुलराजप्रभृतिप्रशस्तिप्रशस्तालङ्कारेण, षण्णवतिप्रकरणयुक्तिचिन्तामणिसूत्रमहेन्द्रमातलिसंजल्पयशोधरमहाराजचरितमहाशास्त्रवेधसा श्रीसोमदेवसूरिणा विरचितं (नीतिवाक्यामृतं) समाप्तमिति ।

अल्पेऽनुग्रहधीः समे सुजनता मान्ये महानादरः
सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्रचरिते श्रीसोमदेवे मयि ।
यः स्पर्धेत तथापि दर्पदृढताप्रौढिप्रगाढाग्रह-
स्तस्याखर्वितगर्वपर्वतपविर्मद्वाक्कृतान्तायते ॥ १ ॥
सकलसमयतर्के नाकलङ्कोऽसि वादी
न भवसि समयोक्तौ हंससिद्धान्तदेवः ।
न च वचनविलासे पूज्यपादोऽसि तत्त्वं
वदसि कथमिदानीं सोमदेवेन सार्धम् ॥ २ ॥
दुर्जनाङ्घ्रिपकठोरकुठारस्तर्ककर्कशविचारणसारः ।
सोमदेव इव राजति सूरिर्वादिमनोरथभूरिः ॥ ३ ॥
दर्पान्धबोधबुधसिन्धुरसिंहनादे
वादिद्विपोद्दलनदुर्धरवाग्विवादे ।
श्रीसोमदेवमुनिपे वचनारसाले
वागीश्वरोऽपि पुरतोऽस्ति न वादकाले ॥ ४ ॥

[illegible]

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

पुस्तकदातुः प्रशस्तिः ।

जिनं नत्वा गिरं स्मृत्वा गुरुं नत्वानुरागतः
प्रशस्ति पुस्तकस्याहं दायकस्यास्य कीर्तये ॥ १ ॥

अथ संवत्सरेऽस्मिन् विक्रमादित्यराज्यात् संवत् १५४१ वर्षे मार्गसिर- सुदि ५ शुभदिने श्रीचन्द्रप्रभचैत्यालयविराजमाने श्रीहिसारपेरोजाभिधा- नपत्तने सुलतानबहलोलसाहिराज्यप्रवर्तमाने श्रीमूलसंघे नन्द्याम्नाये सारस्वतगच्छे बलात्कारगच्छे (गणे) श्रीकुन्दकुन्दाचार्यवंशे परवादि- वादकुम्भकुंभस्थलविदारकभट्टारकश्रीपद्मनन्दिदेवाः । तत्पट्टकुवलय- वनविकासनैकचन्द्रभट्टारकश्रीशुभचन्द्रदेवाः । तत्पट्टे पट्(१)र्वच- फचक्रवर्तिविहितपदकमलसेवाभट्टारकश्रीजिनचन्द्रदेवाः । [illegible] द्वाविंशतिमूलगुणरत्नरत्नाकरमंडलाचार्यमुनिश्रीरत्नकीर्तिः, तस्य शिष्यो निष्प्रावरणमूर्तिर्मुनिश्रीविमलकीर्तिः, भट्टारकश्रीजिनचन्द्रान्तेवासी पंडित- श्रीमेहाख्यः । एतदाम्नाये क्षेत्रपालीयगोत्रे खंडेलवालान्वये गुनाम पुरवास्तव्ये जिनशासनप्रभावकसम्यक्त्वव्रत[illegible]नामा, तत्पत्नी [illegible] श्रीखनादिनी साध्वी गर्गानाम्ना. तयोः [illegible] पुत्रा अनेक- तीर्थयात्राभिरामहो [illegible] अर्हद्दिव्य[illegible]चरणारविन्दसेवनेक- [illegible] सं० सुरपतिनाम- [illegible] चर्चरीका सं० [illegible] सं० [illegible] [illegible] घेया । तन्मध्ये संघपति[illegible] [illegible] नादिसद्धर्मधार्या साध्वी [illegible] मार्तंडो श्रीहस्तिनापुरतीर्थयात्रा [illegible] सं०

---

१ [illegible] ।

भीवा—स० वच्छूकौ । सघपतिभीवाल्यजाया देवगुरुशासनरागलग्न-लब्धच्छाया साध्वी मिउंसिरि इति प्रसिद्धिः । तत्नन्दनो यथार्थनामा गुरुदास, तत्कलत्र शीलाद्यनेकगुणपात्रं गुणसिरिनामक, तत्सुतौ चिरंजीविनौ रणमल्लअडूमंज्ञौ, स० वच्छूगेहिनी विनयादिगुणाम्बुजस्नाहिनी वउनिरि इति ख्यातिः, तत्तनुजो जिनचरणकमलनैकरतरूपण स० दारण-दासाढ्र तज्जनी शीलक्षान्तिशान्तिविनयादिगुणैनाभ्यस्ते सरस्वती-रूपा सरस्वतीसञ्ज्ञा । एतेषां मध्ये साध्वी या कमलश्रीस्तया निजगुरु स०—भी रा— वच्छू रुयोन्यायोपार्जितवित्तेन नामनीतिग्रीवामृतकं लिखापितं । पुन पौत्रैनर्थमिनाल्पाय पालनात्मानया प्रदत्तं निजज्ञा-नावरणकर्मक्षयाय ॥ ६ ॥

> ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः ।
> अन्नदानात् सुखी नित्यं निर्व्याधी भेषजाद्भवेत् ॥ १ ॥
> तैलाद्रक्ष्यं जलाद्रक्ष्यं रक्ष्यं शिथिलबन्धनात् ।
> परहस्तगतं रक्षेदेवं वदति पुस्तकम् ॥ २ ॥

शुभं भवतु

नीतिवाक्यामृत-टीकागतोद्धरण-पद्यानां वर्णानुक्रमणिका ।